संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध

डा० देवेन्द्रकुमार
एम० ए०, पी एच० डी०



राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

पहला सस्करण १९६७

मूल्य तेरह रुपये
प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली–६
मुद्रक हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली–६

SANSKRIT NATAKON KE HINDI ANUVAD
BY DR DEVENDRA KUMAR M A PH D 13 00

निवेदन

यह प्रबन्ध जिस शोधकार्य के आधार पर लिखा गया है, वह जुलाई, १९५९ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। इस अध्ययन के निष्कर्ष अब विद्वानों के विचार के लिए प्रस्तुत हैं।

इस ग्रन्थ में अनुवाद की परिभाषा तथा गुण-दोष, अर्थ के स्वरूप, अर्थ-प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं, और भाव, रस तथा छन्द के विषय में भी प्रासंगिक रूप में कुछ विचार रखे गए हैं—ये विचार इस धारणा से रखे गए हैं कि विद्वद्वर्ग इन्हें यथार्थता और अनुभव की कसौटी पर कसेगा।

सौ से अधिक अनूदित नाटकों की सूची प्रबन्ध में दी गई है और इनमें से कुछ की विस्तृत परीक्षा की गई है। पर १९६२ के बाद प्रकाशित सामग्री इसमें समाविष्ट नहीं की जा सकी।

अनूदित रचनाओं का मूल्यांकन केवल अनुवाद-कौशल के आधार पर करना मुझे उचित नहीं प्रतीत हुआ। अन्ततः कोई रचना इसीलिए पढ़ी जाती है कि उसमें पढ़ने योग्य वस्तु है, न कि इसलिए कि वह अनुवाद है। रचना का मूल्य उसकी वह अर्थसामग्री है जिसके लिए हम उसे पढ़ना चाहते हैं। इसलिए अनूदित रचनाओं के प्रभाव का उसी प्रकार अध्ययन होना चाहिए जिस प्रकार मौलिक रचनाओं के प्रभाव का होता है। अन्तिम अध्याय में मैंने इस प्रकार का संक्षिप्त अध्ययन करने का यत्न किया है।

शोधकार्य का आदि तो है, अन्त नहीं। शोधकर्ता को नित्य नई सामग्री या विचार का साक्षात्कार होता रहता है। फिर भी, इस शोधकार्य की पूर्वनिश्चित मंजिल आ जाने पर मैं सबसे पहले परमपिता परमात्मा की कृपा का स्मरण करना चाहता हूँ जो अपनी प्रेरणा द्वारा मानव को श्रेष्ठ कार्यों में लगाता है। इसके बाद मैं उन महनीय पूर्व-गामियों को प्रणाम करता हूँ जिनके ग्रन्थों से कुछ ज्ञानकण लेकर मैं यह प्रबन्ध प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ।

इस कार्य की पूर्ति में जिन महानुभावों का योगदान है, उनमें डा० नगेन्द्र, डा० दशरथ ओझा, डा० विजयेन्द्र स्नातक, हमारे संस्कृत साहित्य के गुरु

पहला संस्करण १९६७

मूल्य तेरह रुपये
प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली–६
मुद्रक हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली–६

SANSKRIT NATAKON KE HINDI ANUVAD
BY DR DEVENDRA KUMAR M A PH D 13 00

निवेदन

यह प्रबन्ध जिस शोधकार्य के आधार पर लिखा गया है, वह जुलाई, १९५९ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। इस अध्ययन के निष्कर्ष अब विद्वानों के विचार के लिए प्रस्तुत हैं।

इस ग्रंथ में अनुवाद की परिभाषा तथा गुण-दोष, अर्थ के स्वरूप, अर्थ-प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं, और भाव, रस तथा छन्द के विषय में भी प्रासंगिक रूप में कुछ विचार रखे गए हैं—ये विचार इस धारणा से रखे गए हैं कि विद्वान् इन्हें यथार्थता और अनुभव की कसौटी पर कसेंगे।

सौ से अधिक अनूदित नाटकों की सूची प्रबन्ध में दी गई है और इनमें से कुछ की विस्तृत परीक्षा की गई है। पर १९६२ के बाद प्रकाशित सामग्री इसमें समाविष्ट नहीं की जा सकी।

अनूदित रचनाओं का मूल्यांकन केवल अनुवाद-कौशल के [illegible] करना मुझे उचित नहीं प्रतीत हुआ। अन्ततः कोई रचना इसीलिए पढ़ी जाती है कि उसमें पढ़ने योग्य वस्तु है, न कि इसलिए कि वह अनुवाद है। [illegible] उसकी वह अर्थसामग्री है जिसके लिए हम उसे पढ़ना चाहते हैं। [illegible] रचनाओं के प्रभाव का उसी प्रकार अध्ययन होना चाहिए [illegible] रचनाओं के प्रभाव का होता है। अन्तिम अध्याय में मैंने इन [illegible] अध्ययन करने का यत्न किया है।

शोधकार्य का आदि तो है, अन्त नहीं। [illegible] विचार का साक्षात्कार होता रहता है। [illegible] मंजिल आ जाने पर मैं सर्वप्रथम [illegible] चाहता हूं जो अपनी प्रेरणा द्वारा [illegible] मैं उन महनीय पूर्वजों का [illegible] लेकर मैं यह प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूं। [illegible]

इस कार्य की पूर्ति में [illegible] डा० दशरथ ओझा, डा० [illegible]

साहित्याचाय प० वागीश्वर विद्यालकार, डा० दशरथ शर्मा और श्री श्याम् स यासी के नाम इस समय मुझे स्मरण आ रहे हैं पर अ य अनेक हितैपियो स भी इस काय म बडी सहायता मिली है।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय (हरिद्वार), हि दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तथा श्री विष्णु प्रभाकर के पुस्तकालयो से अनेक दुलभ ग्र थ और जानकारी प्राप्त करने म जो सहयोग मिला, उसके लिए इन सस्थाओ के अधिकारिया तथा विष्णुजी का मैं बडा आभारी हू।

अ त म उन अनेक विद्वाना और मनीषिया को भी ध यवाद है जिनके विचारा से मैंने लाभ उठाया है पर उनके नाम मैं स्वय नही जानता। यदि मेरे इस प्रबध स मानवचि तन को कुछ गति मिली तो मैं अपने को इन चि तका के ऋण से कुछ अश तक उऋण समझूगा।

ए ७/४७, कृष्णनगर
दिल्ली–३१
विजयादशमी, १६६६

—दवे द्रकुमार

विषय-सूची

भूमिका खड

शोध प्रबध

भूमिका खण्ड

१
अनुवाद का अर्थ, सिद्धान्त, और प्रक्रिया

(१) अनुवाद शब्द और उसका अर्थ
(२) शब्द और अर्थ का स्वरूप
(३) अनुवाद के सिद्धान्त
(४) अनुवाद की प्रक्रिया

हिन्दी साहित्य में संस्कृत नाटकों के जो अनुवाद समाविष्ट हैं उनकी समीक्षा करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अनुवाद का अर्थ क्या है। हम आगे बताएंगे कि एक भाषा के शब्दों में निहित अर्थ को दूसरी भाषा के शब्दों में रखना अनुवाद कहलाता है। तब यह विचार करना आवश्यक हो जाएगा कि शब्द और अर्थ का स्वरूप क्या है। अर्थ का अर्थ ठीक-ठीक समझे बिना न अनुवाद किया जा सकता है और न अनुवाद की समीक्षा ही सम्भव है। अर्थ का ठीक स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर ही हम यह जान सकते हैं कि कौन-सा अनुवाद अच्छा है और किस किस प्रकार के अनुवाद किए गए हैं।

१ अनुवाद शब्द और उसका अर्थ

प्राचीन प्रयोग अनुवाद शब्द का प्रयोग वैदिक और परवर्ती संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है। ऋग्वेद[1] में और मैत्रायणी संहिता कृष्ण यजुर्वेदीया[2] आदि में 'अनुवदति' शब्द आया है। बाद में पाणिनीय अष्टाध्यायी (अनुवादे चरणानाम्)[3] में अनुवाद शब्द मिलता है। न्यायदर्शन (२ ६५) में वाक्य के तीन में से एक भेद को 'अनुवादवाक्य' कहा गया है।

धात्वर्थ भ्वादिगणी वद व्यक्तायां वाचि धातु और चुरादिगणी वद संदेशवचने धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय होकर 'वाद' शब्द बनता है। अनुरूपता, परवर्तिता, आदि अर्थ का आधान करनेवाला 'अनु' उपसर्ग पूर्वस्थ होने पर 'अनुवाद' शब्द सिद्ध होता है। इसीका तत्सम रूप हिन्दी का 'अनुवाद' शब्द है।

अभिधेयार्थ शब्दार्थ चिन्तामणि कोश के अनुसार 'अनुवाद' शब्द 'प्राप्तस्य पुनः कथन', या 'ज्ञातार्थस्य प्रतिपादने', अर्थात् पहले कथित अर्थ के पुनः कथन के लिए प्रयुक्त

१ ? १?, ३ ।
२ ? ?? ६ ।
३ २, ४, ३ ।

होता था।

हिन्दी में अर्थ परिवर्तन हिन्दी में संस्कृत का 'अनुवाद शब्द' वस्तुतः भाषानुवाद का संक्षिप्त रूप है। भाषानुवाद का अर्थ है किसी अन्य भाषा में कही गई बात को बोलचाल में प्रचलित भाषा में कहना'। पहले इसे 'भाषा करना' या 'भाषा में करना' कहा जाता था।

(क) बदौ सिव अवगाहना, अस बंदौ शिवपंथ।
जस प्रसाद भाषा करौं नाटक नाम गिरंथ॥[1]

(ख) प्रबोधचन्द्रोदय के जसवंतसिंह-कृत अनुवाद के अन्त में 'इति महाराजाधिराज महाराज श्री जसवन्तसिहजी कृत प्रबोध नाटक भाषा सम्पूर्ण'।

आधुनिक काल में राजा लक्ष्मणसिंह ने अनुवाद शब्द का और भारतेन्दु ने अनुवाद तथा भाषा-अनुवाद शब्दों का प्रयोग किया है।[2] पर इन दोनों ने उल्था और तर्जुमा शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त किए हैं।[3] इसी अर्थ में अनुवाद शब्द का आज प्रयोग हो रहा है।

सारांश यह कि हिन्दी में अनुवाद शब्द का अर्थ एक भाषा में कही गई बात को दूसरी भाषा में कहना होता है और हिन्दी ने संस्कृत के अनुवाद शब्द के अर्थ में कुछ परिवर्तन करके इसे ग्रहण किया है।

परिभाषा जब हम यह कहते हैं कि एक भाषा[4] में कही गई बात का दूसरी भाषा में कहना अनुवाद कहलाता है तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यहाँ भाषा तथा 'बात' का अर्थ क्या है।

विचार करने से पता चलता है कि यहाँ 'भाषा' का अर्थ शब्द तथा 'बात' का अर्थ 'अर्थ' है। शब्द और 'अर्थ' भाषा के दो पहलू हैं। शब्द जिह्वाजनित कर्णग्राह्य और भौतिक होता है। अर्थ इन्द्रियजनित आत्मग्राह्य और अभौतिक होता है। इस प्रकार अनुवाद की यह परिभाषा होगी

१ महाकवि बनारसीदास समयसार नाटक दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, भिण्ड-ग्वालियर पृष्ठ १५, पद्य १०।

२ भारतेन्दु नाटकावली, भाग २, पृष्ठ ४१४।

३ भारतेन्दु नाटकावली भाग २ पृष्ठ ४५ लक्ष्मणसिंह कृत शकुंतला नाटक, सप्तम संस्करण साहित्यरत्न भण्डार, आगरा २०१२ अन्त में 'जीवन-चरित्र' में पृष्ठ ३ पर उद्धरण।

४ भाषा शब्द के अर्थ भाषा शब्द का प्रयोग प्राय छह अर्थों में किया जाता है

(१) मनुष्य समाज में प्रचलित सार्थक पदसमुदाय जैसे, भाषा विचार विनिमय का साधन है।

(२) किसी एक समुदाय विशेष में प्रचलित पद-समुदाय जैसे, हिन्दी भाषा।

(३) भाषाशैली जैसे प्रेमचन्द की भाषा प्रसाद की भाषा।

(४) शब्द तथा अर्थ जैसे भाषा के दो आधार हैं—भौतिक और मानसिक।

(५) शब्द जैसे, चिड़ियों की भाषा।

(६) बोलचाल में प्रचलित पदसमुदाय, जैसे, भाषानुवाद।

ऊपर दिए गए सूत्र में इसका प्रयोग द्वितीय अर्थ में हुआ है।

"एक भाषा के शब्दों में कहे गए अर्थ को दूसरी भाषा के शब्दों में कहना अनुवाद कहलाता है।" इसे सूत्ररूप में इस प्रकार लिख सकते हैं

मूलभाषा ← अर्थ → अनुवादभाषा

अभिप्राय यह हुआ कि एक भाषा की किसी उक्ति के अर्थ को अक्षुण्ण रखते हुए दूसरी भाषा में उसे प्रकट करना—मूलभाषा के शब्दों के स्थान पर अनुवाद भाषा के शब्द ले आना—ही अनुवाद करने का अर्थ है। जिस अर्थ को अक्षुण्ण बनाए रखना है, उसका अनुवादक को ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए 'अर्थ' और 'शब्द' के स्वरूप पर कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है।

२ अर्थ और शब्द का स्वरूप

अर्थ का स्वरूप चैतन्य या आत्मा मन के द्वारा जगत के द्रव्य आदि विषयों का ग्रहण करता है। आत्मा के इस ग्रहण या ज्ञान को अर्थ कहते हैं।

यह ग्रहण या ज्ञान आत्मा को विषय के हानोपादान, अर्थात प्रमेय वस्तु के त्याग या ग्रहण, में प्रवृत्त करता है। त्याग या ग्रहण में प्रवृत्त करने में समग्र अर्थ में विधि निषेधादिपरक एक प्रधान क्रियार्थ अर्थात प्रधान क्रिया रूप अर्थ, अवश्य रहता है। एक प्रधान क्रियार्थ वाला अर्थ 'वाक्यार्थ' कहलाता है।

वाक्यार्थ[1] ही सदा व्यवहार में आता है और यही अर्थ की इकाई है। 'दुष्यन्त ने कुरंग का पीछा किया' यह सम्पूर्ण अर्थ मिलकर एक अखंड वाक्यार्थ है। अपोद्धार-बुद्ध्या, अर्थात मन की विश्लेषण शक्ति से, हम 'दुष्यन्त ने' आदि पदों के अर्थ, या पदार्थ, को अलग अलग सोचते-समझते हैं परन्तु उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'दुष्यन्त ने' पदार्थ की कोई पृथक सत्ता संभव नहीं। वाक्यार्थ जिन कारकादियुक्त अर्थों का समन्वित रूप होता है, उन्हें 'पदार्थ'[2] कहते हैं।

यह वाक्यार्थ बालक देखकर ग्रहण करता है और उसके साथ बोले गए शब्द समुदाय से उसका समवाय सम्बन्ध समझता है। फिर वह 'घोड़ा लाओ', 'घोड़ा ले जाओ' आदि वाक्य सुनकर अन्वय व्यतिरेक से 'घोड़ा' शब्द और उससे अभिहित पशु का परस्पर सम्बन्ध ग्रहण करता है। शब्द और अभिधेय के सम्बन्ध का यह ज्ञान 'शक्तिग्रह' या 'संकेतग्रह' कहलाता है।

यह शक्तिग्रह धीरे धीरे शब्द (प्रातिपदिक), कारक, धातु लकार आदि के अर्थों के लिए पृथक-पृथक हो जाता है और प्रातिपदिक या विभक्ति की स्वतन्त्र सत्ता न होते हुए भी इनका पृथक शक्तिग्रह होता है।

जिन शब्दों से पदार्थ का शक्तिग्रह होता है, वे शब्द भी पदार्थ के साथ ही आत्मा का विषय होते हैं। आत्मा में लीन शब्द और अर्थ पृथक नहीं होते। जब शब्द बोलकर अर्थ प्रकट करने की इच्छा पैदा होती है तब मूलाधारचक्र में वाणी का 'परा' रूप होता है—

१ २ विस्तृत निरूपण के लिए देखिए भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, काण्ड २।

वहां से वाणी आरम्भ होती है। इसमें—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्र जनयति स्वरम्।[१]

इस अवस्था में शब्द और अर्थ अलग नहीं होते। जब प्राण नाभिचक्र में पहुंचता है, तब आत्मा द्वारा शब्द और अर्थ अलग अलग करने का प्रयत्न होने लगता है। वाणी की यह अवस्था 'पश्यन्ती' अवस्था कही जाती है। इसके बाद हृदय में पहुंचकर शब्द और अर्थ अलग हो जाते हैं और यह वाणी की 'मध्यमा' अवस्था कहलाती है। जब वायु कंठ आदि से होता हुआ जिह्वा से विभिन्न वर्णों में रूपान्तरित हो जाता है तब वह 'वखरी' वाणी कहलाती है। इसी वखरी वाणी को मनुष्य बोलते और सुनते हैं। इसे ही नाद कहते हैं।

श्रोता सबसे पहले वखरी वाणी सुनता है जो नाद रूप में उसकी श्रवणेन्द्रिय पर पहुंचती है फिर वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट की प्रक्रिया से वाक्यग्रहण करता है, उसका वस्तु रूप अर्थग्रहण करता है (मध्यमा), इच्छात्मक भावग्रहण करता है (पश्यन्ती) और संकल्पात्मक रसानुभव करता है (परा)। जो अनुवादक मूल रचना के अर्थ की इस अवस्था तक पहुंच जाता है, वही सफल अनुवादक हो सकता है।

आत्मा की तीन वृत्तियां

आत्मा की वृत्तियों के अनुसार, इस वाक्यार्थ के तीन रूप हो जाते हैं ज्ञानरूप, इच्छारूप और संकल्प (या प्रयत्न) रूप क्योंकि आत्मा की ये तीन ही वृत्तियां हैं— ज्ञान इच्छा और संकल्प (प्रयत्न)।[२] जो वाक्यार्थ ज्ञानरूप होता है उसे 'वस्तु' या 'अलंकार' कहते है, जो इच्छारूप होता है उसे भाव कहते हैं और जो संकल्प (प्रयत्न) रूप होता है उसे रस कहते है।

इस प्रकार यदि किसी वाक्य का आत्मा पर पड़नेवाला प्रभाव ज्ञानवृत्तिरूप है तो उसका वाक्यार्थ वस्तु कहलाता है यदि किसी वाक्य का प्रभाव इच्छावृत्तिरूप है तो उसका वाक्यार्थ भाव कहलाता है और यदि किसी वाक्य का प्रभाव संकल्प (प्रयत्न) वृत्तिरूप है तो उसका वाक्यार्थ रस कहलाता है।

इस प्रकार अनुवादभाषा में मूलभाषा के जिस अर्थ को व्यक्त करना 'अनुवाद' कहलाता है वह वाक्यार्थ होता है और उसके तीन रूप हैं—वस्तु-अलंकार भाव और रस। वस्तु और अलंकार में इतना ही भेद है कि वस्तु के विन्यास-वैचित्र्य को अलंकार कहते हैं।

मनोव्यापार की दृष्टि से वाक्यार्थ

यह वाक्यार्थ या आत्मिक वृत्ति विषयजगत् को प्रत्यक्ष देखने से आत्मा में पैदा

१ पाणिनीय शिक्षा—६, ७।
२ ज्ञानम् वा भवदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृति —अभिनवचित्रमाल्या।

होती है। उसी विषयजगत के वाचक वाक्यों से भी यही वृत्ति पैदा होती है। वाक्यों से यह वृत्ति पैदा होने में, अर्थात् वाक्यार्थ की उपलब्धि में, तीन मनोव्यापार होते हैं जो क्रमशः अभिधा व्यापार, लक्षणा व्यापार, और व्यंजना व्यापार कहलाते हैं।

'अभिधा व्यापार' वह व्यापार है जिससे वाक्य सुनकर संकेतग्रह के अनुसार, वस्तुरूप या अलंकाररूप वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। अर्थ का यह प्रकार मुख्य या 'वाच्य अर्थ' कहलाता है।

'लक्षणा व्यापार' वह व्यापार है, जिससे मुख्य अर्थ के बाधित होने पर अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। 'देश के लिए प्राण देनेवाला मनुष्य ही मनुष्य है'—इस वाक्य में दूसरा 'मनुष्य' शब्द 'प्रशंसनीय' अर्थ का ज्ञान कराता है। अर्थ का यह प्रकार 'लक्ष्यार्थ' कहलाता है।

तीसरा 'व्यंजना व्यापार' तब होता है जब वाच्य अर्थ तथा लक्ष्य अर्थ के बाद कुछ और भी अर्थ उपलब्ध होता है। जैसे, देश के लिए प्राण देनेवाला मनुष्य ही मनुष्य है इस वाक्य में दूसरे 'मनुष्य' शब्द में 'प्रशंसनीयता की अधिकता' व्यंजना व्यापार से उपलब्ध होती है। अर्थ का यह प्रकार 'व्यंग्य अर्थ' कहलाता है।

ये तीन व्यापार जिन शब्दों के अर्थग्रहण में होते हैं, उन्हें क्रमशः 'वाचक', 'लक्षक' और 'व्यंजक' कहा जाता है। इनके वाच्य और लक्ष्य अर्थ तो व्यंजक होते ही हैं, व्यंग्य अर्थ भी व्यंजक होता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनोव्यापार की दृष्टि से तीन प्रकार होते हुए भी अन्तिम प्रभाव या अनुक्रिया की दृष्टि से अर्थ के दो ही प्रकार हैं—वाच्य और व्यंग्य (या प्रतीयमान)। ऊपर दिए गए उदाहरण में यद्यपि लक्षणा व्यापार अवश्य होता है, पर अन्तिम उपलब्धि 'अतिशय प्रशंसनीयता' के ज्ञान के रूप में ही होती है। लक्ष्य अर्थ बीच का एक पड़ाव है, मंजिल नहीं। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यार्थ के दो ही भेद या अंश माने हैं—वाच्य और प्रतीयमान

> योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥
>
> —ध्वन्यालोक १.२

इस प्रकार हमने देखा कि अर्थ का अर्थ 'वाक्यार्थ' होता है, जो वस्तुरूप, अलंकाररूप, भावरूप, और रसरूप होता है। और, वाक्यार्थ की उपलब्धि में जो मनोव्यापार होते हैं उनकी दृष्टि से वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य और व्यंग्य।

वाक्यार्थ की बनावट

ऊपर बताया जा चुका है कि व्यवहार में आनेवाला वाक्यार्थ एक अखंड इकाई होता है। विचार की दृष्टि से विश्लेषण करने पर वाक्यार्थ में दो स्पष्ट भाग हो जाते हैं—एक वह जिसपर प्रधान क्रिया आश्रित होती है, और दूसरी प्रधान क्रिया स्वयं। जिसपर प्रधान क्रिया आश्रित होती है उसे 'सिद्ध' या 'उद्देश्य' या अनुवाद्य कहते हैं। प्रधान क्रिया 'साध्य' या 'विधेय' कहलाती है। 'घोड़े दौड़ रहे हैं' इस वाक्य में 'घोड़े' पद का अर्थ

सिद्ध या उद्देश है, और 'दौड रहे हैं' पद का अर्थ विधेय है।

व्याकरण की दृष्टि से उद्देश का कथन करने के बाद ही विधेय का कथन करना उचित है— अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्'। परन्तु लोकव्यवहार में और लोकव्यवहार के प्रतिबिम्ब रूप साहित्य में यह नियम नहीं चलता। 'जानत हैं सब कोई' (शकुन्तला राजा लक्ष्मणसिंह १ १६) में विधेय 'जानत है' पहले आया है, और उद्देश 'सब' बाद में। यहाँ उद्देश और विधेय का यही क्रम उचित था।

वाक्य या शब्द का स्वरूप

वाक्यार्थ जिस अखंड ध्वनि-समुच्चय में रहता है, उसे वाक्य कहते हैं। वाक्य एक अखंड सत्ता है, पर व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उसे पदों में खंडित करके विचार किया जाता है। वाक्य बनानेवाला पदसमुदाय वह होता है जिसके पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध की योग्यता या सम्भवत्व हो, जिसका एक पद सुनकर श्रोता को दूसरा पद जानने की जिज्ञासा रहे और जिसके पद एक दूसरे के बाद लगातार बोले जाएं। कविराज विश्वनाथ के अनुसार,

वाक्यं स्याद्योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः।

—सा० द०, २ १

अर्थात् योग्यता आकांक्षा और आसत्ति या समीपता से युक्त पदसमुदाय को वाक्य कहते हैं।

'योग्यता' या परस्पर सम्बन्ध का सम्भवत्व ऐसे पदसमुदाय में नहीं होता जैसे, 'यह वृत्त त्रिकोण है' या 'आग से सींचते हैं'। ये पदसमुदाय वाक्य नहीं हैं, क्योंकि पहले उदाहरण में वृत्त और त्रिकोण पदों के अर्थों में परस्पर विशेषण विशेष्य सम्बन्ध सम्भव नहीं, और दूसरे उदाहरण में आग का धर्म, जलाना सिंचाई क्रिया के प्रतिकूल है।

आकांक्षा का अर्थ है परस्पर सम्बद्धता। 'राम शहर से घोड़े पर आया', यह वाक्य है क्योंकि इसमें चारों पद—राम, शहर से घोड़े पर आया—परस्पर सम्बद्ध हैं। 'राम घोड़ा शहर हाथी' यह वाक्य नहीं क्योंकि इसमें पद परस्पर सम्बद्ध नहीं, निरा शब्द हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्।

आसत्ति का अर्थ है समीपता या पदों में काल व्यवधान का अभाव। एक पद बोलकर दूसरा पद यदि इतनी देर बाद बोला जाता है कि पहले पद का ध्यान नहीं रहता, तो वह पदप्रयोग वाक्य नहीं कहलाएगा।

इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध होने की योग्यता वाले परस्पर सम्बद्ध और एक-दूसरे के तुरन्त बाद बोले जा रहे पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं।' अनेक वाक्यों का अन्वित समुदाय 'महावाक्य' कहलाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि चेतन मन या आत्मा संसार के विषयों को वाक्यार्थ रूप में ग्रहण करता है। जिस पदसमुदाय से वाक्यार्थ गृहीत होता है वह वाक्य कहलाता है। यही अर्थ ज्ञानरूप इच्छारूप और संकल्प या प्रयत्नरूप होता है। ज्ञानरूप अर्थ को वस्तु या अलंकार, इच्छारूप अर्थ को भाव और प्रयत्न या संकल्परूप अर्थ को रस कहते हैं। जब

यह कहा जाता है कि मूलभाषा के अर्थ को अक्षुण्ण रखते हुए अनुवादभाषा में उसे अभिव्यक्त करना अनुवाद कहलाता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि मूल रचना के वाच्यार्थ रूप वस्तु, अलंकार, भाव और रस अनुवाद रचना में अक्षुण्ण रहने चाहिए।

३ अनुवाद के सिद्धान्त

वैदिक संहिताओं को विश्व पुस्तकालय की प्राचीनतम रचना माना गया है। उनमें स्थान और जाति के भेद से मनुष्यों में भाषा भेद होने का उल्लेख मिलता है।[1] परस्पर सम्पर्क होने पर, चाहे वह विजयाकांक्षा से प्रेरित युद्ध के प्रसंग में हो, या सम्पत्ति मूलक प्रसंग में हो, विभिन्न जातियों के मनुष्यों को अपनी भाषा से भिन्न भाषा प्राचीनकाल में भी जाननी पड़ती होगी। इसलिए अनुवाद का आरम्भ प्राचीनतम काल में ही मानना चाहिए।

सम्राट अशोक की प्रशस्तियों में स्थानों की भिन्नता के अनुसार कुछ भाषा भेद पाया जाता है। धर्म, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि शास्त्रों के संस्कृत ग्रंथों के चीनी, तिब्बती तथा अरब भाषाओं में हुए अनुवाद इतिहास में प्रसिद्ध हैं। बताया जाता है कि प्रसिद्ध रसायनशास्त्री नागार्जुन ने सैकड़ों वैज्ञानिक संस्कृत ग्रंथों का चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनुवाद किया था। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों के अनुवाद अरबी और यूनानी में भी बड़े पैमाने पर हुए। यहाँ की गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद की पुस्तकें यूनानी भाषा में अनूदित की गईं, और इस प्रकार वे आधुनिक यूरोप को उपलब्ध हो सकीं।

साहित्यिक अनुवादों की परम्परा भी प्राचीन काल से ही चली आती है। बौद्ध काल में संस्कृत के धर्म, नीति आदि के अनेक श्लोक पालि में अनूदित किए गए। 'गाथा सप्तशती' मूलतः प्राकृत रचना थी, जिसका संस्कृत में अनुवाद हुआ। संस्कृत और पालि की कुछ समानार्थक रचनाएँ स्पष्टतः अनुवाद की उदाहरण हैं

> योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
> आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव सुखी भवेत्॥
>
> —महाभारत
>
> सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
> अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥
>
> —धम्मपद, १०३

इसी प्रकार, पालि श्लोकों के समानार्थक श्लोक 'हितोपदेश' और 'मनुस्मृति' में (संस्कृत में) मिलते हैं

(क)

> सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
> अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
>
> —धम्मपद, १०१

[1] जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं० अथर्ववेद, १२।१।४५।

प्राणा यथात्मनाऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधव ॥
—हितोपदेश, १ २

(ख)

सुखकामानि भूतानि यो दडेन विहिंसति।
अत्तना सुखमेसानो पेच्च सो न लभत सुख॥
—धम्मपद, १० ३

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवश्च मृतश्चव न क्वचित्सुखमेधत॥
—मनु० ५ ४५

संस्कृत के धमग्रथा और साहित्यिक रचनाओ का भारत की आधुनिक भाषाओ म अनुवाद बडे पमाने पर होता रहा है। हिंदी मे वेदा के भी अनेक अनुवाद उपलब्ध है। पुराणो और काव्या तथा नाटका के अनुवाद भी बहुत बडी संख्या म मौजूद है और नय अनुवाद आज भी होते रहते हैं। परन्तु इस अनुवाद-सामग्री का कोई एसा शृखलाबद्ध और व्यवस्थित विश्लेषण हमारे सामने नहा है, जिसके आधार पर वज्ञानिक शली मे कुछ सिद्धात निकाल जा सकें। इस दृष्टि से बाइबल के अनुवादा से प्रस्तुत सामग्री और समस्याए कुछ निष्कष निकालने मे हमारी सहायक हो सकती हैं।

आज संसार की सबस अधिक भाषाओ म अनूदित पुस्तक यह यहूदी ईसाई धम ग्रथ बाइबल ही है। इसका अनुवाद दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसापूव स आज तक चल रहा है। उस समय पुरान अहदनामे (ओल्ड टेस्टामट) का मूल हिब्रू स ग्रीक भाषा म अनुवाद हुआ था। इस समय ११०६ भाषाओ और बोलियो म इसका अनुवाद मिलता है जिनमे से २१० म तो दोनो अहदनामो का पूरा अनुवाद है, और २७० अन्य भाषाओ म नय अहदनामे या न्यू टेस्टामट का पूरा अनुवाद मौजूद है। शेष भाषाओ म इस ग्रथ के कुछ अशो का अनुवाद किया गया है। इस प्रकार संसार की ६५ प्रतिशत आबादी की भाषाओ और बोलियो मे इस ग्रथ का अनुवाद मिलता है। परन्तु ये अनुवाद मूलभाषा हिब्रू मे बहुत कम हुए हैं। यूरोप के विविध भाषा भाषी पादरी पथ प्रचारको न अपनी अपनी भाषा म प्राप्त अनुवादो से ही ये अनुवाद किए।[1]

इतनी भाषाओ और बोलियो म बाइबल अनुवाद करते हुए जो अनेक समस्याए और सामग्री सामने आइ उनसे अनुवाद के कुछ मूल सिद्धात बनाए गए हैं।

कुछ व्यावहारिक समस्याए बाइबल धमग्रथ है। इसलिए इसके अनुवादक इसके शब्दो को पवित्र मानकर उनका वाच्य पदाथ अनूदित करने का प्रयत्न करते थे। अनुवादभाषा की प्रकृति और उसके बोलनवालो की संस्कृति क भेद के कारण यह प्रयत्न कई बार बडी उलझनदार स्थिति पदा कर देता था। उदाहरण के लिए अंग्रेजी बाइबल के ही बीट हिज ब्रस्ट (He beat his breast) (लूक १८ १३) कथन का मध्य अफ्रीका

१ यूजीन ए० निडा का लेख—Principles of Translation As Exemplified by Bible Translating ON TRANSLATION

की चौकवे बोली में शब्दानुवाद करें, तो उसका अर्थ मूल से बिलकुल उलटा हो जाएगा। मूल का अर्थ है 'उसने (पश्चात्ताप में) छाती पीट ली', पर चौकवे बोली में 'छाती पीटना' उस अर्थ में आता है, जिसमें हम 'अपनी पीठ ठोकना' कहते हैं। पश्चात्ताप-व्यंजक व्यवहार उस बोली में 'अपना सिर फोड़ना' कहलाता है। हिन्दी में इसे हम 'अपना सिर धुनना' कहते हैं।

फिलिपीन्स की हिलिगेनन तथा कुछ अन्य बोलियों में 'ट्रूली, ट्रूली आई से टु यू' (*Truly, truly, I say to you*) का शब्दानुवाद करें तो ट्रूली शब्द दोहराने के कारण इसका अर्थ 'शायद' होगा। सूडान की नील तटीय बोलियों में संस्कृत 'तेन ग्रामं गतं' की तरह कर्मवाच्य ही प्रयोग होता है, 'वह गाँव गया' जैसा कर्तृवाच्य प्रयोग नहीं चलता।

इन सबसे विचित्र स्थिति 'आगे' और 'पीछे' के कालसूचक प्रयोग में दिखाई देता है। बोलीविया की क्वेचुआ भाषा में भविष्य को 'अपने पीछे' मानते हैं और भूतकाल को 'अपने आगे', क्योंकि भूतकाल देखा जा चुका है जबकि भविष्य को अभी देखना है। हिन्दी में भी बहुत से लोग, शायद पंजाबी के प्रभाव से, 'पीछे' और 'आगे' का ऐसा प्रयोग करते हैं—'आगे तो आप पटना में थे' अर्थात् 'पहले' या 'अतीत काल में'। अंग्रेज़ी में 'पीछे' भूतकाल होता है और 'आगे' भविष्य। साधारणतया यही स्थिति हिन्दी में है। इस प्रकार

१ अनुभाव का भेद (छाती पीटना या सिर धुनना)
२ अर्थपद्धति (शब्द दोहराने का अर्थ)
३ व्याकरणिक रचना (वाच्यभेद)
४ भाषा का मुहावरा और बोलचाल (आगे, पीछे)

जैसी समस्याएं अनुवादक के सामने, विशेषतः शब्दानुवाद का प्रयत्न करते हुए आती हैं। इन समस्याओं को सामने रखकर हम सम्प्रेषण या अर्थ सूचन की दृष्टि से कुछ सिद्धान्त निकाल सकते हैं।

मूल सिद्धान्त

कुछ मूल सिद्धान्त ये हो सकते हैं

१ 'भाषा वाच्य-श्रव्य प्रतीकों या शब्दों का व्यवस्थाबद्ध समुदाय है।

'वाच्य-श्रव्य' कहने का अर्थ यह है कि केवल 'बोलना' भाषा नहीं, बोला हुई बात को श्रोता का अर्थ-सहित ग्रहण करना भी उसका अनिवार्य हिस्सा है। भाषा का लिखित रूप 'बोली-सुनी' भाषा का ही अधूरा प्रतीकात्मक रूप है।

२ प्रतीकों, अर्थात् शब्दों, और उनके अभिधेयों का सम्बन्ध यादृच्छिक है, किसी तर्क पर आधारित नहीं।

जो शब्द नादात्मक समझे जाते हैं, उनके रूप भी अलग अलग भाषाओं में भिन्न होते हैं। भारत का कौआ 'काँव-काँव' करता है, अंग्रेज़ी का 'क्रो क्रो' (crow), हमारा कबूतर 'गुटर-गूं' करता है, अंग्रेज़ी का 'कू-कू' (coo)। जिसे हम 'धप धप' कहते हैं उसे अंग्रेज़ 'ट्रम्प-ट्रम्प' (tramp), मध्य अमरीका के कत्रूभाषी 'कू का' और पश्चिमी अमरीका के मलगासी भाषी 'मिगोडा-गाडोना' कहते हैं। इसका कारण है जातीय संस्कारका अन्तर।

३ किसी भाषा म प्रतीक या शब्द जिस सवेदन और अनुभूति के वाचक हैं उस सवेदन और शब्द का सम्बन्ध भी यादृच्छिक है।

उदाहरण के लिए, अधिकतर अफ्रीकी भाषाओं म रग के वाचक शब्द केवल सफेद, काले और लाल का अर्थ रखते हैं, पर इनकी ही सहायता से वे अरुण के साथ घोड़ा का सूचन कर सकते हैं। मक्सिको की ताराहुमारा भाषा मे रग के वाचक मूल शब्द पाच हैं, और 'नीला' तथा 'हरा' का वाचक एक ही शब्द है। संस्कृत मे 'श्याम', 'नील', 'कृष्ण', हरित को एकार्थक मान लिया जाता है, जबकि हिन्दी मे सावला, नीला, काला, हरा का अलग अलग भेद न करनेवाला आदमी मिलना कठिन है।

इसी प्रकार सम्बन्धी वाचक शब्दों शरीर के अवयवों या वृक्ष-वनस्पतियों के वर्गीकरण आदि मे प्रत्येक भाषा ने अपने-अपने अलग चलन अपना रखे हैं। इसी कारण मूल शब्द या पद के बदले अनुवाद भाषा का शब्द या पद रखकर अनुवाद नही किया जा सकता। भाभी और साली अग्रेजी म सिस्टर इन ला कहलाती हैं पर यह शब्द इनका अर्थभेद नहीं बता सकता।

४ पदों या शब्दों से वाक्यार्थ बताने की पद्धति हर भाषा की अपनी होती है। पदों या शब्दों के क्रम आश्रित शब्द कारकादि की पद्धति की दृष्टि से एक भाषा दूसरी भाषा से बहुत भिन्न हो सकती है।

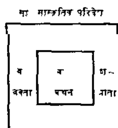
निष्कर्ष यह हुआ कि अनुवाद भाषा म कहा गया कोई भी कथन मूल भाषा के मॉडल या प्रतिरूप के यथावत् तुल्य नही हो सकता। प्रत्येक अनुवाद करते हुए,

१ मूल की कुछ न कुछ वस्तु अर्थात जानकारी, छीज जाती है, २ मूल की वस्तु म कुछ नई वस्तु आ जाती है ३ मूल की जानकारी या अर्थ कुछ विरूपित हो जाता है।

यह विरूपण अनुवाद की प्रक्रिया का अनिवार्य अश है। अनुवाद की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए *सम्प्रेषण या अर्थग्रहण का जातीय भाषिकीय अभिकल्प* यहा प्रस्तुत किया जाता है।

४ अनुवाद की प्रक्रिया

सम्प्रेषण का जातीय भाषिकीय अभिकल्प सम्प्रेषण के प्रक्रम का प्रथम रूप इस अभिकल्प म दिखाया गया है



बाहरी वर्ग सास्कृतिक परिवेश है जिसे सक्षेप म सा कहा जा सकता है। वक्ता व जो कथन क को शब्दों म बाधकर बोलता है। और श्रो श्रोता है जो उस कथन को

सुनकर उसका अर्थ लगाता है। भीतरी वर्ग कथन (क) बाहरी वर्ग अर्थात् सांस्कृतिक परिवेश (सा) का ही एक हिस्सा है क्योंकि यह भाषा का एक अंश है। इसीलिए दोनों की आकृति वर्ग बनाई गई है—एक छोटा है, एक बड़ा।

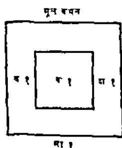
परन्तु सांस्कृतिक परिवेश पर विचार करते हुए काल व्यवधान को भी ध्यान में रखना चाहिए। एक शब्द की जो सांस्कृतिक ध्वनि आज है, वही पहले सदा रही थी, यह नहीं मान लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, आज भारतीय समाज की रुचि पशु हिंसा, विशेषतः गोहत्या, को अत्यधिक घृणित समझती है। पर भवभूति के समय यह स्थिति आज से कुछ भिन्न रही होगी। तभी वे 'संज्ञप्यते वत्सतरी' (महावीरचरित, अंक १) लिख सके। जो काम आज घृणा का व्यंजक है, वह तब आदर का व्यंजक था।

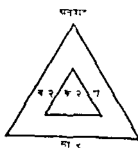
इस प्रकार वक्ता और श्रोता को एक सांस्कृतिक परिवेश में रखकर शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर साथ ही, प्रत्येक वक्ता और श्रोता का अपना पृथक व्यक्तित्व भी होता है। यह व्यक्तित्व उनके अपने अपने जीवन संस्कारों के अनुसार अलग-अलग होता है। वक्ता के कथन को श्रोता अपने जीवन संस्कारों के अनुसार ही समझता या ग्रहण करता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित 'बलियाटिक' शब्द पश्चिमी उत्तर प्रदेश में व्यंजनाशून्य है। यही स्थिति पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रचलित 'शिकारपुरी' या 'भागाव का' शब्दों की पूरब में होगी।

वक्ता तथा श्रोता अपने व्यक्तित्वों को भुलाकर एक-दूसरे के अनुकूल बनने का यत्न किया करते हैं। हमारे दक्षिणभाषी मित्र जब हमसे पूछते हैं 'आप कहां जा रहा हू?' तब हम 'हू' के अर्थ के स्थान पर 'हैं' का अर्थ समझते हैं। इस वक्तृ शब्द प्रक्रिया में भाग लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस अनुकूलन को, जानते हुए करता है ताकि वक्ता और श्रोता के मन में निकटता आए। इस प्रकार यह वक्तृ शब्द प्रक्रिया दोतरफा प्रक्रिया है, चाहे बोलनेवाला पक्ष एक ही हो।

किसी भी अनुवाद का पहला कार्य मूल की वक्तृ शब्द प्रक्रिया का पुनर्निर्माण करना होता है। दूसरे शब्दों में, अनुवादक का एक्सेजेसिस (Exegesis) करना चाहिए—मूल कथन का निर्वचन वर्तमान के संदर्भ में करना चाहिए, हर्मेन्यूटिक्स (Hermaneutics) यानी मूल रचना का समकालीन संस्कृति के संदर्भ में नहीं।

अनुवाद का प्रतिरूप एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत करने की प्रक्रिया का प्रतिरूप यह होगा



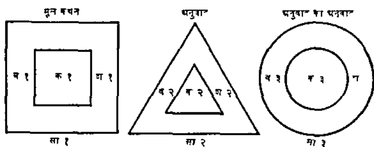


जहा सा$_1$ और सा$_2$ म बहुत अन्तर होगा, वहा अनुवादक व$_2$ एक तरह से श$_1$ का सूचक होगा। उसे दोना संस्कृतिया और भापाओ के नाता का काम करना होगा।

इस प्रकार अनुवादक को सा$_1$ और सा$_2$ दोना का एक सा अनुभव होना चाहिए, तभी वह ठीक ठीक श$_1$ हो सकता है और साथ ही ठीक व$_2$ बन सकता है। जो अनुवादक इनम से किसी एक से भी कुछ दूर है उसका क$_2$, व$_1$ और ग$_2$ म बहुत अधिक अन्तर कर देगा।

पर इससे भी कठिन समस्या तब होती है जब अनुवाद का अनुवाद करना पडता है।

अनुवाद का अनुवाद　हिन्दी म ससार की विविध भाषाओ का ज्ञान इस समय बहुत अश तक अंग्रेजी के द्वारा आ रहा है। इस प्रकार अनूदित रचनाओ के लिए निम्नलिखित प्रतिरूप होगा



मनोविश्लेपण शास्त्री सिगमंड फ्रायड की जर्मन रचना के अंग्रेजी अनुवाद 'ए जनरल इंटोडक्शन टु साइकोएनलिसिस (A General Introduction to Psycho-Analysis) का हमारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद मनोविश्लेपण[1] इसी प्रतिरूप के अन्तगत है। इसम श$_2$ और व$_3$ हिन्दी अनुवादक है। सा$_2$ अंग्रेजी का सांस्कृतिक परिवेश है, और सा$_3$ हिन्दी का। व$_1$ फ्रायड है और ग$_3$ हिन्दी पाठक। क$_1$ स क$_3$ पर पहुचने म तीन संस्कृतिया और चार व्यक्ति पार करने पडते है। इसलिए क$_1$ का रूप क$_3$ पर पहुचकर कितना विरूपित हो जाना सम्भव है, यह सरलता से समझा जा सकता है। इसम अनुवादक व$_3$ की समस्या और कठिनाई का भी कुछ अनुमान हो जाएगा। अनुवादो की आलोचना करनेवालो को ये परिस्थितिया ध्यान म रखकर ही विचार करना चाहिए।

वस्तु के अनुवाद में पाच स्थितिया　मूल भापा और अनुवाद भापा के व्याकरणिक भेदो के कारण वस्तु के भाषान्तरण म नीचे लिखी पाच स्थितिया म कठिनाई पैदा हो जाती है

[1] प्रकाशक—राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली अनुवादक—देवेन्द्रकुमार।

१ जहां मूलभाषा के शब्द में वह जानकारी नहीं होती, जो अनुवाद भाषा के शब्द में होनी आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, हिन्दी के 'वह जाएगा' का संस्कृत अनुवाद करनेवाले के सामने यह समस्या होगी कि 'जाएगा' का अनुवाद 'गन्ता' करे, जो अनद्यतन भविष्य का सूचक है, या 'गमिष्यति' करे, जो आज के भविष्य का सूचक है। 'जाएगा' शब्द से यह कुछ भी पता नहीं चलता।

२ जहां अनुवाद भाषा में अवश्य सूचनीय जानकारी मूलभाषा में अस्पष्ट होती है।

संस्कृत में आदरार्थ बहुवचन आवश्यक नहीं, हिन्दी में आवश्यक है। सुग्रीव भी राम को एकवचन में पुकारता है, रावण भी। सुग्रीव के कथन में राम के साथ प्रयुक्त होनेवाले एकवचन के क्रिया शब्द का भी हिन्दी में बहुवचन में ही अनुवाद होना चाहिए। परन्तु रावण राम को अनादर-सूचक एकवचन में कह सकता है। संस्कृत शब्दप्रयोग मात्र से अनुवादक को आदरार्थकता का ज्ञान नहीं हो पाता।

३ जहां अनुवाद भाषा में अवश्य-सूचनीय जानकारी मूलभाषा में संदिग्ध होती है।

वैसे अस्पष्टता में संदिग्धता आ ही जाती है पर कहीं-कहीं दो अर्थ बन सकने के कारण यह संदेह रहता है कि दोनों में से कौन-सा अर्थ यहां अभिप्रेत हो सकता है। उदाहरण के लिए, जब कोई वक्ता सभा में यह कहता है कि 'हमारा मत यह है', तब यह पता नहीं चलता कि वह अपना अकेले का मत बता रहा है, या किसी समुदाय का। इसके बाद जब वह कहता है कि हमारा देश महान् है, तब अपने देशवासियों के सामने बोलते हुए तो इसका अर्थ है 'मेरा और आपका देश', पर अन्य देशवासियों के सामने बोलते हुए इसका अर्थ है 'मेरा देश'। अनुवादक को ठीक संदर्भ का पता न हो तो उसके लिए ऊपर के प्रयोगों में, 'हमारा' शब्द का अर्थ संदिग्ध ही बना रहेगा। इसी प्रकार, अंग्रेजी के कज़िन, अंकल आदि शब्दों का हिन्दी अनुवाद करने में कठिनाई पैदा होती है।

४ जहां अनुवाद भाषा में अभिधा में कहने योग्य बात मूलभाषा में केवल वस्तु-व्यंजना से पता चलती है।

जो बात मूलभाषा में वस्तुव्यंजना से कही गई है उसे अनुवाद भाषा में वाच्य बना देने से व्यवहारतः कोई अधिक जानकारी नहीं मिल जाती। केवल कथन की सरणि का भेद हो जाता है। सुग्रीव के लिए राम की यह उक्ति 'न स संकुचित: पन्था येन वाली हतो गत:' हिन्दी अनुवाद में कुछ इस प्रकार रखी जा सकती है 'जहां वाली गया वहीं तुझे भेज दिया जाएगा'। पर हिन्दी में यह वाच्य कथन राम के गौरव के अनुरूप नहीं लगता।

५ जहां मूलभाषा के वाच्य अर्थ को अनुवाद भाषा में किसी भिन्न रूप में रखना पड़ता है।

यह अवस्था तब कठिनाई पैदा करती है जब मूलभाषा का वाच्य अर्थ अनुवाद भाषा में ठीक उसी वाच्य रूप में रखने पर संगत नहीं लगता।

जब संस्कृत के 'दास्याः पुत्र', 'गर्दवास्व', आदि निन्दाव्यंजक प्रयोगों का यह

अनुवाद नही किया जा सकता जो 'दासीपुत्र , 'खटवामारुढ' आदि का किया जाएगा। 'दास्या पुत्र' गाली है, दासी-पुत्र' तथ्य है। 'दास्या पुत्र' को हिदी म हरामजादा कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है।

साराश यह हुआ कि अनुवाद का अथ है एक भाषा म कहे गए अथ को दूसरी भाषा मे कहना। 'अथ का अथ है वाक्याथ, जो वस्तु, अलकार भाव और रसरुप होता है। प्रत्यक भाषा की अपनी एक पथक् सास्कृतिक परम्परा, और व्याकरण पद्धति होती है। अनुवादक का काय एक सास्कृतिक परम्परा और व्याकरणिक पद्धति का दूसरी सास्कृतिक परम्परा और व्याकरणिक पद्धति मे बदलना है। जिन भाषाओ की सास्कृतिक परम्पराए और व्याकरणिक पद्धतिया जितनी अधिक मिलती जुलती है, उनसे एक दूसरी मे अनुवाद उतना ही ठीक और यथाथ हो सकता है। दो भाषाओ की सास्कृतिक परम्पराओ और व्याकरणिक पद्धतिया म जितना अधिक अन्तर होगा, अनुवाद म उतनी ही कठिनाई आएगी।

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया मे वस्तु प्रधान रचना के अनुवाद की प्रक्रिया स कुछ अधिक विशेषताए होती हैं। इस प्रकार क अनुवादो की प्रक्रिया का इस भूमिका के खड ३, ४ और ५ म विवचन किया गया है।

२

सस्कृत और हिन्दी का सम्बन्ध

जातीय भाषिकीय अभिकल्प की दृष्टि से हमे मूलभाषा, सस्कृत, और अनुवाद-भाषा हिन्दी का पारम्परिक सम्बन्ध देखना चाहिए। यह सम्बन्ध तीन दृष्टियो से विचारणीय है

(१) मूलभाषा की प्रकृति, अर्थात् गठन, व्याकरण, और शब्दसमूह का अनुवाद-भाषा की प्रकृति से सम्बन्ध।

(२) मूलभाषा भाषी समाज का अनुवाद भाषा भाषी समाज से सम्बन्ध।

(३) मूलभाषा की साहित्यिक परम्परा का अनुवादभाषा की साहित्यिक परम्परा से सम्बन्ध।

१ गठन, व्याकरण और शब्दसमूह

वैदिक भाषा और उसके बाद विकसित सस्कृत या पाणिनीय सस्कृत आज से कम से कम ६००० वर्ष पूर्व जन्म ले चुकी थी। यह भाषा ही साहित्यिक और लौकिक धाराओ मे बहती हुई आज तक भारतवर्ष मे विद्यमान है। इसका लौकिक रूप आज हिन्दी बन गया है पर साहित्यिक रूप युगो के सागर पर चलता हुआ बहुत कुछ अपने पुराने स्वरूप मे ही वर्तमान है। इस तथ्य से कि वर्तमान हिन्दी का विकास प्राचीन बोलचाल की सस्कृत भाषा से हुआ है, इन दोनो के घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। सस्कृत हिन्दी की पूर्वज है, और हिन्दी सस्कृत की गोत्रज।

परन्तु दोनो भाषाओ के बीच काल का व्यवधान बहुत लम्बा हो चुका है। सस्कृत का काल ५०० ईसापूर्व तक माना जाता है। उसके बाद अगले ५०० वर्ष मे भाषा ने प्रथम प्राकृत या पालि का रूप ग्रहण किया, जो अगले ५०० वर्ष मे और अधिक बदलकर द्वितीय प्राकृत के रूप मे आ गया। ईस्वी ५०० से १००० तक भाषा मे जो परिवर्तन होते रहे, उन्होने उसे अपभ्रश का नाम दिलाया। ई० १००० के बाद से आधुनिक हिन्दी का रूप-विकास होने लगा।

इस प्रकार विकास की ये चार अवस्थाए हिन्दी से पहले पहचानी गई है जिनमे से प्रथम प्राकृत या पालि को छोडकर शेष तीन, अर्थात पाणिनीय सस्कृत, द्वितीय प्राकृत और अपभ्रश का सस्कृत नाटको मे प्रयोग हुआ है। कर्पूरमजरी जैसी कोई-कोई रचना तो पूर्णतया प्राकृत मे है। इन तीन कालो की भाषा मे लिखे नाटको का चौथे काल की भाषा

अर्थात् आधुनिक हिन्दी, मे अनुवाद किया गया है। यहा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत और अपभ्रश य दोनो शब्द अनेक वर्गीय तथा स्थानीय बोलियो को समाविष्ट किए हुए हैं। मृच्छकटिकम मे ऐसी आठ बोलियो का प्रयोग किया गया है।

फिर भी, हिन्दी अनुवादक प्राकृतो और अपभ्रशो स कहा तक परिचित थ, यह कहना कठिन है। अनुवादो को पढने से उनकी प्राकृतो और अपभ्रशो की जानकारी का कोई चिह्न नही मिलता। हमारी धारणा यह है कि उन्होने अनुवाद करते हुए केवल *संस्कृत पाठ को और प्राकृतो तथा अपभ्रशो की संस्कृतच्छाया को समझने का यत्न किया* है प्राकृतो और अपभ्रशो का नही। इसलिए हम केवल पाणिनीय संस्कृत की प्रकृति पर विचार करके, उसकी तुलना हिन्दी भाषा की प्रकृति स करेंगे।

गठन और व्याकरण—संस्कृत भाषा म अर्थतत्त्व का द्योतक शब्द प्रकृति कह लाता है, और सम्बन्धतत्त्व का द्योतक शब्द 'प्रत्यय' कहलाता है। किसी अर्थ की प्रतीति तब होती है जब प्रकृति के साथ प्रत्यय जुडा हो। प्रत्ययो के चार प्रकार हैं—कारक प्रत्यय (सुप या विभक्ति), क्रिया प्रत्यय (तिङ या विभक्ति), कृदत प्रत्यय (क्रिया से बने शब्दो म प्रयुक्त प्रत्यय) और तद्धित प्रत्यय (संज्ञा आदि नाम शब्दो स बने शब्दो में प्रयुक्त प्रत्यय), पर पद का पदत्व सुप और तिङ स ही होता है।

नाम' शब्द म संज्ञा विशेषण और सर्वनाम आते ह। इनके तीन लिंग होते हैं—पुल्लिग स्त्रीलिंग और नपुसक लिंग। पर यह लिंग विधान प्रत्यक्ष जीवन के तथ्यो के आधार पर नही होता व्याकरणिक या चलन के आधार पर ही होता है। *स्त्री का वाचक* कलत्र शब्द नपुसकलिंग म प्रयुक्त होता है, जबकि नपुसक आदमी का वाचक षढ शब्द पुल्लिग म। 'नाम शब्दो के तीन वचन और आठ विभक्तिया होती है। इस प्रकार एक नाम शब्द के चौबीस रूप बन जाते हैं। न च, आदि अव्यय शब्द सदा एक ही रूप म रहते हैं।

संस्कृत म क्रिया के दस लकार या वृत्तिया होती हैं जिनस तीन काल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) और चार विधिया (आज्ञा विधि आशी कथन, और हेतुहेतुमदभाव) द्योतित की जाती हैं। एक विशेष बात यह है कि आज क भविष्य का अन्य भविष्य से और आज के भूत का अन्य भूत से अन्तर लकार भेद से किया जाता है। लट लकार का प्रयोग *सामान्यतया भविष्य के लिए किया जाता है पर लुट लकार का प्रयोग आज के भविष्य* के लिए नही किया जाता। इसी प्रकार अनद्यतन भूत मे लङ सामान्यभूत मे लुङ और परोक्षभूत म लिट का प्रयोग होता था।

क्रियाए सकमक (द्विकर्मक भी) और अकर्मक होती है और उनके कर्तृ वाच्य, *कर्मवाच्य, भाववाच्य और प्रेरणार्थक (णिजन्त) प्रयोग होते हैं। कर्मवाच्य और भाववाच्य* रूप सदा 'आत्मनेपद होते हैं। कुछ धातुए कर्तृ वाच्य रूप म भी आत्मनेपदी हैं, और कुछ परस्मैपदी। आत्मनेपदी' का अर्थ है वह क्रिया जिसका फल कर्ता को मिले, और 'परस्मै पदी' वह क्रिया है जिसका फल कर्ता स भिन्न व्यक्ति को मिले। परन्तु इन अर्थों का यह मतलब नही कि सब आत्मनेपदी या परस्मैपदी क्रियाए इन अर्थो के अनुसार ही आत्मने पदी या परस्मैपदी बनती हैं।

संस्कृत म छह समास पाए जाते हैं—तत्पुरुष बहुव्रीहि कर्मधारय द्विगु द्वन्द्व और

अव्ययीभाव—जो दो या अधिक पदो को एक अखण्ड पद बना देते है। वाक्य रचना और कारक-योजना की दृष्टि से भी सस्कृत मे कुछ विशेषताए हैं। सस्कृत भाषा का गठन सश्लिष्ट है इसमे प्रकृति अश के साथ प्रत्यय अश इस प्रकार मिला होता है कि दोनो को पृथक करके देखना कठिन है। इसलिए वाक्य रचना मे पदो के क्रम का महत्त्व कुछ कम हो जाता है। पर वक्ता के मन मे पदो की जो सम्बन्ध योजना होती है वह किसी भाव के अनुसार क्रमबद्ध होती है। इसलिए उनमे क्रम का सर्वथा अभाव नही समझना चाहिए। कारको म विभक्ति योजना और कही-कही कारक योजना भी, व्याकरणिक, अर्थात चलन के आधार पर, होती है। जैसे रुच धातु के साथ चतुर्थी विभक्ति का ही प्रयोग होता है, और षष्ठी कही भी प्रयुक्त हो जाती है।

सस्कृत की पदरचना अखण्ड होती है। प्रत्यय अश प्रकृति से अलग होकर प्रयोग म नही आता, और प्रकृति और प्रत्यय के बीच म कोई व्यवधान भी नही रह सकता। नाम और धातु दोनो के बारे मे यही स्थिति है। इसलिए पदप्रयोग करने पर उसका कारकत्व प्राय स्पष्ट हो जाता है।

शब्द समूह सस्कृत भाषा म प्रचलित शब्द समूह प्राचीन परम्परागत शब्द समूह ही है। उसम वैदिक आर्यों के शब्द-समूह के अतिरिक्त मुड और द्रविड भाषाओ के शब्दो का समावेश अवश्य हुआ है पर आज के सस्कृतज्ञो के लिए इन शब्दो को पृथक् पहचानना बडा कठिन है। कारण यह कि एक तो बाहर से आए हुए शब्द बहुत पुराने समय म आए थे, और दूसरे, वे भी पाणिनीय सस्कृत से अनुशासित होकर भाषा के अपने हो गए हैं। सस्कृत भाषा के शब्द समूह म कुछ प्राकृत रूप, जैसे श्रीहर्ष का इगाल (अगार —विनेर्नुरिंगालमिवायन पर)[1], माघ का 'मैरेय (मदिर मद्दर 'पीतमैरेयरिक्त वनकचषनमतन्)[2] आदि भी समाविष्ट हो गए हैं। थोडे से अरबी-फारसी शब्द भी कहीं-कही आ गए हैं— ई ह बकौरि घतचौरि नमो नमस्त —पडितराज।

हिन्दी का गठन, व्याकरण और शब्द समूह

आधुनिक हिन्दी वियोगात्मक या विश्लिष्ट भाषा है। इसम पद का व्यक्तित्व अखण्ड होना आवश्यक नही। नाम पद को लें, तो 'राम और लक्ष्मण का यह द्वन्द्व समास से जुडा एक पद है। पर भाषा की वियोगात्मकता के कारण 'राम' आदि चारों शब्दो का स्वतन्त्र अस्तित्व दिखाई देता है। और के प्रयोग के कारण इसे समास कहना भी ठीक नही लगता। हिन्दी की इस प्रवृत्ति से समस्त पद और निलम्बितसमास पद का पता चलता है। समस्त पद का अस्तित्व वैदिक भाषा मे भी प्रचुर मात्रा म दिखाई देता है। 'स अग्नि पूर्वेभी ऋषिभिरीड्यो नूतनरुत, स देवा एह वक्षति —(ऋग्० प्रथम मडल, मत्र २) में 'आ इह वक्षति' वस्तुत 'इह आवक्षति' है।

'समास के प्रसग म भी हिन्दी मे सस्कृत से बडा भेद दिखाई देता है। 'राम, लक्ष्मण और भरत ने तपस्या की' यहा कर्ता-पद म द्वन्द्व समास है। पर उसके अन्य अग

[1] नैषधचरित ९ १
[2] शिशुपालवध ११ १

लिखने-बोलने से ऐसा लगता है जैसे यहाँ समास है ही नहीं। इसे अरूप द्वंद्व समास कहना उचित होगा। संस्कृत में 'रामलक्ष्मणभरता' रूप होने के कारण द्वन्द्व समास की सत्ता सरलता से पता चल जाती है। यही बात अन्य समासों के बारे में भी समझनी चाहिए। "सब छात्र कृषि विद्यालय में एकत्र थे, इस वाक्य में 'कृषि विद्यालय में' पद में अरूप तत्पुरुष समास है। "सरोवर लाल कमलों से सुशोभित था इस वाक्य में 'लाल कमलों से' पद में अरूप कर्मधारय समास है।

कारक पद्धति में भी संस्कृत और हिन्दी में कुछ अन्तर दिखाई देता है। संज्ञा का क्रिया से जो सम्बन्ध होता है, उसे कारक कहते हैं। कारक छह माने जाते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। पर आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् में शेष' को भी कारक माना है और यह बताया है कि इस कारक में क्रिया अश्रुत होती है।

सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः ।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते ।[1]

—कांड ३ साधिकार कारिका ?

इसका अभिप्राय यह है कि कर्ता, कर्म आदि अन्य छह कारकों से भिन्न जो सम्बन्ध है, वह शेष कहलाता है। शेष कारक इसलिए है कि वह पहले हुई क्रिया से सम्बन्ध बताता है। राजपुरुष यहाँ राजा और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। राजा पुरुष को देता है, इस क्रिया से राजा प्रभावित है। इस प्रकार पहले जो कारकत्व है वह बाद में भी बना रहता है। राजा पुरुष को देता है तभी तो राजपुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध बना रहता है। पहले राजा में कर्ता कारक और पुरुष में सम्प्रदान कारक था। शेष सम्बन्ध होने पर कर्ता आदि कारक विशेषों का ज्ञान नहीं होता केवल शेषभूत सामान्य कारकत्व का भान होता है। अभिप्राय यह हुआ कि कारक विशेष की विवक्षा न होने पर शेष होता है। ऐसे स्थानों पर क्रिया अश्रुत होती है। जैसे यहाँ 'दान' क्रिया सुनाई नहीं देती।

हिन्दी में अश्रुत क्रिया वाले शेष कारक के चिह्न 'का', 'के', 'की' हैं।

वर्तमान हिन्दी में अन्य कारकों के प्रयोगों में भी क्रिया अश्रुत रहने के उदाहरण मिलते हैं। 'वाशिंगटन में भारतीय राजदूत श्री ब्रजकुमार नेहरू ने न्यूयार्क का दौरा किया," या "विदेशमंत्रालय में मंत्री श्रीमती लक्ष्मी मेनन ने भारत की विदेश नीति के लक्ष्यों पर भाषण दिया —जैसे वाक्यों में, जो अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से चल पड़े हैं अधिकरण कारक की क्रिया अश्रुत है। अपादान कारक में क्रिया अश्रुत होने के उदाहरण ऐसे वाक्यों में मिलते हैं "दिल्ली से मद्रास तक कितने ही स्टेशन पड़ते हैं।

हिन्दी संज्ञाओं में लिंग और वचन केवल दो-दो होते हैं। विशेषणों में बहुधा किसी लिंग या वचन का संकेत नहीं होता। पर संस्कृत से लिए गए विशेषणों में बहुत बार लिंग संकेत प्रयुक्त होता है। यह लिंग संकेत हिन्दी विशेष्य के लिंग के अनुसार चलता है।

क्रियाओं के प्रयोगों की हिन्दी में बहुत अधिक विविधता है। इनमें कालभेद की

[1] वाक्यपदीयम्, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज सम्पादक के० साम्बशिव शास्त्री।

दृष्टि से तो भूत, भविष्यत और वर्तमान का ही संकेत होता है। पर वर्तमानकाल का दीखनेवाला प्रयोग भविष्य का—प्राय निकट भविष्य का—और निकट भूत का भी सूचक हो सकता है। हिन्दी क्रिया की एक और विशेषता है सहायक क्रियाओं का अत्यधिक प्रयोग। रहा, चुका, पडा, लिया दिया आदि कितनी ही सहायक क्रियाएं प्रयोग में आती हैं जो मुख्य क्रिया के अर्थ को कोई विशेष रंग दे देती हैं। इसी प्रकार होना करना और देना क्रियाएं अनेक संज्ञा विशेषण या क्रियाविशेषण शब्दों के साथ मिलकर पूर्ण क्रिया का अर्थ देती हैं। कपड़े ठीक कर लो—यहां ठीक करना क्रिया बन गई है।

शब्द-समूह

हिन्दी शब्द समूह को हम चार भागों में बांट सकते हैं—तत्सम या संस्कृत, तद्भव, देशज और विदेशी। संस्कृत के अधिकतर नाम शब्द हिन्दी में हिन्दी व्याकरण से अनुशासित होकर खप गए हैं। बहुत बार वे हिन्दी ध्वनियों में ढल गए हैं और 'तद्भव' कहे जाते हैं। 'देशज' शब्द वे हैं जिनका मूल न तो संस्कृत शब्द-समूह में है और न विदेशी शब्द-समूह में। पिछले १००० वर्ष में भारत का विदेशियों से जो सम्पर्क हुआ, उसके कारण विदेशी—तुर्की, अरबी फारसी, पुर्तगाली अंग्रेज़ी आदि—भाषाओं के शब्दों की बहुत बड़ी संख्या हिन्दी शब्द समूह में शामिल हो चुकी है। इनमें से बहुत से विदेशी शब्द बोल चाल में इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनके स्थान पर संस्कृत तत्सम शब्द का प्रयोग हास्यास्पद लगता है। हिन्दी शब्द समूह की यह विशेषता उसे संस्कृत शब्द-समूह से कुछ दूर कर देती है।

सारांश रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा संस्कृत की गोत्रज होती हुई भी गठन, व्याकरण और शब्द समूह की दृष्टि से संस्कृत से बहुत दूर और भिन्न हो गई है। थोड़े से शब्द-समूह को छोड़कर संस्कृत की और विशेषताओं को हिन्दी अनुवाद में आने देना हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध होगा और पाठक को खटकेगा। हिन्दी के रूढ़ प्रयोगों या मुहावरों के बारे में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संस्कृत का मुहावरा, और बहुत बार कहावत भी, हिन्दी में शब्दश अनुवाद कर देने पर निरर्थक और रसभंग करने वाले होते हैं। कारण है संस्कृत और हिन्दी की प्रकृतियों का भेद।

२ संस्कृतभाषी समाज और हिन्दीभाषी समाज

वैसे तो संस्कृत के नाटक विभिन्न समयों में लिखे गए हैं। पर, संस्कृत कवियों की रूढ़िप्रियता के कारण संस्कृत भाषा वैदिक और ब्राह्मणकालीन जिन आदर्शों और परम्पराओं की वाहक थी, वे ही उसमें बाद के काल में भी अभिव्यक्त की जाती रहीं। दूसरी ओर, संस्कृत की उस परम्परा के बावजूद हिन्दीसमाज, प्राकृत-कालीन, तथा अपभ्रंश कालीन और उसके बाद के आदर्शों और विचारों से प्रभावित हुआ है। और यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि यदि संस्कृतकाल का कोई मनुष्य आज किसी तरह भारत में आ जाये तो यह आधुनिक भारत के निवासी को शायद आसानी से अपना गोत्रज भाई न मान सके।

फिर भी, एक बात स्पष्ट है। संस्कृतकाल में जो संस्कृतभाषाभाषी जनसमुदाय था, उसीके वंशज आज हिन्दीभाषाभाषी समुदाय के अधिकतर लोग हैं। वे उन्हीं वैदिक मंत्रों का पाठ करते हैं चाहे उच्चारण कुछ भिन्न हो गया हो, उन्हीं दार्शनिक आदर्शों में आस्था रखते हैं, उसी प्रकार उपासना करते हैं, उसी परिवार पद्धति में रहते हैं और अधिकतर क्षेत्रों में खेती आदि की भी वही पद्धति अपनाए हुए हैं। दोनों के जीवन में भेद होते हुए भी परम्परा का एक अविच्छिन्न सूत्र दोनों को एकत्र बांधे हुए है।

परम्परा की इस अविच्छिन्नता के परिणामस्वरूप हिन्दी भाषी समाज संस्कृत भाषी समाज की शब्दावली और उससे अभिव्यक्त अर्थ को अधिक आसानी और गहराई से समझ सकता है। समाज के ढांचे में बहुत कम परिवर्तन होने के कारण राम के ज्येष्ठ भ्राता होने का अर्थ, परिवार के हित के लिए राम के अपूर्व त्याग, सीता की अद्भुत पति निष्ठा, भरत की अनुपम महानता, और लक्ष्मण के पुत्रभाव का महत्त्व जैसा आज के हिन्दीभाषी (या अन्य भारतीय) को हृदयंगम हो सकता है वैसा भारतीय सामाजिक परम्परा से अपरिचित किसी विदेशी को नहीं हो सकता। तू, तुम, और आपका अंतर केवल व्याकरण की सहायता से पल्ले नहीं पड़ सकता।

वातावरण की समानता भी दोनों समाजों में समानता पैदा करनेवाली है। उसी धरती, उन्हीं नदियों और पर्वतों, मैदानों और वनों का परिवेश इन दोनों समाजों के संस्कारों और मनोभूमि का सादृश्य उत्पन्न करता है। वाल्मीकि ने राम को धैर्ये च हिमवानिव कहकर जो बताना चाहा है वह इसी कारण हमारे लिए सुबोध है कि हम भी हिमवान के धैर्य से परिचित हैं। संस्कृत के सारे साहित्य का दृश्यविधान, रूपचित्रण, प्रकृतिचित्रण हमारे लिए वैसा ही सजीव है, जैसा वह उन लेखकों के समकालीन पाठकों के लिए होगा।

इस प्रकार सामाजिक परम्परा, परिवेश और आदर्श की समानता के कारण, तथा भाषाकीय परम्परा में बाद की पीढ़ी मात्र होने के कारण संस्कृत रचना का हिन्दी भाषान्तर अधिक सुबोध और सुकर है। इस बात का महत्त्व तब अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है जब हम अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद की सम्भावनाओं पर विचार करें। अंग्रेजी भाषा और हिन्दी भाषा में परस्पर कोई निकट सम्बन्ध न होने से जो भाषा सम्बन्धी कठिनाइयां होती हैं उन्हें छोड़ दें तो भी अंग्रेजीभाषी समाज और हिन्दीभाषी समाज की सांस्कृतिक भिन्नता के कारण अंग्रेजी सामाजिक जीवन को लेकर लिखी गई रचना का हिन्दीभाषान्तर उतना सुबोध और सफल नहीं हो सकता।

३ साहित्यिक परम्परा

साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी में बड़ी घनिष्ठता है। काव्य की श्रेष्ठता के आदर्श, उपमान, छन्द विधान आदि की दृष्टि से हिन्दी पर संस्कृत का बड़ा भारी ऋण है। काव्यशास्त्रीय विवेचन तो प्रायः सारा संस्कृत परम्परा को आधार बना कर ही चलता है। आज भी कवि लोग रामायण और महाभारत के उनके पात्रों और आदर्शों का, घटनाओं और द्वन्द्वों का यशोगान और अनुकरण करते हैं।

दोनों भाषाओं के साहित्यों में विषयवस्तु, काव्यरूप, छन्दविधान, और अलंकार की दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा है। आधुनिक युग के सूत्रपात से पहले का हिन्दी साहित्य जिन वीरगाथाओं, भक्ति और मुक्तक शृंगार की वचनावली से भरा पड़ा है, वे तीनों संस्कृत साहित्य में, और बाद के प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में, प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। इसी प्रकार की स्थिति महाकाव्य, मुक्तक आदि काव्यरूपों के बारे में थी। हिन्दी साहित्य ने प्राकृत और अपभ्रंश से जो छन्द लिए या नये आविष्कृत किए, उनके अतिरिक्त संस्कृत छन्दों का भी प्रचुर प्रयोग हिन्दी साहित्य में होता रहा और वह परम्परा आज भी कुछ अंश में जारी है। अलंकार मध्यकालीन कवियों को तो प्रिय था ही, आज का हिन्दी कवि भी बस अलंकार साहित्य की ही सृष्टि कर रहा है, यद्यपि बहुत बार वह यह जानता नहीं कि उसने केवल अलंकार रचना की है जिसमें भाव गौण और अप्रधान है।

परन्तु इतनी समानता के साथ यह न भूलना चाहिए कि हिन्दी के साहित्य का अपना पृथक् व्यक्तित्व भी है, जो संस्कृत साहित्य से स्वतन्त्र रहते हुए विकसित हुआ है। हर साहित्य किसी युग विशेष के सामाजिक जीवन का निरूपण करता है। हिन्दी साहित्य पिछले सात आठ सौ वर्ष के हिन्दीभाषी प्रदेश के जीवन का प्रतिबिम्ब है। उसमें विषय वस्तु की दृष्टि से प्रेमाख्यानक कवियों की रचनाएँ हैं और वर्तमान ग्राम्य जीवन प्रधान उपन्यास आदि हैं, काव्यरूप की दृष्टि से उर्दू, बंगला, इंग्लिश के प्रभाव में आई मौलिक और अनूदित रचनाएँ हैं, छन्द की दृष्टि से मुक्त छन्द और अनेक देशी विदेशी लय तालों में बधी कृतियाँ हैं। शब्द-समूह में तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेज़ी आदि के अनेक शब्द आ गए हैं।

अभिप्राय यह है कि यद्यपि संस्कृत साहित्य की परम्परा का हिन्दी साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव है, पर वह इसपर पड़े अनेक प्रभावों में से केवल एक प्रभाव है। हिन्दी साहित्य अनेक अन्य युगीन प्रभावों से भी प्रभावित हुआ है और इस प्रकार वह संस्कृत साहित्य की छाया न होकर एक स्वतन्त्र और बलवान साहित्य है जो अपने युग के सामाजिक जीवन की सच्ची प्रतिध्वनि है।

निष्कर्ष

हमने देखा कि भाषा, समाज और साहित्य-परम्परा तीनों की दृष्टि से संस्कृत साहित्य और हिन्दी साहित्य में बड़ा निकटवर्ती सम्बन्ध है, जिसके कारण संस्कृत साहित्य की कृतियों का हिन्दी भाषान्तर अन्य भाषाओं के साहित्य के भाषान्तर की अपेक्षा अधिक सच्चा और आनन्दकारक बन सकता है, और अधिक आत्मीय प्रतीत हो सकता है।

३

काव्य का अनुवाद

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया और मौलिक काव्य रचना की प्रक्रिया मूलत एक है। अतर इतना है कि अनुवादक को काव्य सामग्री का चयन नही करना होता। काव्य रचना की प्रक्रिया नाटयशास्त्रकार महर्षि भरत के शब्दो मे यह है

यथा बीजाद भवेद वृक्षो वृक्षात्पुष्प फल यथा।
तथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता ॥[1]

जसे बीज से वृक्ष होता है वृक्ष स पुष्प और फल होते हैं, वसे ही सब रस मूल हैं, उनमे भावो की स्थिति होती है।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' म कहा है

बीज यथा वृक्षमूलत्वेन स्थित तथा रसा। तन्मूलादि हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिरिति त एव च व्याख्यानार्हा। कविगतसाधारणीभूतसविन्मूलश्च काव्य पुरस्सरो नटव्यापार। सव च सविन्परमार्थतो रस। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चाद पोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजन नाटय काव्ये सामाजिकधियि च। तदेव मूल बीजस्थानीय कविगतो रस। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अत एवोक्त 'शृङ्गारी चत्कवि' (ध्वन्यालोक ३-४२) इत्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादि नटव्यापार। तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसास्वाद। तन रसमयमव विश्वम।

अथात जो स्थिति वृक्ष के मूल बीज की है वही रसो की है। उन मूलरूप रसो से प्रीति होन पर ही काव्य का अभ्यास किया जाता है और उनकी ही व्याख्या करना उचित है। और काव्यानुसारी नटव्यापार का मूल कविगत साधारणीभूत सवित् ही है। वह सवित ही परमार्थत रस है। उसकी प्रतीति स वशीभूत सामाजिक को बाद मे वस्तुओ की पृथकता क ज्ञान स विभाव आदि की प्रतीति होती है—नाट्य, काव्य और सामाजिक के ज्ञान म यह प्रयोजन है। तो इस प्रकार मूल है बीजस्थानीय कविगत रस। कारण यह कि कवि सामाजिक क तुल्य ही है। इसीलिए आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है 'शृगारी

[1] ना० शा० ६ ३८

चलवि"। फिर, काव्य वृक्षस्थानीय है। उसमे अभिनय आदि नटव्यापार पुष्पस्थानीय है। उसमे सामाजिक का रसास्वाद फलस्थानीय है। इसलिए संसार रसमय ही है।

अभिप्राय यह कि कवि संसार की किसी घटना को साधारणीभूत रूप मे देखकर रस अनुभव करता है, फिर उसके विभावादि देखता है उन्हे शब्दो मे प्रस्तुत करता है—इन्ही को नट सामाजिको के सामने प्रस्तुत करते हैं।

यही प्रक्रिया जयशंकर प्रसाद ने इस रूप मे रखी है

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य मे संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।"[1]

यहा भी कवि के मन की वह असाधारण अवस्था पहले श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण करके उसे संकल्पात्मक रूप मे अनुभव करती है। यही अनुभव वाणीरूप मे प्रकट होता है और सामाजिक मे वही अनुभव पैदा करता है।

अनुवादक पहले सामाजिक के रूप मे होता है। वह काव्यरस का आस्वादन करता है और उसके बाद काव्यार्थ को दूसरी भाषा मे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि परिवर्तित वाक्यावलि भी वही रस व्यक्त कर सके जो मूल भाषा की वाक्यावलि से व्यक्त होता था। इसके लिए मूल के वाच्य अर्थ के साथ-साथ व्यंग्य अर्थ को भी पूर्णतया अभिव्यक्त करनेवाली परिवर्तित वाक्यावलि होनी चाहिए। स्पष्टत ऐसा तभी सम्भव है जब अनुवादक मूलभाषा और अनुवादभाषा दोनो मे इतना पारंगत हो कि उनके शब्दो के वाच्य और व्यंग्य अर्थों को पूरी तरह समझता हो। उसमे इतनी भावुकता भी होनी चाहिए कि वह मूल लेखक के सकल भाव और रस वस्तु और अलंकार ताल और लय को अपने मन मे ग्रहण कर सके। दोनो भाषाओ की सम्पन्नता के साथ ही, उसमे वह रचनाशक्ति भी होनी चाहिए जिससे वह अनुवादभाषा मे मूलभाषा की रचना का प्रभाव पैदा कर सके।

काव्य का स्वरूप

जिस वाक्य का अर्थ वस्तुमात्र है अर्थात् जिस वाक्य से आत्मा पर केवल ज्ञान रूप प्रभाव पड़ता है वह वाक्य या प्रबन्ध शास्त्र कोटि मे आता है। पर जिस वाक्य या प्रबन्ध का अर्थ भाव रस रूप होता है, उसे 'काव्य' कहा जाता है। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सहृदयो के लिए आह्लादजनक अर्थ वाले वाक्य को काव्य कहते हैं।

काव्य का वैदिककालीन रूप आध्यात्मिक साक्षात्कार से उत्पन्न आह्लाद की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था। वेद मे परमात्मा को अजर अमर काव्य कहा गया है—देवस्य पश्य काव्य न ममार न जीर्यति (अथर्ववेद १० ८ ३२)। काव्य एक विशा

[1] [illegible]

३

काव्य का अनुवाद

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया

साहित्यिक अनुवाद की प्रक्रिया और मौलिक काव्य रचना की प्रक्रिया मूलत एक है। अन्तर इतना है कि अनुवादक को काव्य सामग्री का चयन नहीं करना होता।

काव्य रचना की प्रक्रिया नाट्यशास्त्रकार महर्षि भरत के शब्दों में यह है

यथा बीजाद भवेद वृक्षो वृक्षात्पुष्प फल यथा।
तथा मूल रसा सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता ॥[1]

जैसे बीज से वृक्ष होता है वृक्ष से पुष्प और फल होते है, वैसे ही सब रस मूल हैं, उनमें भावों की स्थिति होती है।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में कहा है

बीज यथा वृक्षमूलत्वेन स्थित तथा रसा । तन्मूलादि हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिरिति त एव च व्याख्यानार्हा । कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्य पुरस्सरो नट्व्यापार । सैव च संवित्परमार्थतो रस । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चाद पोद्धारबुद्ध्या विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजन नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च। तदेव मूल बीजस्थानीय कविगतो रस । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अत एवोक्त शृङ्गारी चेत्कवि (ध्वन्यालोक ३–४२) इत्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम । तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनट्व्यापार । तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसास्वाद । तेन रसमयमेव विश्वम ।

अर्थात 'जो स्थिति वृक्ष के मूल बीज की है, वही रसों की है। उन मूलरूप रसों में प्रीति होने पर ही काव्य का अभ्यास किया जाता है और उनकी ही व्याख्या करना उचित है। और काव्यानुसारी नट्व्यापार का मूल कविगत साधारणीभूत संवित् ही है। वह संवित ही परमार्थत रस है। उसकी प्रतीति से वशीभूत सामाजिक को बाद में वस्तुओं को पृथकता के ज्ञान से विभाव आदि की प्रतीति होती है—नाट्य काव्य और सामाजिक के ज्ञान में यह प्रयोजन है। तो इस प्रकार मूल है बीजस्थानीय कविगत रस। कारण यह कि कवि सामाजिक के तुल्य ही है। इसीलिए आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है 'शृगारी

१ ना० शा० ६ ३८

पल्लव"। फिर, काव्य वृक्षस्थानीय है। उसमें अभिनय आदि नटव्यापार पुष्पस्थानीय है। उसमें सामाजिक का रसास्वाद फलस्थानीय है। इसलिए संसार रसमय ही है।"

अभिप्राय यह कि कवि संसार की किसी घटना को साधारणीभूत रूप में देखकर रस अनुभव करता है, फिर उसके विभावादि देखता है, उन्हें शब्दों में प्रस्तुत करता है—इन्हें ही नट सामाजिकों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

यही प्रक्रिया जयशंकर प्रसाद ने इस रूप में रखी है

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।"

यहाँ भी कवि के मन की वह असाधारण अवस्था पहले श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण करके, उसे संकल्पात्मक रूप में अनुभव करता है। यही अनुभव वाणीरूप में प्रकट होता है और सामाजिक में वही अनुभव पैदा करता है।

अनुवादक पहले सामाजिक के रूप में होता है। वह काव्यरस का आस्वादन करता है, और उसके बाद काव्यार्थ को दूसरी भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि परिवर्तित वाक्यावलि भी वही रस व्यक्त कर सके, जो मूल भाषा की वाक्यावलि से व्यक्त होता था। इसके लिए मूल के वाच्य अर्थ के साथ-साथ व्यंग्य अर्थ को भी पूर्णतया अभिव्यक्त करनेवाली परिवर्तित वाक्यावलि होनी चाहिए। स्पष्टतः, ऐसा तभी सम्भव है जब अनुवादक मूलभाषा और अनुवादभाषा, दोनों में इतना पारंगत हो कि उनके शब्दों के वाच्य और व्यंग्य अर्थों को पूरी तरह समझता हो। उसमें इतनी भावुकता भी होनी चाहिए कि वह मूल लेखक के मनोगत भाव और रस, वस्तु और अलंकार, ताल और लय को अपने मन में ग्रहण कर सके। दोनों भाषाओं की ममज्ञता के साथ ही उसमें वह रचनाशक्ति भी होनी चाहिए जिससे वह अनुवादभाषा में मूलभाषा की रचना का प्रभाव पैदा कर सके।

काव्य का स्वरूप

जिस वाक्य का अर्थ वस्तुमात्र है अर्थात् जिस वाक्य से आत्मा पर केवल ज्ञानरूप प्रभाव पड़ता है, वह वाक्य या प्रबन्ध शास्त्र-कोटि में आता है। पर जिस वाक्य या प्रबन्ध का अर्थ भाव रस आदि होता है, उसे काव्य कहा जाता है। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सहृदयों के लिए आह्लादजनक अर्थ वाले वाक्य को काव्य कहते हैं।

काव्य का अभिज्ञान रूप आध्यात्मिक साक्षात्कार में उत्पन्न आह्लाद की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था। वेदों को परमात्मा का अजर अमर काव्य कहा गया है [illegible]

है न कि कला यह स्थापना करते हुए वर्तमान काल में 'प्रसाद' ने नव-नव सामालार के अभिव्यंजन को काव्य माना है।

महाकाव्य-युग में स्थायी भाव की अभिव्यंजना का काव्य माना गया जैसा कि आदिकवि वाल्मीकि के प्रथम लौकिक श्लोक की प्रसिद्ध कहानी से पता चलता है। इस कहानी में काव्य की छन्दस्पता को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है।

परवर्ती काल में वाच्य अलंकार को काव्य का प्राण माना जाने लगा। कभी कभी केवल छन्द भी काव्य का स्वरूपाधायक समझ लिया जाता था।

आचार्य आनन्दवर्धन ने इन सब धारणाओं और काव्यजनित आह्लाद के कारणों की परीक्षा करके यह स्थापना की कि काव्य की आत्मा ध्वनि या व्यंजना व्यापार है और ध्वनित वस्तु, ध्वनित अलंकार, ध्वनित भाव और रस—ये चारों वाक्यार्थ काव्य की श्रेणी में गिने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अलंकार, छन्द या शब्द मात्र की विशेषता वाले वाक्य को आपने काव्य का चित्ररूप माना।

ध्वनित वस्तु और ध्वनित अलंकार से ध्वनित भाव को, तथा ध्वनित भाव से ध्वनित रस को अधिक श्रेष्ठ कोटि का काव्य माना गया है।

उत्कृष्ट काव्य

ध्वनि और वाच्य अलंकार का संघर्ष काव्यसमीक्षा में आज भी चलता है। फिर भी इस प्रश्न पर कोई विशेष मतभेद नहीं कि 'रसात्मक' वाक्य श्रेष्ठ काव्य होता है। परन्तु कविराज विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' लक्षण की संकीर्णता इसी एक बात से स्पष्ट हो जाएगी कि ध्वनित रस को श्रेष्ठ काव्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन को यह कहना पड़ा था कि ऐसे दो तीन या पांच छह ही महाकवि हैं जिनकी वाणी रस प्रवाहिणी है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।

—ध्वन्यालोक १.६

तत् वस्तुतत्त्वं निष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते।

स्पष्ट है कि यदि एकमात्र रसात्मकता को काव्य का लक्षण माना जाएगा, तो काव्य का क्षेत्र बड़ा सीमित रह जाएगा।

इसलिए ध्वनित वस्तु, ध्वनित भाव और ध्वनित अलंकार को भी काव्य के अन्तर्गत रखकर ध्वनि को काव्य का प्राण माना गया। हमारे विचार से यहां इतना और ध्यान रखना होगा कि ध्वनित वस्तु और ध्वनित अलंकार भी भावमूलक होते हैं परन्तु उनमें प्रधानता भाव की नहीं, वस्तु या अलंकार की होती है। ध्वनित अलंकार के बारे में यह कहना आवश्यक है कि यहां अलंकरण के अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग ब्राह्मणश्रमण न्याय से किया जाता है—अर्थात् वाच्य अलंकार जिस वस्तुविन्यास का चित्र

प्रस्तुत करता है, वही चित्र जब व्यंजना से प्रस्तुत हो तब अलंकारध्वनि या ध्वनित अलंकार होता है।

इस प्रकार भावध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को रसध्वनि के बाद की कोटि में रखना चाहिए। कुछ आचार्यों ने सारे ध्वनि काव्य को उत्तम श्रेणी में रखा है, पर रसध्वनि को शेष ध्वनियों से श्रेष्ठ माना है। पंडितराज ने रसध्वनि के लिए उत्तमोत्तम की श्रेणी निर्धारित की है और आगे तीन भेद और किए हैं।

इस प्रकार, जिस वाक्यार्थ में ध्वनि की प्रधानता है, वह श्रेष्ठ काव्य हुआ। जिस वाक्यार्थ में ध्वनि अप्रधान है और वाच्य वस्तु या वाच्य अलंकार प्रधान है वह द्वितीय कोटि का गुणीभूत व्यंग्य काव्य है। हां यदि वाच्य वस्तु प्रधान हो और उसमें ध्वनित अलंकार गौण हो, तब ध्वनि काव्य ही गिना जाएगा। जिस वाक्यार्थ में ध्वनि नहीं है, केवल वाच्य वस्तु या वाच्य अलंकार है, वह भी कई बार काव्य की कोटि में समझ लिया जाता है इसलिए उस तृतीय कोटि का काव्य कह देते हैं। वस्तुतः जो वाक्यार्थ वाच्य वस्तु है वह विज्ञान या धर्मशास्त्र आदि शास्त्र की कोटि का कथन है काव्य नहीं, और वाच्य अलंकार पच्चीकारी की कोटि का कलामात्र है। फिर भी, चूंकि वाच्य और वाच्य अर्थ का उपयोग काव्य और अकाव्य दोनों में होता है, इसलिए इस बाह्य समानता के कारण काव्य के प्रसंग में, वाच्य वस्तु और वाच्य अलंकार के अकाव्य होने पर भी, उस पर विचार किया जाता है।

प्रधान वाक्यार्थ

उपर्युक्त कथन में एक और बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वाच्य वस्तु और वाच्य अलंकार को हमने अकाव्य कहा है। इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि जिस वाक्य का प्रधान, अर्थात् अंगी, वाक्यार्थ वाच्य वस्तु या अलंकार हो वह काव्य नहीं। परन्तु, यदि वाच्य अलंकार या वाच्य वस्तु प्रधान वाक्यार्थ न हो, तो वह ध्वनिरूप प्रधान वाक्यार्थ का अंग बनकर आ सकता है।

रसादि वाक्य में जो अलंकार दिखाया जाता है वह वास्तव में यही अंगरूप अलंकार होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि रचना का प्रधान वाक्यार्थ—

१ रसध्वनि,

२ भावध्वनि,

३ वस्तुध्वनि,

४ अलंकारध्वनि,

५ वाच्य अलंकार,

या ६ वाच्य वस्तु।

हो सकता है और रचना का अप्रधान वाक्यार्थ भी—रसध्वनि, भावध्वनि, वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि वाच्य अलंकार, या वाच्य वस्तु हो सकता है।

जब रसध्वनि और भावध्वनि अप्रधान होते हैं तब इन अप्रधानों को रसवदादि

अलंकार कहते हैं।

किसी वाक्य का प्रधान वाक्यार्थ ध्वनि है या नहीं, इसका निश्चय कवि के संरभ या विवक्षा और सहृदयों के अनुभव से होता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा जिस वाक्यार्थ को ग्रहण करता है, वह वाक्य में रहता है। जो वाक्य रस आदि को प्रधानतः ध्वनित करे वह काव्य है।

इस काव्य का ध्वनित अर्थ ठीक ठीक समझने के लिए ध्वनि के भेदों, गुणों, दोषों और अलंकार के स्वरूप को समझना आवश्यक है। इसलिए हमने आगे ध्वनि के भेद, काव्य के गुण दोष और अलंकार का स्वरूप दिया है। काव्य में छन्द का भी अपना स्थान है, और वह भावव्यंजना में सहायक होता है। इसलिए उसपर भी थोड़ा विचार किया गया है।

ध्वनि या व्यंजना के भेद

ध्वनि के पहले दो भेद किए जाते हैं (१) अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूला और (२) विवक्षितवाच्य या अभिधामूला।

अविवक्षितवाच्य के फिर दो उपभेद किए जाते हैं (क) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, (ख) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य।

अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूला ध्वनि में वाक्य का वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं होता। यदि वह सर्वथा अविवक्षित हो, अर्थात् अपना वाच्य अर्थ बिलकुल छोड़कर कोई और अर्थ ग्रहण कर ले, तो उसे *अविवक्षितवाच्य ध्वनि का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य* उपभेद कहेंगे। यदि वाच्य अर्थ किसी दूसरे अर्थ में परिणत हो जाए तो उस दूसरे अर्थ को अविवक्षितवाच्य ध्वनि का अर्थान्तरसंक्रमित उपभेद कहेंगे।

विवक्षितवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि के भी पहले दो भेद हैं

(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में वाच्य अर्थ के बाद व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है पर यह इतनी जल्दी होती है कि वाच्य अर्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम बहुत अच्छी तरह *अनुभव नहीं होता। यही भावध्वनि और रसध्वनि कहलाती है।* इसीके अन्तर्गत (सामाजिक आदि दृष्टियों से अनुचित आलम्बन होने पर) रसाभास और भावाभास, तथा भावशान्ति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता भी आते हैं।

लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के फिर तीन उपभेद हैं—(क) शब्दाश्रित, (ख) अर्थाश्रित, (ग) शब्दार्थाश्रित।

शब्दाश्रित लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के दो रूप हैं वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि।

अर्थाश्रित लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के भी दो रूप हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। पर *इन दोनों रूपों के व्यंग्य अर्थ चार चार प्रकार के होते हैं जिसमें अर्थाश्रित लक्ष्यक्रम* व्यंग्य ध्वनि के वस्तुध्वनि रूप चार, और अलंकारध्वनिरूप भी चार प्रभेद हो जाते हैं और, इनकी कुल संख्या आठ हो जाती है।

यहां अर्थ शब्द का एक दूसरा अर्थ स्पष्ट समझ लेना चाहिए। यदि कोई अभिधेय अर्थ संसार में वस्तुतः होता या हो सकता है तो उसे स्वतःसंभवी अर्थ कहते हैं। यदि कोई अभिधेय अर्थ वस्तुतः नहीं होता या हो सकता, पर कविपरम्परा में वस्तुतः होने वाले के रूप में वर्णित होता आया है, और इसीलिए पाठक समाज में काव्यतथ्य के रूप में स्वीकृत है तो उसे प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अर्थ कहते हैं। उदाहरण के लिए 'स्वाति नक्षत्र में सीपी में पड़ी हुई वर्षा की बूंद मोती बन जाती है,' या नदी में कमल होना 'उदयाचल', 'अस्ताचल', आदि इस प्रकार के प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अर्थ हैं। ये दो भेद अभिधेय के संभवत्व के आधार पर किए गए हैं। चैतन्य या आत्मा की वृत्ति पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से वस्तु-अलंकार, भाव और रस—ये तीन भेद पहले बताए जा चुके हैं जो क्रमशः ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और संकल्पात्मक हैं। शब्दों में ये तीन प्रभाव पैदा होने में कुछ मानसिक व्यापार भी होता है। प्रथम मानसिक व्यापार 'अभिधा' कहलाता है। यदि अभिधेय अर्थ सुसंगत नहीं होता तो द्वितीय लक्षणा व्यापार होता है। अभिधेय या लक्ष्य अर्थ की उपलब्धि के बाद कोई और अर्थ उपलब्ध हो, तो व्यंग्य अर्थ होता है और उसे उपलब्ध करानेवाला व्यापार व्यंजना व्यापार कहलाता है।

इस प्रकार अर्थ को तीन दृष्टियों से देखा जाता है (१) संभवत्व की दृष्टि से, अर्थात् कोई अभिधेय अर्थ स्वतःसंभवी है या प्रौढ़ोक्तिसिद्ध।

(२) चेतना पर प्रभाव की दृष्टि से, अर्थात् वह ज्ञानरूप है या इच्छारूप या संकल्परूप।

(३) शब्द से प्रभाव तक पहुंचने में होनेवाले मानसिक व्यापार की दृष्टि से, अर्थात् वह अभिधाव्यापार मात्र है, या लक्षणाव्यापार भी है और या व्यंजना व्यापार भी है।

ना लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के दो रूप, वस्तुध्वनि के दो रूप, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि जिन वाच्य अर्थों के बाद उपलब्ध होंगे, वे स्वयं या तो वस्तुरूप होंगे और या अलंकाररूप। इस प्रकार,

१ वस्तुरूप व्यंजक अर्थ से ध्वनि के दो रूप हुए—वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि।

और २ अलंकाररूप व्यंजक अर्थ से भी ध्वनि के दो रूप हुए वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि।

व्यंजक वस्तुरूप अर्थ स्वतःसंभवी भी, तो प्रथम के दो रूप हुए। और व्यंजक वस्तुरूप अर्थ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध हो, तो भी उसके दो रूप हुए। इस प्रकार लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में चार भेद हो गए। ऐसे ही चार भेद अलंकाररूप व्यंजक अर्थ के हुए। कुल मिलाकर निम्नलिखित आठ भेद हो गए

व्यंजक अर्थ	व्यंग्य अर्थ
(i) स्वतःसंभवी वस्तुरूप	(१) वस्तुध्वनि
	(२) अलंकारध्वनि
(ii) स्वतःसंभवी अलंकाररूप	(३) वस्तुध्वनि
	(४) अलंकारध्वनि

(iii) प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप (५) वस्तुध्वनि
(६) अलकारध्वनि
(iv) प्रौढोक्तिसिद्ध अलकाररूप (७) वस्तुध्वनि
(८) अलकारध्वनि

आचार्य आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों ने प्रौढोक्तिसिद्ध को कवि प्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेदों में रखा है जिसमें उपर्युक्त आठ की जगह बारह ध्वनिभेद हो जाते हैं। हमारी समझ में कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध में थोडा ही अन्तर है। प्रथम में वाक्य सीधे कवि का कहा हुआ अभिप्रेत होता है और दूसरे में कवि द्वारा प्रस्तुत वक्ता का कहा हुआ अभिप्रेत होता है। यह केवल शैलीगत भेद है।

शब्दार्थाश्रित लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि केवल अलकाररूप होती है।

इस प्रकार ध्वनि के कुल भेद ये चौदह हुए

अविवक्षितवाच्य	(१) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य	१
या लक्षणामूला	(२) अर्थान्तर सक्रमितवाच्य	१
विवक्षितवाच्य या	(३) असलक्ष्यक्रमव्यंग्य रस	१
अभिधामूला	(४) लक्ष्यक्रम व्यंग्य	
	शब्दाश्रित वस्तु अलकार	२
	अर्थाश्रित	८
	शब्दार्थाश्रित	१
		१४

इन ध्वनिभेदों में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सबसे श्रेष्ठ रसध्वनि है। अत उसका स्वरूप यहा दिखाया जाएगा।

रस का स्वरूप

अपने नित्य जीवन में चैतन्य मनुष्य जगत् की विविध वस्तुओं घटनाओं और परिस्थितियों से सुख या दुख अनुभव करता है। जिन वस्तुओं में सुख या दुख अनुभव होता है उन्हें रसविवेचना में 'आलम्बन' कहते हैं। जो परिस्थितिया यह सुख दुख पैदा करने के लिए अनुकूल होती हैं उन्हें 'उद्दीपन' कहते हैं। सुख दुख अनुभव होने पर अनुभवकर्ता में जो शारीरिक परिवर्तन दूसरे मनुष्य को दिखाई देते हैं उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। सुख दुख की समग्र अनुभूति को स्थायीभाव कहते हैं और क्षणिक अनुभूतियों को सचारी या व्यभिचारी भाव कहा जाता है। अनुभवकर्ता को आश्रय कहते हैं। आलम्बन और उद्दीपन को मिलाकर विभाव कहते हैं।

रस का स्वरूप हजारों वर्ष पहले महर्षि भरत ने इस सूत्र में रखा था

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति

श्री मम्मटाचार्य ने यही बात इस प्रकार कही है

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

—काव्यप्रकाश, ४ २८ २८

अर्थात् 'लोक जीवन में होनेवाले, मनुष्य के रति आदि स्थायी भावों के कारणों को विभाव, कार्यों को अनुभाव और सहकारी कारणों को व्यभिचारी भाव कहते हैं। उन (वाच्य) विभाव आदि में व्यक्त स्थायी भाव रस कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के वाचक वाक्यार्थ का व्यंग्य वाक्यार्थ रस होता है। यह अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए कि विभावादि से व्यक्त वाक्यार्थ और रस अभिन्न वस्तुएँ हैं न कि व्यंग्य वाक्यार्थ के बोध से रस पैदा होता है। इस महत्वपूर्ण बात पर ध्यान न देने का ही यह परिणाम हुआ है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनीषी भावयजना और वस्तुव्यंजना के व्यापार को भिन्न कोटि का बता गए।

आधुनिक मनोविज्ञान की विचार धारा में भी भरतमुनि के रससूत्र की सुन्दर पुष्टि होती है। मनोविज्ञान में जिसे SOR फार्मूला कहते हैं, वह वास्तव में भरत का [illegible] नवीन आख्यान मात्र है।

इस सूत्र में चेतना के लिए O (आर्गनिज्म) संकेत [illegible] पर बाह्य पदार्थों में अनुक्रिया होती है। बाह्य पदार्थों को S (स्टिमुलस) संकेत से सूचित करते हैं और अनुक्रिया को R (रिस्पान्स) से। [illegible] और चेतना के अनुभव को हम सूत्र रूप में इस प्रकार रख सकते हैं

S → O → R

अर्थात् बाह्य पदार्थों में चेतना पर कुछ [illegible] पड़ता है। इस प्रभाव का चेतना अनुभव करता है। यह अनुभव चेतना के [illegible] रूप से नहीं कहा जा सकता। बाह्य परिवर्तन में द्वारा का पता चलता है। यह प्रभाव क्या होगा पूर्व के अपने गठन या संस्कारों पर निर्भर है। कारण कि बिना बाह्य पदार्थ का प्रभाव उद्दीपन विभाव दोनों आ जाते हैं। बाह्य पदार्थों में आलम्बन [illegible] अर्थ है वातावरण या परिस्थिति।

इस प्रकार निश्चित रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष जीवन में कुछ पदार्थों के सामने होने पर मनुष्य में रति आदि भाव उद्बुद्ध होते हैं और उनसे बाह्य रूप में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं जैसे पति को देखकर पत्नी की आँखों का [illegible] जाना। जब काव्य में ही पदार्थ [illegible] रूप में प्रस्तुत होते हैं तब पाठक या दर्शक को कुछ आलम्बन विगत से असम्बद्ध प्रभाव अनुभव होता है। यह अनुभव पूर्ण आनन्दमय [illegible],

१ [illegible] ([illegible]) [illegible] २।

स्वप्रकाश, और चतयरूप होता है।

यह रतिभाव आलम्बन विशेष से सम्बद्ध नही होता। इसी बात को इस प्रकार भी कह सकत हैं कि यह रतिभाव तब अनुभव हाता है, जब आत्मा म रजोगुण और तमोगुण दब जात हैं और सत्वगुण का उद्रेक हो जाता है—यह साख्यदशन का शब्द प्रयोग है।

रस जिन स्थायी भावा के पुष्ट उद्बोध को कहत हैं वे मनुष्य प्रकृति के जन्मजात धम हैं। *ये स्थायी भाव ही उदबुद्ध हाकर* मनुष्य को विभिन्न कर्मों म प्रेरित करते हैं। काव्य विभिन्न आलम्बन पाठक के सामने लाकर उसे उचित कम के लिए प्ररित करता है। काव्य से उद्बुद्ध स्थायी भाव आनन्द रूप हाता है इसलिए उसकी प्रेरणा या उपदश कान्तासमिततया होता है अर्थात जसे कान्ता कान्त को अपने से अभिन्न बनाकर, उसकी विकल्पवृत्तिया को दबाकर, कम के लिए प्रेरित करती है, उसी प्रकार उद्बुद्ध स्थायी भाव के आनन्द से आविष्ट मनुष्य आलम्बन के प्रति ग्रहण या त्याग के सकल्प से युक्त हो जाता है। यही रस की श्रेष्ठता और महत्त्व है।

स्थायी भाव आठ हैं—रति उत्साह, जुगुप्सा क्रोध, हास, विस्मय, भय और शोक या करुणा। दशरूपककार ने मन की चार अवस्थाए मानी हैं विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप। उपयुक्त स्थायी भावा म क्रमश य अवस्थाए होती हैं अर्थात रति और हास म विकास, उत्साह और विस्मय म विस्तार जुगुप्सा और भय म विक्षोभ, और क्रोध तथा शोक मे विक्षेप।

शृगार, [illegible] आठ स्थायी भावा की पुष्टि होने पर इन आठ रसा का आस्वाद हाता है—
इन आठ रसा [illegible] रौद्र, हास्य अद्भुत, भयानक, करुण।

तत्त्वज्ञानजनित निर्वेद या शम है। [illegible] 'शात रस माना गया है जिसका स्थायी भाव
कुछ आचाय 'वत्सल' रस मानत है, *और इसका स्थायी भाव वात्सल्य माना* जाता है।

जीवगोस्वामी और अन्य वि[illegible]ने भक्ति को रस माना है, और इसका स्थायी-भाव ईश्वर प्रेम को माना है।

हमार विचार से काव्य मे शम स्थायी [illegible] और शान्त रस माना जा सकता है नाटक म नही। यह भाव तत्त्वज्ञानजनित माना गया है [illegible] तत्त्वज्ञान मनुष्य प्रकृति का जन्मजात धम नही है ससृति-जनित धम है। स्थायी भाव [illegible] का करने की इच्छा के रूप मे हाते हैं। यदि तत्त्वज्ञान से जनित शम किसी कम म [illegible]रित नही [illegible], तो उसके अनुभाव न हाने से नाटक मे रसानुभव नही हो सकता। यदि [illegible]ह किसी कर्म मे प्रेरित करता है जसे *ब्रह्मविहार (मैत्री करुणा, मुदिता, उपेक्षा)* मे, [illegible] वह रति आदि भावा म ही गिना जाएगा, या फिर सचारी भावो की कोटि म रहेगा।

वत्सल को रस मानना हमारी समझ मे अनावश्यक है। [illegible]हाकवि सूर[illegible] के पदो म वत्सल रस माननवाला को उनके प्रधान वाक्याथ पर ध्या[illegible]ना चाहिए। यदि प्रधान वाक्याथ (ईश्वर) प्रीति है, तो वात्सल्यभाव उसका अगम है। यदि प्रधान वाक्याथ ईश्वरप्रीति नही है तो फिर उन पदो का महत्त्व बहुत ही क[illegible]

भक्ति को जो लोग काव्य में रस मानते हैं, उनसे हम सहमत नहीं। वस्तुतः भक्ति प्रत्यक्ष जीवन में परम आनन्द देनेवाला भाव हो सकता है, काव्य में नहीं। कारण यह कि एक तो ईश्वरप्रीति कोई मानवप्रकृति का जन्मजात धर्म नहीं, दूसरे ईश्वर कोई स्वतः सम्भव अर्थ नहीं, प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है। रस के लिए आश्रय में आलम्बन से प्रत्यक्ष जीवन में भावोद्बोध होना चाहिए, और वह आलम्बन सामान्यतया मनुष्यमात्र में वही भाव जगाने में समर्थ होना चाहिए। ऐसा न होने के कारण न तो ईश्वरप्रीति को स्थायी भाव की संज्ञा दी जा सकती है, और न भक्ति को रस की। हाँ, प्रत्यक्ष जीवन में अपने अभ्यास [illegible] —कोई-कोई महापुरुष ईश्वरप्रीति में परमानन्द अनुभव करने लगें यह हो सकता है।

रस और औचित्य

ऊपर बताया जा चुका है कि रस का प्रत्य[illegible]वन से बिलकुल सीधा सम्बन्ध है। चूंकि प्रत्यक्ष जीवन में सामाजिक आदि औचित्य के कुछ नि[illegible] रहते हैं, इसलिए समाज विशेष के साहित्य में उस समाज के औचित्य का अंकुश रहना स्वा[illegible] [illegible]की है। प्राचीन काव्यसमीक्षकों ने औचित्य की कसौटी पर खरे उतरनेवाले आलम्बन आ[illegible] सम्बन्ध से ही रसानुभूति मानी है अनुचित सम्बन्ध वाली अनुभूति को रसाभास कहा है।

औचित्य के निर्धारक देश-काल आदि होते हैं। उदाहरण के लिए, विवाहित दुष्यन्त का शकुन्तला से प्रेम तत्कालीन समाजनीति के अनुसार उचित है परन्तु आज की समाजनीति के अनुसार अनुचित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इसी कारण वर्तमान काल में शाकुन्तल का फिल्मीकरण करते हुए दुष्यन्त के पूर्व विवाहित होने के तथ्य की उपेक्षा कर दी गई।

औचित्य की दृष्टि से परीक्षा की जाए, तो परकीया नायिका सम्बन्धी सब रचनाएँ आज रसाभास की कोटि में आएँगी। पर, इसका निर्णय करने की उचित रीति यही है कि कवि के समकालीन समाज की औचित्य विषयक धारणा देखी जाए।

यहाँ जो कुछ रसाभास के बारे में कहा गया है, वही भावाभास के बारे में भी समझना चाहिए।

भावशान्ति आदि

भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता को अलंकारग्रन्थ में व्यंग्य ध्वनि में अलग से गिनाया जाता है। हमारे विचार से ऐसा केवल स्पष्ट करने के लिए किया जाता है, तथा इनमें और भाव में कोई मौलिक असमानता नहीं है।

भाव

सदन नायक और तरुणी नायिका के उचित रतिभाव (अर्थात् पुनः प्राप्ति के सदन से मिलन की इच्छा) का रति स्थायी भाव कहते हैं जो शृंगाररस बनता है। दशा,

पुत्र, गुरु देश, आदि के प्रति प्रेम को केवल भाव माना जाता है, यह प्रेम रसकोटि तक पुष्ट नही हो पाता। जो विद्वान इनको रस कोटि तक पुष्ट होना मानते हैं वे पुत्रप्रेम के पुष्ट होने पर 'वत्सल रस', और देवताप्रेम के पुष्ट होने पर 'भक्तिरस' मानते हैं।

व्यभिचारी भाव रस की पुष्टि में सहायक होता है यह बात भरतमुनि के रस सूत्र में कही गई है। इसके लिए व्यभिचारी भाव वाच्य होना चाहिए न कि व्यंग्य। यदि व्यभिचारी भाव वाच्य नहीं है व्यंग्य है तो वह रस का सहायक बनने के स्थान पर स्वयं अनुभूति का विषय बनता है, परन्तु रसकोटि तक नहीं पहुंचता।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भावों की संख्या तेंतीस मानी ... है। परन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाटयदर्पण में दिखाया है कि यह संख्या ... आदि अन्य भावों के अस्तित्व का निषेध नहीं करती। श्री रामचन्द्र ... न 'चकपकाहट' भाव की स्थापना की है। सच पूछिए तो मिश्रित भा... संख्या का कहीं अन्त नहीं।

...टयशास्त्र के अनुसार तेंतीस व्यभिचारी भाव निम्नलिखित हैं

निर्वेद ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह स्मृति, धृति व्रीडा, चपलता हर्ष आवेग जडता, गर्व विषाद, औत्सुक्य निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ उग्रता, मति व्याधि, उन्माद मरण त्रास और वितर्क।

स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव ये दोनों मनोविकार हैं, अर्थात् मन की अवस्था विशेष है। भाव शब्द के अनेक अर्थ स्पष्ट करते हुए भावप्रकाशकार ने लिखा है

भाव स्यादं भावनं भूनिरथ भावयतीति वा।
पदार्थो वा क्रिया सत्ता, विकारो मानसोऽथवा ॥—प्रथमो विकार।

इन अर्थों में से केवल मानस विकार के अर्थ में काव्यसमीक्षा में भावशब्द का प्रयोग होता है। इस मनोविकार की क्षणिक तथा इकहरी अवस्थाएं व्यभिचारी भाव हैं और स्थायी अर्थात अधिक देर ठहरनेवाली अवस्थाएं स्थायी भाव हैं। एक स्थायी भाव के उद्बोध में अनेक व्यभिचारी भाव क्रमश आते जाते हैं।

काव्य के गुण और दोष

जिस वाक्य का प्रधान वाक्यार्थ रसध्वनि है उससे मन की रसावस्था कभी आह्लादमय और कभी उद्दीप्त होती है। आह्लादमय रसावस्था माधुर्य गुण वाली कहलाती है, और उद्दीप्त रसावस्था ओज गुण वाली कही जाती है।

इस प्रकार माधुर्य और ओज, ये रस के गुण हैं। रस प्रधान वाक्यार्थ है। प्रधान वाक्यार्थ रूप रस के ये गुण उसके वाक्य में भी गौणरूप से माने जाते हैं। यद्यपि रस व्यंग्य अर्थ है शब्द या वाच्य अर्थ नहीं तब भी रस के गुण शब्द में मानना उपलक्षण मात्र है।

माधुर्य गुण शृंगार करुण, और विप्रलंभ शृंगार रस में होता है, तथा 'ओज गुण वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में होता है।

तीसरा, 'प्रसाद गुण' माधुर्य और ओज दोनों के साथ रहता है। प्रसाद का अर्थ है शीघ्रता से चित्त में व्याप्त हो जाना।

श्री मम्मटाचार्य (काव्यप्रकाश ८ ७४) के अनुसार माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ग में हैं पंचमवर्ण से संयुक्त वर्गीय अक्षर, परन्तु ट ठ, ड ढ को छोड़कर तथा ह्रस्व स्वर से युक्त र, ण। इसकी व्यंजक पदावली में समास छोटे होते हैं अथवा बिलकुल नहीं होते, और रचना सरल होती है।

ओज व्यंजक वर्ण ये हैं वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्ण का क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण से संयोग, र का किसी वर्ण से संयोग या र से किसी वर्ण का संयोग एवं ट, ठ ड, ढ, श, ष। इसकी व्यंजक पदावली में समास लम्बे तथा रचना विकट होती है।

प्रसाद गुण की व्यंजक पदावली वह है, जिसके शब्द सुनते ही अर्थ का ज्ञान हो जाए। यह सब रसों और रचनाओं में हो सकता है।

कौन वक्ता है क्या कथनीय है और क्या काव्यरूप है, इसके अनुसार भी रचना वृत्ति (समास), और वर्णों का विन्यास किया जाता है। अभिप्राय यह है कि यदि कहीं भीमसेन जैसा वक्ता हो या प्रलयाग्नि का वर्णन हो तो उद्धत रचना करनी चाहिए। इसी प्रकार आख्यायिका में शृंगार रस में भी मसृण वर्ण आदि नहीं रखे जाते, कथा में रौद्र रस में भी बहुत उद्धत रचना नहीं की जाती, और नाटकादि में रौद्ररस में भी दीर्घसमास उचित नहीं होते।

दोष

रस की अनुभूति में बाधक पद, वाक्य, अर्थ आदि काव्य के दोष कहलाते हैं। इन दोषों के होने से रस की अनुभूति में कुछ न कुछ बाधा पड़ती है। दोषों का विस्तृत परिगणन 'काव्यप्रकाश' आदि काव्य समीक्षा ग्रंथों में किया गया है। इन दोषों का दोषत्व अन्ततः रसहानि पर ही निर्भर है। रस व्यंजक वाच्य अर्थ की हानि करनेवाले कारण भी दोष कहलाते हैं। अर्थ के वाचक शब्द अर्थात् पद, पदांश, और वाक्य भी वाक्यार्थ और रस के बोध में सहायक होते हैं, अतः उनमें भी दोष रहते हैं।

श्री मम्मटाचार्य (काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास) के अनुसार पदों में ये दोष होते हैं

१ श्रुतिकटु	जो सुनने में बुरा लगे।
२ च्युतसंस्कृति	व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध।
३ अप्रयुक्त	व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी कवियों द्वारा जो प्रयोग नहीं किया जाता।
४ असमर्थ	किसी अर्थ अप्रचलित हो गए अर्थ में शब्द का प्रयोग।
५ निहतार्थ	दो अर्थों वाले शब्द का कम प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग।
६ अनुचितार्थ	अनुचित अर्थ में शब्द का प्रयोग।
७ निरर्थक	केवल छन्द के अनुरोध से पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त पद।
८ अवाचक	अन्यार्थक शब्द का प्रयोग।

९ अश्लील — लज्जाव्यंजक, घृणाव्यंजक या अमंगलव्यंजक।
१० संदिग्ध — जहां किसी शब्द के दो अर्थ हों और यह संदेह रहे कि उसका किस अर्थ में प्रयोग हुआ है।
११ अप्रतीत — किसी शास्त्र विशेष में प्रचलित शब्द का प्रयोग। ऐसे शब्दों को अंग्रेज़ी में 'जार्गन' कहते हैं।
१२ ग्राम्य — जिसका प्रयोग शिष्ट व्यवहार में नहीं चलता।
१३ नेयार्थ — रूढ़ि और प्रयोजन से शून्य लक्षणा।
१४ क्लिष्ट — जिसका अर्थ सरलता से समझ में न आए।
१५ अविमृष्टविधेयांश — विधेय अंश जिसमें प्रधानतया निर्दिष्ट नहीं किया गया।
१६ विरुद्धमतिकृत् — जिसमें विवक्षित से विरुद्ध अर्थ प्रतीत हो।

इन सोलह में से तीन अर्थात् च्युतसंस्कृति, असमर्थ, और निरर्थक को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्यगत भी होते हैं और पदांशगत भी।

केवल वाक्यगत दोष इक्कीस हैं।

१ प्रतिकूलवर्णता — जिस रस में जो वर्ण गुणों के अनुकूल बताए गए हैं उनका प्रयोग न करना।
२ उपहतविसर्गता और ३ लुप्तविसर्गता — विसर्ग को ओ रूप हो जाना और विसर्ग का लोप हो जाना।
४ विसंधि — संधि जहां अवश्य होनी चाहिए वहां न करना, संधि हो जाने से अश्लीलता की व्यंजना होना और संधि हो जाने से उच्चारण में कठिनाई होना।
५ हतवृत्तता — छंद रचना में असतता और रस के प्रतिकूल छंद का प्रयोग।
६ न्यूनपदता — किसी पद की कमी होना।
७ अधिकपदता — किसी पद की अधिकता होना।
८ कथितपदता — एक ही शब्द का दो बार प्रयोग।
९ पतत्प्रकर्ष — पहले हिस्से में जैसी रचना हो बाद के हिस्से में उससे दुर्बल रचना होना।
१० समाप्तपुनरात्तता — एक वाक्य समाप्त करके उसे फिर शुरू कर देना।
११ अर्धान्तरैकपदता — छंद के पहले आधे भाग में होने योग्य कोई पद पिछले आधे में रख देना।
१२ अभवन्मतसम्बन्ध — जिन पदों का सम्बन्ध इष्ट है, उनका सम्बन्ध न होना।
वाच्यस्यानभिधान — अवश्य कथनीय शब्द का कथन न करना।
अस्थानस्थपदता — किसी पद को अनुपयुक्त क्रम में रखना।
अस्थानसमासता — जहां समास अनुपयुक्त हो, वहां समास करना।

१६ सकीर्णता	जहा एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य म घुस जाए।
१७ गर्भितता	जहा एक वाक्य क भीतर दूसरा वाक्य घुस गया हो।
१८ प्रसिद्धिविरुद्धता	कवि प्रसिद्धि क विरुद्ध प्रयोग।
१६ भग्नप्रक्रम	जिस पद स प्रकरण आरम्भ किया, आग उसको छोड दना।
२० अक्रमता	अनुचित क्रम रखना।
२१ अमतपरार्थता	जहा दूसरा अथ प्रकृत अथ के विरुद्ध हो।

इनमे से उपहतविसगता और लुप्तविसगता केवल सस्कृतभाषा स आए शब्दो म होते हैं।

अथगत दोष

अथगत दोष तेईस हैं।

१ अपुष्ट	वहा अनावश्यक विशेषण आदि रखे हो।
२ कष्ट	जहा अथ समभन म कठिनाई हो।
३ व्याहत	परस्पर विरोधी कथन।
४ पुनरुक्तता	जो बात एक बार कह चुके उसे फिर कहना।
५ दुष्क्रमत्व	अथ क महत्व की दृष्टि स उचित क्रम न रखना।
६ ग्राम्यत्व	गवारू बात कहना।
७ सदिग्धत्व	यह स्पष्ट न हो कि वक्ता दो म स कौन-सा बात को प्रधानता द रहा है।
८ निर्हेतुत्व	विना कारण बताए काय प्रस्तुत करना।
६ प्रसिद्धिविरुद्धता	कविप्रौढोक्ति म मनमाना परिवतन कर दना।
१० विद्याविरुद्धता	शास्त्रविशेष से असगत बात कहना।
११ अनवीकृतत्व	जो बात पहल कही वही बार-बार कहना।
१२ सनियमपरिवृत्ति	जहा एक वस्तु मात्र का अवधारण करना चाहिए, वहा उस वस्तु का विना अवधारण के कथन।
१३ अनियमपरिवृत्ति	जहा किसी वस्तु का अवधारण नहा करना चाहिए वहा अवधारण करना।
१४ विशेषपरिवृत्ति	जहा विशेष वस्तु का कथन करना चाहिए वहा सामान्य का कथन।
१५ अविशेषपरिवृत्ति	जहा सामान्य का कथन करना चाहिए, वहा विशेष का कथन।
१६ साकांक्षता	किसी आकांक्षित पद का प्रयोग न होना।
१७ अपदयुक्तता	अनुपयुक्त स्थान पर अनावश्यक पद जोड दना।
१८ सहचरभिन्नता	अच्छी बातो क साथ बुरी बातो को रख दना।
१६ प्रकाशितविरुद्धता	जो बात कह चुके हैं, उसक विरुद्ध बात कहना।
२० विध्ययुक्तता	विधेय अश का उचित रूप न देना।

२१ अनुवादायुक्तता जिसका कथन अनुवाद, अर्थात् उद्देश्य के रूप में नहीं करना चाहिए उसका उद्देश्य के रूप में कथन करना।
२२ समाप्तपुनरात्तता बात पूरी हो जाने के बाद उसे फिर शुरू कर देना।
२३ अश्लीलता शिष्ट समाज में न कहने योग्य बात कहना।

ये दोष वक्ता प्रसंग आदि की दृष्टि से उचित होने पर दोष नहीं रहते।

रस दोष

जो दोष केवल रस से सम्बन्ध रखते हैं ये निम्नलिखित हैं

१ व्यभिचारी, रस, और स्थायी भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन।

व्यभिचारी भाव जहां व्यंग्य अभिप्रेत हो, वहीं उसकी स्वशब्दवाच्यता दोष गिनी जाएगी। जहां वह रस की प्रधान व्यंग्यता में सहकारी बनकर आता है वहां वह वाच्य होता है।

२ अनुभाव और विभाव की कठिन कल्पना द्वारा व्यंजना।
३ रस के प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण।
४ रस की बारम्बार दीप्ति।
५ अनवसर में रस का विस्तार या विच्छेद।
६ अंग रूप अर्थात् अप्रधान रस का बहुत विस्तार करना।
७ अंगी अर्थात प्रधान रस को भूल जाना।
८ पात्रों की प्रकृति के विरुद्ध निरूपण।
९ अनंग अर्थात् प्रधान रस के अनुपकारक अर्थ का कथन।

दोष समीक्षा

यद्यपि ये दोष संस्कृत रचनाओं के प्रसंग में बताए गए हैं पर साधारणतया प्रत्येक भाषा की रचना में ये हो सकते हैं। इनका विस्तृत उल्लेख इसलिए किया गया है कि मौलिक रचनाओं की तरह अनुवाद रचनाओं में भी इन दोषों का अनुसंधान करना चाहिए। इनके अतिरिक्त, अनुवादविषयक दोषों का उल्लेख खंड पांच में किया गया है।

पद दोषों के बारे में यह ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी भाषा की पदरचना और संस्कृत भाषा की पदरचना में बड़ा अंतर है जैसा कि अध्याय दो में स्पष्ट किया जा चुका है। हमें हिंदी भाषा की पदरचना पद्धति के अनुसार ही उपर्युक्त दोषों का संकेत करना चाहिए।

यही बात कुछ वाक्य दोषों के बारे में भी समझनी चाहिए।

अर्थ दोष और रस-दोष दोनों भाषाओं में समान महत्त्व रखते हैं।

अलंकार

विचित्र वस्तु को अलंकार कहते हैं। अलंकार को चित्रकाव्य माना गया है और

अधम या तृतीय कोटि का काव्य कहा गया है।

अलकार वाच्य होता है। इसका अर्थ यह है कि अलकार काव्य में वाच्य रूप से आते हैं, या वाच्यार्थ प्रधान होते हैं। उपमा, रूपक, आदि अलकार वाच्य रूप से आते हैं, और समासोक्ति आदि वाच्यार्थ प्रधान होते हैं, यद्यपि, इनमें कुछ व्यंग्य वस्तु भी रहती है।

अलकार चूकि विचित्र वस्तु का ही नाम है, इसलिए अलकारों की निश्चित संख्या नहीं है। प्रतिभा सम्पन्न लेखक नये नये ढंग से बात कहकर नये-नये अलकारों की सृष्टि करते रहते हैं।

जब कोई वस्तु वैचित्र्य व्यंग्य होता है तब वह अलकारध्वनि कहलाता है। वस्तुत यहा अलकार शब्द का प्रयोग अलंकरण के अर्थ में होता है, ब्राह्मण-श्रमण न्याय से। अभिप्राय यह कि अलकार व्यंग्य नहीं होता, वाच्य ही होता है। पर जब कोई वस्तु वैचित्र्य व्यंग्य होता है तब उसे उस वैचित्र्य के वाच्य रूप अलकार के नाम से कह देते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि काव्य रसध्वनि भावध्वनि वस्तुध्वनि और अलकार ध्वनि को कहते हैं। यही काव्य अलकार्य है। इसी की शोभा बढ़ाने के लिए वाच्य अलकार का प्रयोग होता है। पर यदि किसी काव्य में उपयुक्त तीनों ध्वनियों में से कोई भी न हो, और वाच्य वाक्यार्थ अलकार रूप हो तो वह चित्रकाव्य कहलाएगा।

चित्रकाव्य या चित्रवाक्य अन्तत वस्तु की तरह रसादि के विभावादि ही होते हैं। इसलिए उनका रस से सम्बन्ध तो बन जाता है पर उनमें व्यंग्यार्थ लेशमात्र और अप्रधान होने से उन्हें अधम चित्रकाव्य की कोटि में गिनते हैं।

अलकार का महत्त्व

आचार्य मम्मट ने काव्य में अलकार का महत्त्वपूर्ण स्थान माना है। उनके काव्य लक्षण से यह बात पता चलती है। उन्होंने कहा है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन क्वापि,' अर्थात् काव्य दोषरहित और गुणयुक्त शब्दार्थ को कहते हैं जो कहीं-कहीं बिना अलकार भी हो सकता है। मतलब यह कि काव्य में सामान्यतया अलकार का होना आवश्यक है, पर कहीं-कहीं अलकार बहुत स्पष्ट न होने पर भी काव्य होता है।

काव्य में अलकार के महत्त्व पर आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती और परवर्ती अन्य काव्य समीक्षक भी लगभग इसी विचार के हैं।

परन्तु एक बात ध्यान रखनी चाहिए। वाच्य अलकार जब प्रधान वाक्यार्थ होता है तब वह चित्रकाव्य कहलाता है। जब भाव या रस प्रधान वाक्यार्थ होता है तब वाच्य अलकार काव्य का अंग मात्र होता है। इसलिए काव्य समीक्षा में वाच्य अलकार का निर्णय विस्तारपूर्वक करने की शैली काव्यरचना और काव्य-समीक्षा के साथ न्याय नहीं करती। जबकि श्रेष्ठ काव्य रसध्वनि, वस्तुध्वनि, या अलकारध्वनि है तब उसके अंग-रूप वाच्य अलकार को अधिक महत्त्व देना कहा तक उचित हो सकता है? अनुवाद में भी हमें इस प्रधान गौण विवेक से ही समीक्षा करनी उचित है।

अलकारो के भेद

जिन अलकारो का अस्तित्व शब्द, अर्थात् शब्दाश, मात्र पर होता है, उन्हे शब्दालकार कहते हैं। जिन अलकारो का अस्तित्व अर्थ, अर्थात् वाच्यार्थ, पर आश्रित होता है उन्हे अर्थालकार कहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि अलकार काव्य का अगमात्र है गौण अश है, और वह रसव्यजना का उपकरण नही है। दो प्रकार के अलकारो म से भी शब्दालकार का काव्य म कोई विशेष महत्त्व नही। शब्दालकार का प्रेम कवि के सामर्थ्य की अधिकता को सूचित नही करता, और रसव्यजना म बाधक बन जाता है। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने शृगार रस म शब्दालकार को अग्राह्य माना है।

ध्वन्यात्मभूते शृगारे यमकादिनिबधनम्।
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ॥

—ध्वन्यालोक २ १५

अर्थालकार भाव की तीव्रता के अनुरूप हो तो अवश्य काव्य की शोभा बढाता है परन्तु उसे भी जब अधिक महत्त्व या विस्तार दिया जाता है तब वह रसव्यजना मे बाधक बन जाता है। इसीलिए अर्थालकार के बारे मे श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है

ध्वन्यात्मभूते शृगारे समीक्ष्य विनिवेशित ।
रूपकादिरलकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥

—ध्वन्यालोक २ १७

विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥

—ध्वन्यालोक २ १८

अनुवाद म मूल भाषा की पदावलि नही रहती। इसलिए मूल भाषा के वाक्य मे रखा गया शब्दालकार अनुवाद म आ ही नही सकता। सस्कृत के तत्सम शब्दो का हिन्दी म प्रचुर प्रयोग होने म कहीं-कहा यह सभव है कि कोई शब्दालकार अनुवाद मे आ सके। परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, रसव्यजना म सहायक न होने के कारण इस बात का कोई महत्त्व नही दिया जा सकता कि मूल काव्य का कोई शब्दालकार अनुवाद मे आया या नही।

अर्थालकार अनुवाद म सामान्यतया आने चाहिए। जब कोई अर्थालकार ही मूल म प्रधान वाक्यार्थ है तब तो वह अनुवाद म पूरी तरह अविकृत रूप मे आना ही चाहिए। जहा अर्थालकार मूल म रसरूप प्रधान वाक्यार्थ का अग है वहा वाक्यार्थ के अनुवाद म भी अगरूप से वह अलकार आना चाहिए। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि अनुवाद की श्रेष्ठता का निर्णय प्रधानत रसव्यजना के आधार पर होगा और अलकार का प्रश्न रस के मुकाबले गौण ही रहेगा।

छन्द

काव्य म छन्द का कोई अपरिहार्य स्थान नही माना गया। कारण यह है कि छन्द ऐन्द्रिय सवदन मात्र है, अथात इसका आत्मा म ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न रूप अथात्मक वत्तिया पदा करने म कोई उपयोग नही है। बिना काव्य के भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और केवल ज्ञानवत्ति पदा करनेवाली शास्त्रीय रचना का भी छन्दबद्ध किया जा सकता है। आयुर्वेद, गणित, आदि क अनेक सस्कृत ग्रन्थ छन्दोबद्ध है। हिन्दी म अनेक सूक्तिया छन्दबद्ध हैं—य नीतिशास्त्र और आचारशास्त्र की रचनाए केवल छन्दबद्ध होने के कारण कभी-कभी कविता के क्षेत्र म समझ ली जाती हैं। दशरूपककार न नत्त को ताल और लय के आश्रित बताया है नृत्त ताललयाश्रितम (दशरूपक, १ ६)। यह नृत्तात्मक स्वरूप ही छन्द का है। नत्त भाव या पदाथ पर आश्रित नत्य स, तथा रस या वाक्याथ पर आश्रित नाटय से, भिन्न होता है। वह भाव या रस नही पैदा करता—केवल एक विशेष प्रकार का तालनयात्मक इन्द्रिय-सवेदन पदा करता है। यही बात ताललयात्मक छन्द के बारे म है। परन्तु इस कथन पर सदेह नही किया जा सकता कि छन्द भी रसव्यजना म सहायक होता है। स्वय श्री मम्मटाचाय ने वाक्यगत दोषो म हत वत्तता दोष गिनाया है। उनका कथन है कि छन्द रस के अनुकूल होना चाहिए, प्रतिकूल नही। प्रतिकूल छन्द दोष है।

छन्द वस्तुत वाक्य की विशेषता है, और इसे 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादय' के 'रचना' के अन्तगत गिनना चाहिए।

यद्यपि काव्यशास्त्रियो ने छन्द का काव्य के प्रसग म समीक्षणीय नही माना, फिर भी छन्द को काव्य का परिचायक मानने की धारणा बडी व्यापक है। बहुत बार केवल छन्द देखकर रचनाओ को कविता या काव्य मान लिया जाता है। लोक-व्यवहार म तो यह भावना सवत्र प्रचलित है।

सच पूछिए तो यह भावना नई नहीं, बहुत ही पुरानी है। आदिकवि वाल्मीकि क स्वत स्फूत उद्गार

> मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।
> यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥
>
> —वाल्मीकीय रामायणम्, २ १५

का प्रथम कवितर या लौकिक काव्य मानते हुए इसकी छन्दोमयता का ही विशेष उल्लेख किया गया था।

छन्द का महत्व

छन्द का कविता क साथ अभिन्न करने की इस प्रवृत्ति का एक विशेष कारण है। कविता म साधारणतया भाव और रस प्रधान होते हैं। रस म अनेक अनुकूल सचारी भाव क्षण भर क लिए आते हैं और चल जाते हैं। क्षणिक भावों की यह अवस्था चित्त म तरलता या द्रवत्व लाती है। छन्द इस तरलता या द्रवत्व के अस्थिर रूपों का लयात्मक तालमात्रा

द्वारा जोड़े रखता है, जिससे वे अनेक क्षणस्थायी भाव एकत्र संगठित होकर चित्त को अधिक स्थायी आह्लाद प्रदान करते हैं। अनेक भावकणों को छन्द एक तरंग के रूप में बांधे रहता है। जब छन्द, भावकणों के स्थान पर, नान कणों को बांधकर प्रस्तुत करता है, तब इस बन्धन और भावबन्धन में सादृश्य होने से किसी रचना को अकेले छन्द के कारण कविता कह दिया जाता है और काव्य समझ लिया जाता है।

छन्द का स्वरूप

'छन्द: पादौ तु वेदस्य' (शिक्षाग्रन्थ ३१७) कहकर पाणिनि ने छन्द का प्रयोजन और कार्य स्पष्ट किया है। छन्द वेद का पैर है, ज्ञान के प्रेषण, स्थानान्तरण या गति का साधन है। इस साधन का महत्त्व इतना अधिक हुआ कि छन्द वेद का नामान्तर ही हो गया।

स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न करते हुए ऋग्वेदसर्वानुक्रमणिकाकार ने 'यदक्षरपरिमाण तच्छन्द:' कहा, अर्थात अक्षरों के परिमाण को छन्द कहते हैं। इसकी पुष्टि पिंगल च्छन्द सूत्रम ने की—'छन्द शब्देनाक्षरसंख्यावच्छेदोऽभिधीयते' (अ० २ सूत्र० १ की वृत्ति)। किन्तु यह परिभाषा केवल वेदों में प्रयुक्त छन्दों के लिए है। अन्य छन्दों में अक्षरों की संख्या ही नहीं लघु-गुरु की तरंग या लय भी रहती है। पहले वेदेतर छन्द के प्रकट करनेवाले महर्षि वाल्मीकि स्वयं छन्द की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हैं

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वित ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥

—वाल्मीकीय रामायणम् २ १८

यहां पादबद्धता, 'अक्षरसमता' और 'तन्त्रीलयसमन्वितता' ये तीन विशेषताएं लक्ष्य की गई हैं। इन तीन को छन्द के शरीर की विशेषता कह सकते हैं। चौथी विशेषता, जो छन्द की आत्मा है 'शोकार्तस्य प्रवृत्तता' है—शोक भाव की तीव्रता होने पर छन्द का निर्माण हुआ है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'प्राणमानाच्छन्द'[1] परिभाषा करते हुए मापने की तीन पद्धतियां—गिनती, तोल और लम्बाई—के आधार पर अक्षर छन्द, गणच्छन्द और मात्रिक जातियों का व्याख्यान किया है।

डा० पुत्तूलाल शुक्ल की परिभाषा यह है

अखण्डा वैखरीधारा मात्रावर्णैस्तरंगिता ।
लयच्छन्द सुविद्यन्ते लयखण्डानि तानि नो ॥[2]

वस्तुत छन्द प्राण की लय और मात्रा (या माप) अथवा लयतालबद्ध वैखरी है। लघुगुरु क्रम ही लय है, जिससे प्राण में साम्य की स्थापना होती है। चार पाद चार ताल हैं। लघु और गुरु भारसूचक शब्द हैं। इस भार को बलाघात भी कहते हैं। संस्कृत और हिन्दी (खड़ी बोली) साहित्य में यह भार या बलाघात मात्रा के स्वरूप के अनुसार चलता

१ पिंगलच्छन्द सूत्रम्—भूमिका।
२ आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना पृष्ठ ३१।

है—ह्रस्व मात्रा लघु दीर्घमात्रा गुरु, परन्तु संयुक्त व्यंजनध्वनि से पहले वाली ह्रस्व मात्रा गुरु, अनुस्वार और विसर्ग वाली ह्रस्व मात्रा भी गुरु। ब्रज, उर्दू तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में पद्य में यह भार सदा मात्रा के अनुसार नहीं होता। अनेक छन्दों में यह लय के अनुसार डाला जाता है जिससे दीर्घ मात्रा का लघु और ह्रस्व मात्रा का गुरु उच्चारण हो जाता है। उदाहरण के लिए

मुख मारि निहारत पाछें जबै रद कन्ध सा एक लगावत है।[1]

यहा पाछें और कन्ध मा के 'छें' और 'सा' में दीर्घ स्वर होते हुए भी बोलने हुए भार कम करके लघु रखने पर ही लय रह पाती है। अक्षरछन्द वैदिक तथा वृत्त, दो प्रकार के होते हैं। वैदिक अक्षरछन्दों में लय विवक्षित नहीं होती। वृत्त, गणच्छन्दों और मात्रिक छन्दों में लय विवक्षित होती है। परन्तु वृत्तों और गणच्छन्दों में यह पूर्णतया नियत और मात्रिक जातियों में साधारणतया नियत होती है।

नाट्यशास्त्रकार भरत ने ठीक ही लिखा है कि ऐसा कोई वचन नहीं जो छन्द-रहित हो।[2] परन्तु वहां उनका अभिप्राय शास्त्रीय यथार्थता का महत्त्व समझाने का है। एकाक्षर पाद वाले उक्त नामक छन्द में वह लय नहीं आ पाती जो भावव्यंजना की सहायक हो।

पदबंध के दो भेद—चूर्णपद और निबद्धपद—करते हुए नाट्यशास्त्रकार ने निबद्धपद का वर्णन इस प्रकार किया है

नियताक्षरसम्बंधं छन्दोयतिसमन्वितम्।
निबद्धं तु पदं ज्ञेयं सतालपतनात्मकम्॥

—ना० शा० १४ ३६

अर्थात् जिस पदबंध में अक्षरों का नियत क्रम से सन्निवेश हो, निश्चित छन्द (या माप) और यति हो, तथा ताल के अनुसार (पाद) हो, उस पदबंध को निबद्धपद कहते हैं।

संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि भाव की तीव्रता के समय, लय और ताल में बद्ध प्राण की मात्रा को छन्द कहते हैं।

उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि भाव की तीव्रता के भेद से छन्दों में लय (द्रुत, मध्य, विलम्बित आदि) का ताल का और अक्षरों या मात्राओं की संख्या का भेद होना है और होना चाहिए।

छन्द के विषय में आचार्यों और विद्वानों ने काव्य रचनाओं के आधार पर छन्द और भाव या रस का सम्बन्ध करनेवाले कुछ नियम निकाले हैं जिनका सार डा० पुत्तूलाल शुक्ल के गवेषणा प्रबंध 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना' के पृष्ठ ८६ ८७ के आधार पर यहां प्रस्तुत है

[1] शकुन्तला नाटक, राजा लक्ष्मणसिंह पद्य ३३ अंक १।
[2] छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।
—ना० शा० १४ १४

विभिन्न रसों में छंदों की अनुकूलता

शृंगार इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित वंशस्थ, मत्तमयूर, दुर्मिल, मदिरा, घनाक्षरी।

आर्या गीति उद्गीति विष्णुपद, सरसी सार, मरहठा, माधवी ताटंक, मानव (१४ मात्रा) वीर, दोहा, चौपाई, रोला, राधिका, हरिगीतिका, पीयूषवर्षी, प्लवंगम, अरिल्ल शृंगार, पद्धरि पादाकुलक, योग, हाकलि, लीला, चौपाई त्रिलोकी, सखी वीर, विधाता रूपमाला, मधुमालती माधवमालती सरस्वती, कामिनी, दिग्पाल।

वीर और रौद्र रस शार्दूलविक्रीडित, भुजंगप्रयात स्रग्धरा, पंचचामर वंशस्थ, शिखरिणी वीर, अरिल्ल छप्पय रोला, हरिगीतिका, अमृतध्वनि मोतियदाम, कुंडलिया, नाराच पद्धरि त्राटक, घनाक्षरी, त्रिलोकी, पद्धरि और घनाक्षरी पर आश्रित मुक्त छंद।

करुण मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, वंशस्थ, मालिनी शार्दूलविक्रीडित, हरिणी, शालिनी रथोद्धता।

वैतालीय आर्या पुष्पिताग्रा मानव, ताटंक हाकलि पीयूषवर्षी हरिगीतिका, रूपमाला सखा, प्लवंगम, रोला, चौपाई, विष्णुपद, सार, पादाकुलक, त्रिलोकी सुमेरु, उर्मिला, विधाता, सरसी, शृंगार, चौपई, मधुमालती सरस्वती कामिनी, माधवमालती, सवैया।

हास्य दोधक (? मम्मट), कवित्त सवैया, त्राटक (? भानु, वामन) हरिगीतिका शृंगार, चौपाई ताटंक योग सरसी, माधवी।

वीभत्स रोला, घनाक्षरी, छप्पय, दोहा चौपाई, सवैया।

भक्ति शिखरिणी अनुष्टुप् वसन्ततिलका, त्रोटक, शार्दूलविक्रीडित स्रग्धरा, भुजंगप्रयात, इन्द्रवज्रा, पंचचामर।

चौपाई, दोहा पद, भजन (विष्णुपद सार, सरसी और *रूपमाला के आधार पर*) नाराच रोला, त्रिभंगी, दुर्मिल, चौपई अरिल्ल, ताटंक, दंडक, झूलना, हरिगीतिका, पद्धरि, शृंगार।

वात्सल्य पद ताटंक चौपाई, चौपई अरिल्ल, हाकलि, सखी शृंगार सार, घनाक्षरी आर्यागीति मिताक्षरी।

शान्त मन्द्राक्रान्ता द्रुतविलम्बित शिखरिणी, वंशस्थ दोहा चौपाई सोरठा, रोला, चौपदा रूपमाला कुंडली, सखी, सबद (पद) हरिगीतिका, मोहिनी त्रिभंगी, झूलना ताटंक अरुण पद्धरि दंडक वीर मरहठा, माधवी, सरसी, चतुष्पदी, सरस्वती, शक्तिपूजा, योग गोपी, मानव और घनाक्षरी।

प्रकृति चित्रण और रूपचित्रण—द्रुतविलम्बित मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, रोला, त्रिलोकी ताटंक पादाकुलक चतुष्पद पीयूषवर्षी, राधिका, सार, रूपमाला, सरसी, शृंगार चौपाई, *शृंगारहार (१६ १२ अन्त ऽ।), रोला, मानव चतुष्पदक (१५ मात्रा, अन्त ॥*[१]

साराश

काव्य के अनुवाद की प्रक्रिया काव्य रचना की प्रक्रिया के सदृश है।

वाक्यार्थ वस्तु अलकार, भाव और रसरूप होता है। वस्तु-अलकार वाच्य भी होते हैं, व्यग्य भी। भाव और रस व्यग्य होते हैं।

रस भावप्रधान वाक्य या प्रबध उत्कृष्ट काव्य कहलाता है।

अलकार, भाव और रसरूप वाक्यार्थ के अनेक भेद हैं।

यह वाक्यार्थ जिन शब्दों से गृहीत होता है, उन्हें वाक्य कहते हैं। प्राण की मात्रा और लघु-गुरु स्वर की नियमित तरग छन्द कहलाती है। यह तरग भावरसरूप वाक्यार्थ के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है।

अनुवाद प्रबध की परीक्षा करने के लिए मूल प्रबध के ठीक वाक्यार्थ उसके सहायक या बाधक गुण दोष, और छन्द को जानना और अनुवाद प्रबध के वाक्यार्थ और छन्द आदि से तुलना अपेक्षित है।

४

नाटक का स्वरूप और अनुवाद की समस्याए

अभिनेय काव्य को नाटक कहत है।[1] दूसरे शब्दो म नाटक म अभिनय द्वारा वाक्याथ का व्यजना की जाती है।[2]

पिछले अध्याय म बताया जा चुका है कि काव्य रसप्रधान वाक्य होता है। नाटक के वाक्यरूप का पाठ्य कहते हैं। जब वह पाठ्य गान क लिए होता है तब उसे गीत कहा जाता है। पाठ्य का ही अग, नेपथ्य (वेष) और सात्त्विक भावो से अभिनय किया जाता है, जो रस का व्यजक होता है।

पाठ्य, गीत अभिनय और रस से मिलने पर सर्वागपूर्ण नाटक होता है जसा कि भरतमुनि ने लिखा है

> एव सकल्प्य भगवान सववेदाननुस्मरन।
> नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदागसम्भवम॥
> जग्राह पाठ्यमग्वेदात सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथवणादपि॥
>
> —ना० शा० १ १६–१७

अर्थात नाट्यवेद के चार अगो—पाठ्य अभिनय, गीत और रस—का जन्म क्रमश चार वेदो—ऋक् यजुष साम और अथव—से हुआ।

रस के सम्बन्ध मे काव्य के प्रसग म पिछले अध्याय म चर्चा की जा चुकी है। अभिनय करनेवाले नायक आदि पात्र होते हैं। नाटक की दृष्टि से गीत के भेदो का उल्लेख इस अध्याय म किया जाएगा।

नाटक मे, जसा कि अभी कहा गया वाक्याथ का अभिनय होता है। यदि केवल पदाथ का अभिनय हो तो उसस रस की व्यजना नही हो सकती—वह भाव मात्र की व्यजना कर सकता है। इस प्रकार के अभिनय को नृत्य कहते हैं। यदि अभिनयरूप गात्र-विक्षेप केवल ताल अर्थात कालसाम्य और लय के आश्रित हो, तो वह नृत्त कहलाता है।[3] यहीताललयात्मकता छन्द म भी होती है (देखो खड ३) और छन्द का प्रभाव वही

१ नाट्यदपण १ २।
२ ना यशास्त्र, १४ २।
३ अन्यद्भावाश्रय नृत्य नृत्त ताललयाश्रितम्। आद्य पदार्थाभिनय।

—दशरूपक १.९

होता है जो नत्त का—अर्थात वह भाव या रस का व्यंजक नहीं होता, उनकी व्यंजना में सहायक मात्र होता है।

दशरूपककार ने नाटक या रूपक के केवल ये दस भेद माने हैं १ नाटक, २ प्रकरण, ३ भाण, ४ प्रहसन, ५ डिम, ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ अंक, १० ईहामृग।

नाटक सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृगा इति॥

—दशरूपक, १ ८

इनके अतिरिक्त डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, भाण, प्रस्थान, रासक, काव्य—ये सात नृत्य के भेद हैं।

नाट्यदर्पणकारों ने नाटक के इन दस भेदों के अतिरिक्त दो और भेद नाटिका और प्रकरणी भी माने हैं।

नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ।
व्यायोगः समवकारो भाणः प्रहसनं डिमः॥
अंक ईहामृगो वीथी

—नाट्यदर्पण १ ३-४

इन दस या बारह प्रकार के नाटकों में परस्पर भेद करनेवाली तीन विशेषताएं हैं—कथावस्तु (या पाठ्य), नेता या मुख्य पात्र और रस।[1]

इनमें पहला स्थान वस्तु का है और वस्तु के गठन या विधान का नाटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वस्तु या इतिवृत्त

नाटकीय कथावस्तु या इतिवृत्त को भरतमुनि ने नाट्य का शरीर कहा है। इस शरीर में पांच संधियां या कथावस्तु के खंड होते हैं

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
पंचभिः संधिभिस्तस्य विभागः सम्प्रकल्पितः॥

—ना० शा०, १९ १

इस प्रकार पांच संधियों वाले कथानक को इतिवृत्त नाम दिया गया है। ऊपर दिए गए श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है 'तु शब्दो व्यतिरेके—काव्यमात्रस्यानभिनयस्य तावद् वर्तमानं शरीरं, नाट्यस्य त्वभिनयरूपस्य इति एव प्रकारतया यद्रुपकृतं वृत्तं, अत एवेतिवृत्तशब्दवाच्यं तद्वस्तु शरीरं रसा पुनरात्मा।' अर्थात् वृत्त तो प्रत्येक काव्य के शरीर को कहते हैं वह अभिनेय हो न या हो। इतिवृत्त शब्द उस नाटकीय कथावस्तु के लिए आता है जो विशेष प्रकार से काट-छांटकर बनाई गई है।

1 वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।

—दशरूपक १ ११

इतिवृत्त के दो भेद होते हैं आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक का अर्थ है मुख्य और प्रासंगिक का अर्थ है सहायक। दशरूपककार के अनुसार, अधिकार शब्द का अर्थ है फल की प्राप्ति। फलप्राप्ति तक जो मुख्य व्यापार किए जाते हैं, उनका वृत्त आधिकारिक कहलाता है। फलप्राप्ति के सहायक कार्यों का वृत्त प्रासंगिक वृत्त कहलाता है।

पांच कार्यावस्थाएं

जो फल प्राप्त करना होता है उसकी प्राप्ति में ये पांच अवस्थाएं अवश्य होती हैं प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलयोग।

जो फल प्राप्त होना है उसके प्रति औत्सुक्य पैदा होना प्रारम्भ कहलाता है। *उसकी प्राप्ति के लिए किए जा रहे व्यापार तथा अत्यधिक औत्सुक्य को प्रयत्न कहते हैं।* जब फल की प्राप्ति की कुछ आशा हो जाती है, तब प्राप्त्याशा या प्राप्तिसंभव अवस्था होती है। जब फल प्राप्ति होने का निश्चय हो जाता है तब नियताप्ति अवस्था होती है और जिसमें फल प्राप्त हो जाता है वह अंतिम फलयोगावस्था होती है।

ये पांच अवस्थाएं अलग-अलग प्रकार की और अलग अलग काल में होती हैं पर इन्हें एकभाव से विन्यस्त किया जाता है, अर्थात् परस्पर सम्बद्ध करके एकीकृत किया जाता है। वस्तुतः नायक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो फलयोगावस्था से ही होता है परन्तु दर्शकों को प्रत्येक अवस्था प्रारम्भ आदि के रूप में स्पष्ट दिखाई देती है और यह अवस्था निर्देश दर्शक की अनुभूति की दृष्टि से ही समझना चाहिए।

उपर्युक्त पांच अवस्थाएं इतिवृत्त के एक एक खण्ड या संधि में दिखाई जाती हैं। पांच संधियां ये हैं मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श और निर्वहण। 'मुख संधि' में प्रारम्भ नामक कार्यावस्था होती है प्रतिमुख संधि में प्रयत्न नामक कार्यावस्था रहती है 'गर्भसंधि' में प्राप्त्याशा अवमर्श' संधि में नियताप्ति, और 'निर्वहण संधि में फल *योगावस्था आती है।*

ये पांचों संधियां प्रत्येक प्रकार के नाटक के इतिवृत्त में नहीं होतीं। चार संधियां वाले इतिवृत्त में चौथी अर्थात् अवमर्श संधि का लोप कर दिया जाता है। इसी प्रकार तीन संधियां वाले इतिवृत्त में तीसरी और चौथी—गर्भ और अवमर्श—का, तथा दो संधियां वाले इतिवृत्त में दूसरी, तीसरी और चौथी—प्रतिमुख, गर्भ और अवमर्श—का लोप कर दिया जाता है। संधियों का लोप होने पर उस संधि वाली कार्यावस्था भी नाम-मात्र को आएगी विस्तार से नहीं।

उपर्युक्त नियम केवल आधिकारिक वृत्त के लिए है। प्रासंगिक वृत्त तो आधिकारिक वृत्त का सहायकमात्र होता है। इसलिए उसमें जैसे भी कोई संधि ठीक बैठे, वैसे ही उसे जोड़ देना चाहिए।

पांच अर्थप्रकृतियां

इतिवृत्त में पांच संधियां और पांच कार्यावस्थाओं की तरह पांच अर्थप्रकृतियां

होती हैं। अर्थप्रकृति का अर्थ, आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार, 'फलप्राप्ति के उपाय' है। पांच अर्थप्रकृतियां ये हैं: बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य।

आचार्य अभिनवगुप्त ने, और उनका ही अनुसरण करते हुए नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने, अर्थप्रकृतियों के पहले दो भेद किए हैं: जड़ और चेतन।

जड़ के फिर दो भेद हैं: मुख्य कारण और गूढ़तर। मुख्य कारण तो 'बीज' कहलाता है और गूढ़तर को 'कार्य' कहते हैं जिसका अर्थ है करणीय या प्राप्तव्य।

चेतन भी दो प्रकार का है: मुख्य तथा उपकरणभूत। उपकरणभूत फिर दो प्रकार का है: स्वार्थसिद्धि से युक्त और परार्थसिद्धि से युक्त। इन तीन में से प्रथम को 'बिन्दु', द्वितीय को 'पताका' और तृतीय को 'प्रकरी' कहते हैं।

ये भेद और उपभेद किस प्रयोजन से किए गए हैं, यह स्पष्ट नहीं होता।

'बीज' उस वस्तु को कहते हैं जिसमें नायक को प्राप्त होनेवाले फल का स्वल्प निर्देश होता है। यह बीज फलप्राप्ति पर्यन्त सारे इतिवृत्त में व्याप्त रहता है। यह कहीं उपाय रूप, कहीं फलमात्र, कहीं दोनों रूपों में होता है। फल भी कहीं उपादानरूप, कहीं हेय बाधा के निवर्तन रूप और कहीं दोनों रूपों में होता है। कहीं यह नायक के आश्रय से, कहीं प्रतिनायक के आश्रय से और कहीं अन्य प्रकार से होता है। शाकुन्तल में फलरूप बीज चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति है जो मुनियों के आशीर्वाद के रूप में प्रथम अंक में आता है।

'बिन्दु' उस वस्तु को कहते हैं जो घटनाक्रम में आगे चलने पर प्रयोजन विच्छेद रोकती है। इसका अर्थ यह है कि आधिकारिक घटनाओं को परस्पर जोड़ने के लिए जो प्रासंगिक वस्तु रखे जाते हैं उन्हें बिन्दु कहते हैं।

'पताका' उस वृत्त को कहते हैं जो दूसरे के प्रयोजन सिद्ध करने के लिए होता है, और प्रधान वृत्त का उपकारक होता है, साथ ही अपने नायक को भी कोई फलप्राप्ति कराता है। पताका का नायक बीज में निहित फलप्राप्ति में सहायक होता है।

'प्रकरी' उस वृत्त को कहते हैं जो मुख्य नायक की फलप्राप्ति कराने में सहायक होता है, पर अपने नायक को कोई सिद्धि नहीं कराता।

कार्य उस वृत्त को कहते हैं जो फलप्राप्ति कराने के प्रयोजन से रखा जाता है।

ये पांच अर्थप्रकृतियां प्रत्येक इतिवृत्त में होनी आवश्यक नहीं, न इनका यह क्रम ही निश्चित है। फिर भी बीज का पहले और कार्य का अन्त में होना निश्चित ही है। पताका और प्रकरी का प्रयोग आवश्यकता के अनुसार होता है।

पांच संधियां

ऊपर बताया जा चुका है कि प्रधान वस्तु के पांच अंग या संधियां होती हैं: मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण कहलाती हैं, और इनमें क्रमशः प्रारम्भ आदि पांच कार्यावस्थाएं आती हैं।

जिस वृत्तांश में बीज की उत्पत्ति होती है उसे 'मुखसंधि' कहते हैं। यह बीज आगे चलकर अनेक अर्थों और रसों के रूप में परिणत होता है। इस मुखसंधि

कहते हैं क्योंकि यह काव्य शरीर में मुख के समान सबसे पहले होती है।

'प्रतिमुख संधि' वह वृत्तांश है जिसमें बीज बढ़ने लगता है—अर्थात् फलप्राप्ति के लिए कुछ व्यापार होने लगता है, पर उस व्यापार में बीज दिखाई नहीं देता। यों समझिए जैसे बीज पृथ्वी पर रखने के बाद उसके ऊपर मिट्टी डाल दी—मिट्टी डालना फल प्राप्ति की दिशा में किया गया व्यापार है, पर उससे बीज छिप जाता है।

इसके बाद जब बीज कहीं दिखाई देने लगता है, और कहीं छिप जाता है और फिर बिंदु के द्वारा पकड़ा जाता है, तो वह वृत्तांश 'गर्भ' कहलाता है। इसमें फलप्राप्ति के लिए किए जा रहे प्रयत्नबाहुल्य से बीज बार बार छिपता तो है पर बिंदु द्वारा पकड़ा जाने से फलप्राप्ति की आशा हो जाती है।

जिस वृत्तांश में फलप्राप्ति के विषय में क्रोध, विपत्ति आदि के कारण कुछ संदेह पैदा हो जाए (पर हमारे विचार से, वह अधिक प्रबल न हो) उसे 'विमर्श' या 'अवमर्श' संधि कहते हैं। यह बात कुछ विचित्र सी लगती है कि जिस वृत्तांश में फलप्राप्ति में संदेह पैदा हुआ है उसमें नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है। इसका समाधान यही प्रतीत होता है कि इसी संधि के अंतर्गत संदेह का निवारण करनेवाली घटनाएं आ जाती हैं जिनसे संदेह नहीं रहता। इस विचार की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अवमर्श संधि के जो तेरह अंग या हिस्से हैं उनमें ग्यारहवां अंग प्ररोचना है जिसमें किसी सिद्धपुरुष का भविष्य विषयक कथन होता है जो संदेहों का निवारण करके नियताप्ति कार्यावस्था ला देता है।

अन्तिम 'निर्वहणसंधि' में पहले आए सब सूत्रों को इकट्ठा करके फलप्राप्ति कराई जाती है।

इस प्रकार हमने नाटकीय वस्तु में संधियों, कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का निरूपण किया। प्रश्न यह है कि संधियों और अर्थप्रकृतियों में क्या भेद है और कार्यावस्थाओं का क्या अभिप्राय है।

पंचकत्रय पर विभिन्न मत

इतिवृत्त के निर्माण में प्रयुक्त इन तीन पंचकों के स्वरूप के बारे में विद्वानों में बड़े पुराने समय से मतभेद चले आते हैं।

दशरूपक और अवलोक टीका के अनुसार, पांच अवस्थाएं आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। इनका यह विचार भी प्रतीत होता है कि ये अवस्थाएं नायक या मुख्य पात्र आदि के मन की अवस्थाएं होती हैं।[1]

अवस्थाओं के बारे में दशरूपककार से पहले, आचार्य अभिनवगुप्त का भी यही मत रहा मालूम होता है। आपने अभिनवभारती[2] में लिखा है

१ धनंजय धनिक दशरूपकम्, प्रथम प्रकाश कारिका १९-२१

२ औत्सुक्यमात्रं बन्धस्तु यद्बीजस्य निबध्यते।
महतः फलयोगस्य स फलारम्भ इष्यते ॥
— अ० १९, का० ९

"एता क्रमेण दर्शयितुमाह औत्सुक्यमात्रबन्धस्त्विति । महत प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यद्बीजगुणमुपायसम्पत् तस्य यदौत्सुक्यमात्र तद्विषय स्मरणोत्कण्ठानुरूप, अनेनोपायनतत्सिद्धयतोति तस्य बन्धा हृदय निर्देश प्रारम्भ , सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकाया प्रतिनायकस्य दवस्य वा । तस्या हि तथवानुमानाद व्यवस्था ।"

अर्थात, "इन अवस्थाओं का क्रम से निरूपण करने के लिए कहा है, 'औत्सुक्य-मात्रबन्ध' आदि इलोक । उस उस नायक के लिए उपयुक्त जो प्रधान फल उसे प्राप्त करना है उसका बीज, अर्थात उपायों की केवल उत्सुकता, अर्थात स्मरण और उत्कण्ठा—इस उपाय से यह कार्य सिद्ध होता है इस प्रकार की उत्कण्ठा—का हृदय में जन्म प्रारम्भ कहलाता है । इस उत्सुकता का जन्म नायक अमात्य नायिका प्रतिनायक या देव में होता है । उसे उसी प्रकार अनुमान से समझा जाता है । '

नाट्यदर्पण में भी इसी पद्धति का अनुसरण दिखाई देता है । प्रथम विवेक की कारिका चौतीस की विवृति में कहा गया है 'नेतुर्मुख्यफल प्रति बीजाद्युपायान प्रयोक्तुर वस्था प्रधानवृत्तविषये कायवाङ्मनसा व्यापारा ।'

अर्थात् मुख्य फल के प्रति बीज आदि उपायों का प्रयोग कर रहे नायक की अव स्थाएं प्रधानवृत्त के विषय में उसके शरीर, वाणी और मन के व्यापार हैं ।

डा० कीथ ने अवस्थाओं को स्टेजेज आफ डिवलपमेंट या विकास की अवस्थाएं कहा है । पर आपने यह प्रतिपादन नहीं किया कि य नायक आदि के मन की अवस्थाएं हैं ।

दशरूपक के एक हिन्दी टीकाकार डा० भोलाशंकर व्यास अवस्थाओं को नायक की मनोदशा की दृष्टि से वस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन मानते हैं । यही मत प्रोफेसर कान्तानाथ शास्त्री तैलंग का है ।

क्या अवस्थाएं सचमुच नायक की मनोदशाएं होती हैं ?

अर्थप्रकृति

इतिवृत्त में पांच अर्थप्रकृतियां मानी गई हैं । अर्थप्रकृति के स्वरूप पर प्राचीन काल से जो विवाद चला आता है उसका उल्लेख अभिनवभारती (अध्याय १६, कारिका २१) में मिलता है । इसके अनुसार, कुछ लोग इसे सारे रूपक के अवयव मानते थे । सारे रूपक के अवयव' तो सन्धियां हैं । यदि 'अर्थ इतिवृत्त प्रकृतय' यानी 'इतिवृत्त रूप अर्थ की प्रकृतियां' अर्थ करें तो यहां 'अर्थ' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि इतिवृत्त का तो यह प्रसंग ही है, और तब इनमें और अवस्थाओं में कुछ अन्तर नहीं रहेगा । इन मतों का खंडन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने अर्थप्रकृति शब्द का अर्थ फल प्राप्ति के उपाय बताया है । दशरूपककार ने इन्हें 'प्रयोजन के हेतु' कहा है ।

नाट्यदर्पण और साहित्यदर्पण भी इस विषय में कोई नया विचार प्रस्तुत नहीं करते ।

डा० कीथ का कहना है कि अर्थप्रकृतियो का वर्गीकरण सम्भवत अनावश्यक है।[1]

डा० भोलाशंकर व्यास अर्थप्रकृतियो को 'नाटकीय कथावस्तु का औपादानिक विभाजन' मानते हैं। आपका कहना है कि "जहा भी ये पाच अर्थप्रकृति होगी, कथा का ढाचा खडा हो जाएगा।

तो, अर्थप्रकृतियो का ठीक स्वरूप क्या है ?

सधि

सधि के स्वरूप के बारे मे दशरूपककार ने लिखा है

> अर्थप्रकृतय पच पचावस्थासमन्विता ।
> यथासख्येन जायन्ते मुखाद्या पच सधय ।
> अन्तरैकार्यसबध सधिरेकान्वये सति ।
>
> —प्रथम प्रकाश २२ ख–२३ कारिका

अर्थात् पाच अर्थप्रकृतियो के क्रम से पाच अवस्थाओ से मिलने से क्रमश मुख आदि पाच सधिया बन जाती हैं। एक प्रयोजन मे सम्बद्ध कथाशो को किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाए तो वह सबध सधि कहलाता है।

सधि के स्वरूप के विषय मे दशरूपककार की यह मान्यता उनके अपने ही बाद के कथनो से असगत है। गर्भसधि का लक्षण करते हुए आपने लिखा है

> गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषण मुहु ।
> द्वादशाङ्ग पताका स्यान्न वा, स्यात्प्राप्तिसभव ।।
>
> —प्र० १ ३६ कारिका

अर्थात्, गर्भसधि मे पताका हो भी सकती है और नही भी पर प्राप्तिसभव अवस्था अवश्य होनी चाहिए।

इसी प्रकार आपके अवमर्श और निर्वहण सधियो के लक्षणो मे क्रमश प्रकरी और कार्य नामक अर्थप्रकृतियो का उल्लेख होना चाहिए था पर नही है

> क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
> गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ सोऽवमर्श इति स्मृत ।।
>
> —प्र० १ ४३ का०

> बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
> ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत् ।।
>
> —प्र० १ ४८ ख, ४९ क का०

फिर इनके सधि के लक्षण के अनुसार प्रतिमुखसधि मे बिन्दु नामक अर्थप्रकृति आनी चाहिए, पर अवलोक टीका मे बिन्दु का जो उदाहरण रत्नावली से दिया गया है, वह

[1] The classification of elements of the plot is perhaps superfluous beside the junctures A B Keith *The Sanskrit Drama* Oxford University Press p 299

प्रतिमुखसंधि का नहीं, मुखसंधि का है।

दशरूपककार के संधि के लक्षण में भी उनके अपने ही बाद के कथन से कुछ असंगति दिखाई देती है। १ २३ में संधि को एक सम्बन्ध बताया गया है और ३ २५ ख, २६ क में इसे विभाग या खंड कहा गया है

आद्यन्तमेव निश्चित्य पंचधा तद्विभज्य च।
खंडश सन्धिसंज्ञाश्च विभागानपि खंडयेत॥

—३ २५ ख २६ क

दूसरी ओर, नाट्यशास्त्र,[1] अभिनवभारती और नाट्यदर्पण[2] तीनों इस बारे में एकमत हैं कि पांच अर्थप्रकृतियां का कोई निश्चित क्रम नहीं है। साथ ही इनके मत में संधि शब्द वस्तु के विभाग का वाचक है।[3]

डा० कीथ ने संधि का अर्थ जंक्चर किया है जिसका अर्थ जोड़ होना है। यदि यह अर्थ माना जाए तो पांच जोड़ लगाने के लिए छह टुकड़े होने आवश्यक हैं।

तब, संधि का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

कार्यावस्था, अर्थप्रकृति और संधि

नाटक एक महावाक्य है जिसमें एक पूर्ण क्रिया होती है। इस क्रिया का फल जिन घटनाओं और व्यापारों से प्राप्त होता है उनको अन्विति रूप को वस्तु कहते हैं। विशेष रीति से नियोजित घटनाएं और व्यापार इतिवृत्त कहलाते हैं।

नाटक नायक का पहला काम यह है कि वह पूर्ण क्रिया को पांच क्रमिक क्रियाओं में बांटे। ये पूर्ण क्रिया की पांच अवस्थाएं कथानक में आनेवाली घटनाओं और व्यापारों से अनुभव होती हैं। एक एक अवस्था क्रम से एक एक कथाखंड में आनी चाहिए। ये कथाखंड पांच संधियां हैं।

उदाहरण के लिए, शाकुन्तल में कवि दुष्यन्त को पुत्र प्राप्त कराना चाहता है। पुत्र प्राप्ति तक पहुंचने में ये पांच अवस्थाएं हो सकती हैं

१ दुष्यन्त शकुन्तला का परस्पर-दर्शन, २ प्रणय, ३ विवाह गर्भाधान, ४ पुत्र जन्म और ५ पुत्र प्राप्ति।

नाटक की पूरी कहानी को पांच एेसे खंडों में बांटना चाहिए कि पहले खंड में नायक-नायिका का परस्पर दर्शन हो जाए दूसरे में प्रणय हो जाए तीसरे में विवाह और गर्भाधान हो जाए चौथे में पुत्र का जन्म हो जाए और पांचवें में पुत्र प्राप्ति हो जाए।

अब समझिए कि नाटक खेला जा रहा है। इसके प्रथम खंड में दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम परिचय दिखाना है। यह बीज की उत्पत्ति है और यही प्रारम्भ नामक कार्यावस्था है। दूसरे खंड में यह उस परिचय का तत्प्रणय में परिणत होना दिखाना है। यह बीज का उद्घाटन है। यही पुत्र प्राप्ति रूप फल की प्रयत्नावस्था है। तीसरे खंड में

1 अ० १६ श्लो० ३१, पृष्ठ १२।
2 प्रथम विवेक का० २८, पृष्ठ ३७।
3 नाट्यशास्त्र ११ । अभिनवभारती ११ । नाट्यदर्पण १ ३७।

उस दुष्यन्त और शकुन्तला के विवाह और शकुन्तला के गर्भवती होने का पता चलता है। यह बीज का उद्भेद है और यहां पुत्र प्राप्ति रूप फल की प्राप्तिसम्भव अवस्था हुई। चौथे खंड में पुत्र के जन्म और दुष्यन्त तथा शकुन्तला की परस्पर मुक्तता का पता चलता है। यह नियताप्ति अवस्था हुई। पांचवें खंड में दुष्यन्त को पुत्र रूप फल प्राप्त हो गया। यह फलयोगावस्था हुई।

इन कथानक खंडों को प्रथम, द्वितीय, आदि न कहकर मुख आदि शब्दों से कहा गया है, पर हैं ये क्रमसंख्या सूचक शब्द ही।

ये अवस्थाएं नायक आदि की मनोदशाएं नहीं हो सकतीं और न इन्हें नाटक का मनोवैज्ञानिक विभाजन ही कहा जा सकता है। इन अवस्थाओं का ज्ञान केवल दर्शक को होता है जो पहले की सब नाटकीय घटनाओं को देख और जान चुका है। यदि विमर्श संधि में नायक के मन में नियताप्ति अवस्था मानी जाए तो शाकुन्तल में दुष्यन्त की यह अवस्था आनी असम्भव है क्योंकि उसे शकुन्तला और उसके पुत्र का पता अन्तिम अंक के अंत में ही चलता है। दूसरी ओर दर्शक को छठे अंक में सानुमती के कथनों से, जो राजा के लिए अदृश्य है, *शकुन्तला और उसके पुत्र के होने का पता चल जाता है। इस प्रकार* राजा को दुर्वासा के शाप का कुछ पता नहीं जबकि दर्शक उस घटना से परिचित है। जब मछियारे के पास अंगूठी मिल जाती है तभी दर्शक के लिए नियताप्ति का आरम्भ हो जाता है।

इसी प्रकार प्राप्तिसम्भव अवस्था राजा के लिए नहीं आती दर्शक के लिए ही आती है। राजा की मानसिक अवस्था तो यह है कि उसे निश्चय है कि शकुन्तला से कभी उसका विवाह नहीं हुआ। नगर लौटने के एकाध सप्ताह बाद से लेकर अन्त में अकस्मात् पुत्र प्राप्ति होने तक के समय में राजा के मन में न नियताप्ति अवस्था है और न प्राप्ति सम्भव ही।

यह स्थिति उन सब नाटकों में रहेगी जिनमें फलप्राप्ति दैव या सहायकों के द्वारा होती है। उनमें नायक का व्यापार गौण रहता है और उसकी मनोदशा का कोई संकेत नहीं मिलता। अवस्थाओं को नायक की मनोदशा मानने से उत्पन्न इस असंगति की ओर राजा भोज का भी ध्यान गया था। पर इसके समाधान के लिए उन्होंने एक विलक्षण कल्पना कर डाली।

भोज के तीन पंचक

भोज ने कार्यावस्थाओं के तीन पंचक माने—अवस्था, संस्था और समवस्था। इनके मत से अवस्था के पांच रूप ये हैं

आरम्भ
प्रसव
उद्भेद
विच्छेद
समाप्ति।

और य पाच अवस्थाए तब होती हैं जब फलप्राप्ति म दव का प्राधान्य होता है।

पाच मस्थाए य हैं

प्रारम्भ

प्रयत्न

प्राप्तिसम्भव

नियतफल प्राप्ति

फलयोग।

और ये सस्थाए उस कथावस्तु म होती हैं जिसम पौरुष का प्राधान्य होता है। यहा 'प्र उपसग पौरुष क सूचन के लिए है।

पाच 'समवस्थाए य हैं

प्रार्थना (पौरुष)

लाभ (दैव)

मयोग (पौरुष)

नाश (दैव)

सम्प्राप्ति।

और य पाच समवस्थाए उभय प्राधान्य म होती हैं।'

भोज की इस कल्पना की व्यर्थता हमारी उपर्युक्त व्याख्या स स्पष्ट हो जाती है।

निष्कर्ष यह हुआ कि दशक क आग नाटकीय कथानक की जो घटनाए आती हैं, उनसे उस यह अनुभव होता है कि नायक को होनेवाली फलप्राप्ति का अब प्रारम्भ हो गया अब उसक लिए प्रयत्न होने लगा, अब उसका मिलना सभव हो गया अब उसका मिलना निश्चित हो गया और अब उस फलप्राप्ति हो गई।

नाट्यशास्त्रकार के कथन से भी अवस्थाओ का यही अभिप्राय जान पड़ता है। नाट्यशास्त्रकार का कथन है

समाध्य फलयोग तु व्यापार कारणस्य य।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेया पञ्चावस्था प्रयोक्तृभि ॥

—अ० १६, श्लो० ७

अर्थात्, नायक क लिए साध्य फल क कारण—यानी कर्ता सहायक और दैव—का जो व्यापार है वह क्रमश इन अवस्थाओ पर पहुचता है। स्पष्ट है कि य व्यापार अर्थात् किए हुए काय, या अवस्थाए हैं मन की नहीं।

डा० कीथ क निम्नलिखित उद्धरण म we have we learn आदि शब्दों का प्रयोग प्रकट करता है कि व भी दशक की ही चर्चा कर रहे हैं

Thus in the Cakuntala we have the king s first anticipation of seeing the heroine then his eagerness to find a device to me t her again, in Act IV we learn that the anger of the sage Durvasas has

१ ब० रंगन, भावप्रकाश प्रयाग पृष्ठ ४१६।

in some measure been appeased and the possibility of the re union of the king and Cakuntala now exists in Act VI the discovery of the ring brings back to the king remembrance and the way for a union is paved to be attained in the following act (A B Keith *The Sanskrit Drama*, Oxford University Press p 298)

यहा एक प्रश्न पूछा जा सकता है। हमारा कहना है कि प्रारम्भ नामक अवस्था म दशक को फलप्राप्ति का आरम्भ दिखाई देता है। प्रश्न यह है कि उसे फल का ज्ञान कैसे हो गया।

इसका उत्तर है अथप्रकृतियो म, जिन्हे डा० कीथ निरथक बताते ह। वस्तुत अथप्रकृति का ठीक अभिप्राय न समझ पाने के कारण ही डा० कीथ को यह भ्रम भी हुआ है कि शाकुतल का फल दुष्यन्त और शकुतला का मिलन है, जो त्रिवग—धम अथ काम —म से काम के अन्तगत है। नाटक का लेखक दशक को सबसे पहले उस फल की सूचना देता है जो वह नायक को प्राप्त कराएगा। उस फल का दशक को ज्ञान हो जाने के बाद ही उस फल की प्राप्ति की दिशा म हो रहे आरम्भ आदि का अनुभव हो सकता है। इस फल की सूचना देनेवाला वत्तखड बीज कहलाता है जो पहली अथप्रकृति है। फल और बीज म विशेष अन्तर नहीं—फल के गूढ रूप को बीज कहते ह। शाकुतल म प्रथम अक का वह प्रथम वत्तखड बीज है जिसके अन्त मे ऋषि राजा को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। उस आशीर्वाद मे दशक को यह पता चल जाता है कि नाटक का फल पुत्र प्राप्ति है जो नाटक के तीन फलो—धम अथ, और काम—म से धम के अन्तगत आता है। इसके बाद राजा का शकुतला के प्रति आकषण देखकर वह समझ जाता है कि पुत्ररूप फलप्राप्ति के लिए आवश्यक पहली आरम्भ नामक अवस्था आ गई।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती ह एक तो यह कि बीज नामक वत्तखड आधिकारिक न होकर प्रासगिक रूप मे ही होता है और दूसरे यह कि बीज तथा आरम्भ नामक कार्यावस्था नाटक के पहले हिस्से म आने चाहिए। बीजरूप प्रासगिक वत्तखड तथा आरम्भ नामक कायावस्था लानेवाला आधिकारिक वत्तखड मिलकर मुखसधि या नाटक का प्रथम खड बन जाते ह। पर बीज का सकेत सारे कथानक म किसी न किसी सिलसिले से होता रहता है। उदाहरण के लिए, शाकुतल म पुत्र प्राप्ति रूप बीज का उल्लेख तृतीय अक के अन्त मे पुत्रपिड पालन व्रत वाले वत्तखड द्वारा, चौथे मे कण्व के आशीर्वाद द्वारा पाचवें म पुरोहित के चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति विषयक उल्लेख द्वारा, और छठे मे किसी सेठ के निष्पुत्र मर जाने के वत्त द्वारा किया गया है।

अगला आधिकारिक वत्तखड प्रयत्न नामक अवस्था म पहुचाता है। पहले आधिकारिक वत्तखड से दूसरे आधिकारिक वत्तखड को जोडने के लिए छोटे छोटे प्रासगिक वत्तखड लाना आवश्यक हो जाता है। ये छोटे-छोटे प्रासगिक वत्तखड बिन्दु कहलाते हैं। शाकुन्तल म दूसरे अक के आरम्भ मे विदूषक का कथन बिन्दु है—यह राजा के प्रेम की बात का उल्लेख करके अतीत कथाश से सम्बन्ध जोड देता है।

बिन्दु नामक वत्तखड आधिकारिक घटनाओ को जोडने के लिए सारे नाटक म

एक या अधिक बार वही भी रखा जा सकता है। दशरूपककार का विचार यह प्रतीत होता है कि बिन्दु केवल प्रतिमुखसंधि में होता है। पर नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती और नाट्यदर्पण एकमत से यह कहते हैं कि बिन्दु सारे नाटक में होता है और जहां आवश्यकता हो वहां इसका प्रयोग कर लेना चाहिए।

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधि॥

—नाट्यशास्त्र, १९ २१

प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत् समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुः परिकीर्तितः॥

—नाट्यशास्त्र, १९ २३

बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्य यथारुचि।

—नाट्यदर्पण १ २८ क

हेतोश्छेदेऽनुसंधानमहता बिन्दुरा फलात्।

—नाट्यदर्पण १ ३२ ग

पताका और प्रकरी तो प्रासंगिक वस्तु हैं ही पर ये ऐसे प्रासंगिक वृत्त हैं जिनके नायक आधिकारिक वृत्त के नायक से भिन्न होते हैं। दशरूपककार का यह कथन कि पांच अर्थप्रकृतियां क्रमशः पांच कार्यावस्थाओं से मिलकर क्रमशः पांच संधियां बन जाती हैं, नाट्यशास्त्र के इस कथन से मेल नहीं खाता आगर्भाद्विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते, अर्थात् पताका वृत्तखंड गर्भसंधि में या विमर्शसंधि में समाप्त हो जाना है।

इसी प्रकार, दशरूपककार के मत में प्रकरी विमर्शसंधि में ही होनी चाहिए, पर रामायण का शबरी-वृत्तांत जो प्रकरी है सुग्रीव वृत्तान्त से जो पताका है पहले आता है। हमारे विचार में, भरत केवल दो बातों को निश्चित है। एक तो अवस्थाओं का, और दूसरे यह कि प्रत्येक अवस्था क्रमशः एक एक संधि में पूरी हो जाती है। अर्थप्रकृतियों के नियोजन का कोई क्रम न तो नाट्यशास्त्र में माना गया है और न हो ही सकता है।

पांचवीं अर्थप्रकृति कार्य है। अभिनवभारती और नाट्यदर्पण ने इसका अर्थ यह किया है कि जनपद, कोश, दुर्ग आदि फल प्राप्त करानेवाली वस्तुएं और साम आदि उपाय कार्य कहलाते हैं। हमारे विचार में, कार्य उस प्रासंगिक वृत्तखंड को कहते हैं जो केवल फलप्राप्ति कराने के प्रयोजन से नाटक में रखा जाता है। उदाहरण के लिए, शाकुन्तल में देवराज इन्द्र की सहायता करने के लिए दुष्यन्त के जाने की घटना केवल इसलिए रखी गई है जिससे राजा को फलप्राप्ति के लिए कण्व के तिरट पहुंचाया जाए। इस वृत्तखंड को कार्य नामक प्रासंगिक वृत्त या पांचवीं अर्थप्रकृति मानना चाहिए। नाट्यशास्त्र कार्य का यह स्वरूप बताता है

यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्॥

—१९ २६

अर्थात् जो आधिकारिक फल सम्पाद्य होता है उसके लिए किया गया समारम्भ

'कार्य' कहलाता है। (यहां 'वस्तु' का अर्थ 'फल', और 'प्रयुज्यते' का अर्थ 'सम्पाद्यते' अभिनवभारती के अनुसार है)।

इस प्रकार, आधिकारिक या प्रधान वृत्त की रचना कार्यावस्थाओं के अनुसार की जाती है और अर्थप्रकृतियां उसके सहायक प्रासंगिक वृत्तखंड हैं। बीज बिन्दु और कार्य नायक से सम्बन्धित होते हुए भी केवल प्रयोजनवशात् रखे जाते हैं, और वे फलप्राप्ति के लिए किए गए व्यापार नहीं होते। कार्यावस्थाएं पांच संधियों में क्रमशः आती हैं परअर्थ प्रकृतियों का क्रम निश्चित नहीं है। फिर भी इतना निश्चित है कि बीज (पहली बार) मुखसंधि में और कार्य निर्वहणसंधि में आएगा।

पताका-स्थानक

पताका नामक अर्थप्रकृति के साथ साथ पताका स्थानक नामक वृत्तखंड और उक्ति कौशल भी जान लेने चाहिए।

नाट्यशास्त्रकार ने पताका स्थानक की परिभाषा करते हुए लिखा है कि जहां चिंतित अर्थ (प्रयोजन या उपाय) दूसरा हो पर उसके स्थान पर कोई और उपाय या प्रयोजन रखा जाए जो चिंतित अर्थ का बोध कराए, वहां पताका-स्थानक होता है।

यत्रार्थे चिंतितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्॥

—ना० शा० १६ ३०

पताका स्थानक चार प्रकार के होते हैं—

१ जहां एकाएक किसी चिंतित फल की प्राप्ति हो जाए वहां प्रथम पताका स्थानक होता है (ना० ना० १६ ३१)। यह पताका स्थानक साध्यफल की प्राप्ति के कारण प्रधान पताका-स्थानक है। इसका उदाहरण रत्नावली में वह प्रसंग है जिसमें राजा वासवदत्ता समझकर सागरिका को बंधन से छुड़ाता है पर सागरिका को पहचानकर कहता है 'अरे यह तो मेरी प्रिया सागरिका है

२ जहां प्रकृत का वर्णन करते हुए किसी अन्य प्रयोजन से अतिशयोक्ति आदि द्वारा कोई ऐसा श्लेषयुक्त वचन कहा जाता है, जो प्रकृत के लिए उपयोगी सिद्ध होता है वहां दूसरा पताका-स्थानक होता है (ना० शा० १६ ३२)। इसका उदाहरण रामाभ्युदय के तीसरे अंक में सुग्रीव का सीता के प्रति यह संदेशवचन है

बहुनात्र किमुक्तेन पारेऽपि जलधेः स्थिताम्।
अचिरादेव दयि त्वामाहरिष्यति राघवः॥

यहां समुद्र पार से भी केवल अतिशयोक्ति के लिए कहा गया था पर अन्ततः सीता समुद्र पार ही मिली और उसे वहीं से लाना पड़ा।

३ जहां एक अभिप्राय से दिया गया उत्तर अन्यार्थ सादृश्य के कारण दूसरे अस्फुट अर्थ का निश्चय करा दे।

इसका उदाहरण मुद्राराक्षस में

"अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत।' इस प्रकार अस्पष्ट अर्थ उपस्थित होने पर

'(प्रविश्य) सिद्धार्थक —अज्ज गहिदो' (आर्य, गृहीत) इस उत्तर मे, जो दूसरे ही अभिप्राय से दिया गया था, सामान्य सादृश्य के कारण राक्षस-ग्रहण रूप अर्थ का निश्चय होता है। यह निश्चय प्रकृत अर्थ का उपयोगी होने से 'पताका-स्थानक' है।

४ जहाँ प्रकृत कार्य योजना म दो अर्थों वाला श्लेषयुक्त वचन किसी अन्य वस्तु का उपक्षेप कर देता है, वहा चतुर्थ पताका-स्थानक होता है। इसका उदाहरण रत्नावली (१ १३) का वह प्रसग है जिसमे,

'प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते'—यहा वाक्य के आशय से प्रयुक्त श्लेष सागरिका के प्रकृतार्थोपयोगी इस उक्ति को जन्म देता है

"अय सो राजा उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा (अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता)।

नेता या नायक

नेता या नायक नाटकीय इतिवृत्त के उस प्रधान पात्र को कहते है जिसे नाटकीय फल प्राप्त कराया जाता है। फलप्राप्ति का पात्र होने के कारण ही उसे प्रधान पात्र कहते है।

दस या बारह प्रकार के रूपको म प्रधान नाटक नामक भेद म धीरोदात्त, धीरोद्धत धीरललित और धीरप्रशान्त नायक होते हैं, जो मध्यम या उत्तम कोटि के हो सकते है।

धीरोद्धत नायक दर्प अर्थात् अभिमान युक्त होते है। धीरोदात्त सत्त्वशील या मन्त्री, और धीरप्रशान्त वणिक या विप्र होते है। राजा नायक चारो प्रकार के होते हैं।

धीरोद्धत या अर्थ है चपल, प्रचंड दर्पवान्, लोभी, और आत्मप्रशंसा करने वाला। 'धीरोदात्त' अतिगंभीर, महासत्त्व, आत्मश्लाघा-हीन, क्षमाशील और दृढ होता है। 'धीरललित' कलाप्रिय, चिन्तारहित, सुखी और कोमल स्वभाव का होता है। 'धीरशान्त' सामान्य गुण युक्त, विनयशील और नीतिज्ञ होता है।

अन्य नायक प्रकारो के नायको का विस्तृत विवरण यहा देने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ विवरण यहा दिया गया है और रस के विषय में आगे दिया जाएगा, उसका लक्ष्य यह है कि एक नाटक का व्यक्तित्व दूसरे नाटक के व्यक्तित्व से पृथक करानेवाले तत्त्व सामने आ जाए। इससे हम आगे चलकर यह निर्णय करने का एक ठोस आधार प्राप्त कर सकेंगे कि कोई अनुवादित नाटक मूल नाटक से पूरी तरह न मिलने के कारण उसका रूपान्तर है या वही नाटक है।

रस और नाटक-प्रकार

नाटक नामक प्रधान रूपक भेद म शृंगार और वीर प्रधान या अंगी रस होते हैं और शेष अन्य रस अंगरूप म रहते हैं।

नाटक के अन्य प्रकारो म विभिन्न रसो की व्यवस्था है जिसका विस्तृत विवरण यहा अपेक्षित नहीं।

गीत

नाटक मे गीत या गान पाच प्रकार के होते हैं—प्रवेशगान, आक्षेपगान, निष्क्राम-गान, प्रासादिकगान, और आन्तरगान। इनमे सगीतशास्त्रीय ध्रुवागान होता है।

प्रवेशाक्षेप निष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम।
गान पचविध नेय ध्रुवायोगसमन्वितम्॥

—नाट्यशास्त्र ६ २९-३०

नाट्य और अनुवाद

कहा जा चुका है कि 'मूलभाषा म व्यक्त वाक्यार्थ को अनुवादभाषा मे व्यक्त करना अनुवाद या भाषान्तर कहलाता है।' रस प्रधान वाक्यार्थ काव्य और अभिनेय काव्य नाटक कहलाता है। जहा तक काव्य और नाटक की सामान्य विशेषताओ का सबध है उनके अनुवाद और उसकी समीक्षा म वही दृष्टि रहनी चाहिए जो खड तीन मे काव्य के अनुवाद के प्रसग म बताई गई है। किन्तु नाटक की कुछ अपनी विधान सम्बन्धी विशेषताए हैं जिनम विशिष्ट पद-योजना या शब्द प्रयोग किया जाता है। यह विशिष्ट शब्द प्रयोग नाटक मे बडा महत्त्वपूर्ण होता है जसा कि ऊपर दूसरे तीसरे और चौथे प्रकार के पताका स्थानको मे दिखाया गया है। उसका अनुवाद करते हुए अनुवादक को कवि के विशिष्ट शब्द प्रयोग का लक्ष्य सिद्ध करनेवाली विशेषताए अनुवाद म भी रखनी चाहिए। हम आगे नाटकीय रचना विधान की उन विशेषताओ का निरूपण करेंगे जिनम प्रयोजनवशात विशेष शब्द प्रयोग किया जाता है।

नाटक मे विशिष्ट शब्द प्रयोग

नाटक के जिन अगो म पद योजना या वाक्य योजना विशिष्ट रखी जाती है वे ये हैं

१ नान्दी,
२ स्थापना—(i) मुखसूचन (ii) पात्रसूचन,
३ आमुख—
   (i) कथोदघात—वाक्यार्थमूलक
   (ii) प्रवर्तक
   (iii) प्रयोगातिशय
४ आमुख (तथा वीथी) के अग—
   (i) गूढार्थपद उदघात्यक
   (ii) वाक् केली
   (iii) गण्ड
   (iv) नालिका
५ प्रवृत्ति—पात्रभाषा और आमन्त्रण शब्द

६ पताका स्थानक

१ नान्दी

रचना विधान की दृष्टि से नाटक म पहले नान्दी, फिर पूवरग विधान, और फिर काव्यस्थापना हाती है। भरतनाटयशास्त्र के अनुसार,

आशीवचनसयुक्ता नित्य यस्मात्प्रयुज्यत ।
देवद्विजनृपादीना तस्मा नान्दीति सज्ञिता ॥

—ना० शा० ५ २४

सूत्रधार पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।
नादी पदद्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम ॥

—ना० शा० ५ १०४

अर्थात् देवताओ, ब्राह्मणो, राजाओ आदि की मगलकामना से प्रतिदिन की जाने के कारण इसे नान्दी कहते हैं। बारह या आठ पदा वाली इस अलकार युक्त नान्दी का पाठ सूत्रधार मध्यमस्वर म करे।

यहा नान्दी में आठ या बारह पद रखन का विधान है। 'पद' शब्द यहा सुबन्त, तिङन्त के अथ म भी है और वाक्य तथा अवान्तर वाक्य क अथ म भी। जैसा कि १ ५७ की 'अभिनवभारती' म स्पष्ट किया गया है, नादी तीन छह, बारह, छह आठ, सोलह, आदि पदा या वाक्या की होती है। आठ और बारह सख्याओ का उल्लेख समवत चतुरस्र तथा त्र्यस्र रगमचा के अनुसार किया गया है।

अनुवाद की समीक्षा म यह देखना होगा कि अनुवादक न नादी श्लोका का अनुवाद करते हुए निर्दिष्ट पदसख्या रखन पर ध्यान दिया है या नही। दूसरे, नादी म काव्याथ की व्यजना भी होती है अत अनुवाद से भी यह काव्याथव्यजना होनी चाहिए।

२ स्थापना—(i) मुखसूचन, (ii) पात्रसूचन

नान्दी क बाद स्थापक रूपक की स्थापना करता है। उसम भी मुखसूचन और पात्रसूचन म विशेष पदयोजना की जाती ह। दशरूपककार और अवलोककार ने उनका इस प्रकार निर्देश किया ह

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयो ।
सूचयद् वस्तु बीज वा मुख पात्रमथापि वा ॥

—द० रू० ३ ३

स स्थापको दिव्य वस्तु दिव्यो भूत्वा मत्य च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्र च दिव्यमर्त्ये यारन्यतरो भूत्वा सूचयत् वस्तु बीज मुख पात्र वा।

मुखसूचन का उदाहरण यह है

आसादितप्रकटनिमलचन्द्रहास ।
प्राप्त शरत्समय एष विशुद्धकान्ति ॥

उत्साद्य गाढतमस घनकालमुग्र ।
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव ॥

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मतानुसार मुखसूचन का अर्थ है श्लेष द्वारा वस्तु की सूचना देना (मुख श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेष)।

—सा० द० ६ २७ के नीचे

ऊपर के श्लोक का अर्थ यह है

"विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकट हो गया है और जिसने दुपहरिया (बन्धुजीव) के फूलों को धारण कर लिया है, सघन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड़कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास (खड्ग) को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बान्धवों के जीवों को फिर से लौटाते हुए अत्यधिक अज्ञान वाले उग्र तथा सघन काल राक्षस रावण को मारकर प्राप्त हुए हैं।

पात्रसूचना—जैसे शाकुन्तल की प्रस्तावना में—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत ।
एष राजेव दुष्यन्त सारगेणातिरहसा ॥

—१ ५

(हे नटी) तेरे गीत के (सारंग) राग से मैं उसी तरह बलात खिंचा चला गया हूँ जैसे तेज वेग वाले हरिण से यह राजा दुष्यन्त खिंचा चला आ रहा है।

आमुख और वीथी—नट काव्यार्थसूचक श्लोकों से रंगप्रसादन और फिर भारती वृत्ति का आश्रय लेकर प्ररोचना (काव्यादि की प्रशंसा) करता है और आमुख (प्रस्तावना) प्रस्तुत करता है। काव्यार्थसूचन के लिए विशिष्ट पदयोजना की आवश्यकता होती है।

आमुख के तीन भेद हैं और वीथी के तेरह अंग हैं जिनमें से निम्नलिखित में विशिष्ट पदयोजना की जाती है

(i) आमुख के तीनों भेदों—कथोद्घात, प्रवर्तक और प्रयोगातिशय—में, और (ii) वीथी के तेरह अंगों—उद्घात्यक, अवलगित, प्रपंच त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल, गण्ड अवस्यन्दित, नालिका असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव—में से उद्घात्यक, वाक्केली, गण्ड और नालिका में।

३ आमुख—(i) कथोद्घात (ii) प्रवृत्तक, (iii) प्रयोगातिशय

(i) *कथोद्घात*

स्वेतिवृत्तसम वाक्यमर्थ वा यत्र सूत्रिण ।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्र कथोद्घातो द्विधैव स ॥

—द० रू० ३ ९-२०

वाक्य यथा रत्नावल्याम्— यौग न्धरायण —द्वीपादन्यस्मादपि— इति।
वाक्यार्थ यथा वेणीसहारे—सूत्रधार —

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां ।
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ॥
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च ।
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृत्याः ॥

—१७

ततो यनाह भीम —

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः ।
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ॥
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः ।
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

—१८

(i) कथोद्घात—

अर्थात्, जिसमें पात्र सूत्रधार के ऐसे वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करता हुआ रंग में प्रवेश करता है जो नाटक की कथावस्तु की घटना के सदृश घटना का वर्णन करती है उसे प्रस्तावना का कथोद्घात कहते हैं। इस प्रकार इसके दो भेद हुए वाक्यमूलक कथोद्घात और वाक्यार्थमूलक कथोद्घात।

वाक्यमूलक कथोद्घात—जैसे रत्नावली में—यौगन्धरायण—'अन्य द्वीप से भी इत्यादि सूत्रधार के वाक्य का प्रयोग करता हुआ ही रंग प्रवेश करता है।

वाक्यार्थमूलक कथोद्घात—जैसे वेणीसंहार में—सूत्रधार—

जिन पाण्डवों की शत्रुरूपी आग बुझ चुकी है व शत्रुओं के नाश के कारण केशव सहित आनन्द करें। परिजनों से युक्त कौरव जिन्होंने सारी पृथ्वी को अनुरक्त और सम्पन्न कर दिया है तथा झगड़े का समाप्त कर दिया है, स्वस्थ रहें (श्लिष्ट वाक्य का दूसरा अर्थ—परिजनों सहित कौरव जिनके खून से पृथ्वी रंग गई है और जिनके शरीर क्षत विक्षत हो गए हैं स्वर्ग में निवास करें)।

इसके बाद इसके (प्रथम) अर्थ को ग्रहण करके भीम यह कहता हुआ रंग में प्रवेश करता है

लाक्षागृह में आग लगाकर विषयुक्त अन्न देकर तथा सभा में द्यूत (छलद्यूत से) जीतकर तथा हमारे प्राणों और सम्पत्ति पर प्रहार करके यदा के धृतराष्ट्र-पुत्र मेरे जीते जी स्वस्थ रह सकते हैं जिन्होंने पांडवों की वधू द्रौपदी के वस्त्रों तथा केशों को खींचा है।'

(ii) प्रवृत्तक

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम्।

—द० रू० ३।१०

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः स्यात्प्रवर्तकम्

यथा—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः ।
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ॥

उत्साद्य गाल्तमम धनकालमुग्र।
रामा दशास्यमिव सम्भतवधुजीव ॥

अर्थात "जिसमें ऋतु वर्णन की समानता के आधार पर श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाए यह प्रस्तावना प्रवर्तक कही जाती है। जैसे—निम्नलिखित पद्य में शरद ऋतु के वर्णन के साथ ही श्लिष्ट शब्दों के द्वारा राम का प्रवेश सूचित किया गया है—

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकट हो गया है तथा जिसमें बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूल खिल गए हैं, सघन अन्धकार से पूर्ण वर्षाकाल को उखाड़कर ठीक उसी तरह आया है जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से युक्त (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास—खड्ग—को ध्वस्त कर दिया है) विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बान्धवों के जीवों को फिर से लौटाते हुए अत्यधिक अज्ञान (तम) वाले उग्र तथा सघन काल राक्षस रावण को मारकर आए हैं।

(iii) *प्रयोगातिशय*

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥

—द० रू० ३ ११

अर्थात 'यह वह आ रहा है' इस प्रकार के सूत्रधार के वचन प्रयोग करने के बाद जहाँ पात्र प्रवेश करता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है।

जैसे शाकुन्तल में जैसे यह राजा दुष्यन्त इस सूचना के कारण प्रयोगातिशय है।

४ आमुखांग (या वीथ्यंग) (i) गूढार्थपद उद्घात्यक, (ii) वाक्केली, (iii) गण्ड, (iv) नालिका

(i) *गूढार्थपद उद्घात्यक*

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा।

—द० रू० ३ १३

यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते।

—द० रू० ३ १४ (अ)

गूढार्थपदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्ती तद् द्विविधमुद्घात्यकम्।

अर्थात, 'जहाँ दो पात्रों में परस्पर इस प्रकार की बातचीत हो कि वहाँ या तो उनके गूढार्थ पदों या उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाए या फिर प्रश्नों तथा उत्तरों की माला हो वहाँ क्रमशः गूढार्थपद उद्घात्यक या प्रश्नोत्तर उद्घात्यक होता है।

जैसे विक्रमोर्वशी नाटक में,

'विदूषक भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूसिज्जसि, सो किं पुरीसो आदु इत्थिअत्ति। राजा—सखे,

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते॥

विदूषक एव पि ण जाणे।
राजा वयस्य, इच्छाप्रभव स इति।
विदूषक कि जो व इच्छादि सो त कामेदित्ति।
राजा अथ किम्।
विदूषक ता जाणिद जह अह सूअआरसालाए भोअण इच्छामि।
अर्थात् विदूषक—हे वयस्य, यह काम कौन है जिससे तुम भी दुखी हो रहे हो, वह पुरुष है या स्त्री ?
राजा मित्र,
स्वस्थ मन वाले लोगो के मन में पैदा होने वाला वह भाव जो सुख मे ही प्रवृत्त होता है और स्नेह का मनोहर मार्ग है काम कहलाता है।
विदूषक मैं अब भी नहीं समझा।
राजा मित्र, वह इच्छा से पैदा होता है।
विदूषक तो क्या जो जिसकी इच्छा करता है वह उसकी कामना करता है।
राजा और क्या ?
विदूषक तो समझ गया—जब मैं रसोईघर मे भोजन की इच्छा करता हूं।

—र० क०, ३ १७

(ii) वाक्केली

विनिवर्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रि प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥
विनिवर्तन वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्ति

अस्यति वाक्यस्य प्रत्याख्यान साकांक्ष विनिवर्तन वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्ति प्रत्युक्तय।

अर्थात् जहा वाक्य को बीच मे ही रोक दिया जाए, अर्थात् साकांक्ष वाक्य को पूरा न किया जाए तथा उसके आगे का अधूरा छोड दिया जाए तथा जहा दो या तीन बार उक्ति प्रत्युक्ति का प्रयोग पात्रो द्वारा किया जाए वहा वाक्केली वीथ्यग होता है।' 'उत्तर-रामचरित' मे वासन्ती—इसमे से विनिवर्त्यवाक्य वाक्केली का ही यहा उदाहरण दिया जाएगा।

त्व जीवित त्वमसि मे हृदय द्वितीय।
त्व कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे ॥
इत्यादिभि प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा।
तामेव शान्तमथवा किमत परेण ॥

—३ २६

अर्थात्, 'जिस भोली सीता को तू मेरा जीवन है तू मेरा दूसरा हृदय है, तू मेरी आंखो की चांदनी है तू मेरे अंगो का जीवन देनेवाला अमृत है' इस प्रकार के सैकड़ो प्रिय वाक्यो से प्रसन्न किया था उसे ही तुमने वन मे छोड़कर या छोड़ा, इसके आगे क्या कहना है। यहा छोड़कर के बाद बतलाने के लिए यह वचन छोड़ दिया गया है।

(iii) अधिबल—

गण्ड प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थ सहसोदितम् ॥

—द० रू० ३ १८

जहा प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध, पर भिन्न अर्थ वाली बात सहसा कह दी जाए, वहा गण्ड नामक वीथ्यग होता है।

जैसे 'उत्तररामचरित' मे राम—

इय गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो—

रसावस्या स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस ।

अय बाहु कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥

—१ ३८

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उअत्थिदो। राम —अयि क ? प्रतीहारी—देवस्य आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो।

अर्थात यह सीता मेरे घर की लक्ष्मी है मेरी आखो को शीतल करने वाली अमृत की बत्ती है। इसका स्पर्श अगो को ऐसा शीतल लगता है जैसे सघन चन्दन का लेप। सीता का यह बाहु कण्ठ म शीतल चिकनी मोतियो की माला जैसा लगता है। सीता की कौन सी चीज प्यारी नही लगती ! बस असह्य है तो इसका विरह ही।

(*प्रवेश करके*) प्रतीहारी—*महाराज आ पहुचा।* राम—*अरी कौन ? प्रती* हारी—महाराज का निजी सेवक दुमुख।

(iv) *नालिका*—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका।

—द० रू० ० १६

अर्थात 'हास्य से युक्त छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को नालिका वीथ्यग कहते है। जैसे मुद्राराक्षस म—

"चर —हहा ब्राह्मण मा कुप्य। किं पि तुह उवज्झाओ जाणादि किं पि अह्मा रिसा जणा जाणन्ति। शिष्य —किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि। चर — यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। शिष्य — किमनेन ज्ञातेन भवति। 'इत्युपक्रमे चाणक्य —चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषाञ्जानामीत्युक्त भवति।'

—अक १

अर्थात 'चर—अरे ब्राह्मण, गुस्सा मत कर। कुछ बातें तेरे आचार्य (चाणक्य) जानते हैं और कुछ हमारे जैसे लोग ही जानते हैं।

शिष्य—क्या तू हमारे गुरुजी की सर्वज्ञता का निषेध करना चाहता है ?

चर—यदि तेरे गुरु सर्वज्ञ हैं तो बताए कि चन्द्र (चन्द्रमा, चन्द्रगुप्त) किसे अच्छा नहीं लगता ?

शिष्य—इसे जानने से क्या लाभ ?

चाणक्य—इसकी बात का अर्थ तो यह हुआ कि यह चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को जानता है।"

५ प्रवृत्ति—(i) पात्रभाषा और (ii) आमन्त्रणशब्द

(i) पात्रभाषा—

संस्कृत नाटकों में पात्र की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा का परिवर्तन किया जाता है। दशरूपककार के अनुसार

पाठ्यं तु संस्कृतं नॄणामनीचानां कृतात्मनाम्।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित्॥

—द० रू०, २.६४

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत्समं, देशीत्यनेकप्रकारकम्। शौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा।
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम्।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः॥"

—द० रू०, २.६५-६६

अर्थात् 'नाटक में कुलीन कृतात्मा पुरुषों के कथनों की भाषा संस्कृत ही होनी चाहिए। संन्यासिनियाँ, पटरानी, मन्त्रिपुत्री, तथा वेश्याओं की भाषा भी कहीं-कहीं संस्कृत रखी जा सकती है।

स्त्री पात्रों के कथनों की भाषा प्रायः शौरसेनी प्राकृत होती है और अकुलीन अधम जातियों के पात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं।

प्राकृत का अर्थ है प्रकृति अर्थात् स्वभाव से आया हुआ, अथवा प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न। ये प्राकृत शब्द तद्भव, तत्सम, देशी—इसे अनेक प्रकार के होते हैं। शौरसेनी तथा मागधी अपने देश-काल के अनुसार नाटक में प्रयुक्त होती है।

पिशाच तथा अत्यन्त अधम चाण्डाल आदि पात्रों की भाषा पैशाची या मागधी होती है। जो नीच पात्र जिस देश का रहनेवाला है उसी देश की बोली के अनुसार उसकी पाठ्य भाषा नाटक में रखनी चाहिए। कभी-कभी किसी प्रयोजन विशेष से इस नियम का अपवाद किया जा सकता है जब उत्तम पात्र प्राकृत तथा नीच पात्र संस्कृत बोलें।

(ii) आमन्त्रण शब्द—

आमन्त्रण शब्दों का संस्कृत नाटकों में प्रयोग करने के बारे में शास्त्रकार के अनुसार यह परम्परा थी

"भगवन्तः वराचार्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः॥

—द० रू०, २.६७

आर्या इति सम्बन्ध ।

रथी सूतेन चायुष्मान् पूज्य शिष्यात्मजानुजा ।
वत्सेति तात पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु स ।।

—द० रू० २ ६८

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्या, सा पि तस्तातति सुगहीत-नामा चेति ।

भावोनुगन सूत्री च मार्षेत्यतेन सोऽपि च ।
सूत्रधार पारिपार्श्विकेन भाव इति वक्तव्य । स च सूत्रिणा माष इति ।
देव स्वामीति नृपतिभृत्यभटटति चाधम ।
आमन्त्रणीया पतिवज्ज्यष्ठमध्याधम स्त्रिय ।।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवगादिभिवाच्या ।

तत्र स्त्रिय प्रति विशेष —

समा हलेति प्रेष्या त हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा ।
कुट्टियम्बत्यनुगत पूज्या वा जरती जन ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्दयते ।।

—द० रू० २ ६९-७०

पूज्या जरती अम्बति ।'

अर्थात्, 'उत्तम पात्र विद्वानो देवर्षियो और संन्यासियो को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करें। विप्र, अमात्य तथा गुरुजनो या बडे भाई को व 'आय' शब्द स सम्बोधित करें।

सारथी अपने रथी वीर को 'आयुष्मान' कहे, तथा पूज्य लोग शिष्य, पुत्र, या छोटे भाई आदि को भी आयुष्मान ही कहे अथवा 'वत्स' या 'तात' कहे। शिष्य, पुत्र, छोटे भाई आदि पूज्यो को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' आदि कह सकते हैं।

पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहे तथा सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'माष' (मारिष) कहे।

उत्तम नौकर राजा को 'देव' या 'स्वामी' कहे और अधम नौकर उसे (भट्टा) (संस्कृत भर्ता) कहे। ज्येष्ठ मध्यम या अधम पात्र स्त्रियो को ठीक उसी तरह सम्बोधित करें जैसे उनके पतियो को।

विद्वानो, देवताओ आदि की स्त्रियो को देवर आदि उनके पति के अनुरूप सम्बोधित करें। अर्थात 'भगवन्' आय के स्त्रीलिंग वाचक 'भगवति' 'आर्ये' आदि प्रयुक्त करें।

स्त्रियों के सम्बोधनो म यह विशेषता है। सखिया एक-दूसरे को 'हला' कहे। दासी या नौकरानी 'हञ्जे' कहे वेश्या को 'अज्जुका' कहा जाए। कुट्टिनी को तथा पूज्य वृद्धा स्त्री को भी 'अम्ब' कहा जाए। विदूषक रानी व सेविका दोनो को 'भवती' कहे।''

६ पताकास्थानक

नाटक म पताकास्थानको का भी समावेश करना चाहिए।

'पताकास्थानकान्यत्र विन्दुरन्ते च बीजवत्।"

—द० रू०, ३ ३७

अर्थात्, "इस नाटक म भावी भावो के सूचक पताकास्थानको का भी सन्निवेश होना चाहिए।"

पताकास्थानक चार होते हैं। जिनका निरूपण इसी खड म पहले किया गया है। इन चार म से प्रथम को छोडकर शेष तीन म विशिष्ट पदयोजना की जाती है, जसा कि वहा स्पष्ट किया गया है।

५

अनुवाद की शैलिया, समीक्षा और गुण-दोष

शैलिया

व्यवहार म हम अनुवाद, भापा तर भावानुवाद छायानुवाद, टीकानुवाद, सारानुवाद, शब्दानुवाद रूपान्तर आदि अनेक शब्द सुनते हैं। इन शब्दो का प्रयोग बहुधा एक अनिश्चित से अथ म कर लिया जाता है। अनुवाद श द का सस्कृत भाषा मे जो अथ प्रचलित था उसे छोड दिया जाए तो भापा तर न द ही वास्तविक अनुवाद का अथ सूचित करता है। शेष शब्द रचना की किसी अ य विशेषता की ओर ध्यान खीचते हैं।

भापान्तर जसा कि ऊपर बताया जा चुका है एक व्याकरण शब्दसमह आदि वाली भापा म कथित अथ को दूसरे व्याकरण, शब्दसमूह आदि वाली भापा मे कहना भापान्तर कहलाता है। यहा अथ का मतलब है पूरा अथ। जसे मुद्राराक्षस का भारते दु कृत हिन्दी अनुवाद भापान्तर अनुवाद है।

भावानुवाद कभी कभी भापान्तर करते हुए जब मूल का यथावत् परिवतन न करके, वाक्याथ का कुछ सक्षेप से और अभिधावाचक शब्दो मे कहा जाता है तब उसे 'भावानुवाद का नाम दिया जाता है। यहा भाव शब्द, रति आदि मनोविकारो का वाचक न होकर, अभिप्राय आशय, या लसक क मनोगत अभिप्रेय अथ का वाचक है। ठीक ठीक देखा जाए तो किसी साहित्यिक रचना का भावानुवाद मूल लेखक के कौशल का बहुत थाडा रूप प्रस्तुत करता है। नाटक के भावानुवाद का तो बहुत ही कम महत्त्व रह जाता है, क्योकि उससे मूल नाटक का रसास्वादन नही किया जा सकता।

छायानुवाद यह शब्द पहल पालि सस्कृत या प्राकृत सस्कृत जसी भापाओ के परिवतन के लिए प्रयोग म आता था। इस तरह की भापाओ म एक ही शब्दात्मा ध्वनि भेद से दोनो जगह होता है और प्राय सब शब्द ऐसे होते हैं। वह ध्वनिभेद दूर करते हुए एक भापा की रचना को दूसरी भापा म करना छायानुवाद कहलाता था। उदाहरण के लिए,

'अहो देवताओ म नेति। अच्चरिअ अच्चरिअम को सस्कृत छाया यह होगी
अहो देवता मन्यते। आश्चयमाश्चयम्।

पर हिन्दी म छायानुवाद शब्द भावानुवाद के अथ म चलता है। मल का भाव

लेकर अनुवाद करना' वही बात है, जो 'मूल की छाया लेकर अनुवाद करना'। अभिप्राय मूलाशय को पूरा न लेने से है।

हमारे विचार से भावानुवाद शब्द ही इस अर्थ के लिए रखना उचित है। वह अधिक प्रचलित भी है और छायानुवाद शब्द की आवश्यकता ऊपर बताए गए प्रकार को प्रकट करने के लिए भी है। छाया का अर्थ हुआ प्रतिबिम्ब। केवल ध्वनि में भिन्न शब्दात्मा एक-दूसरे के बिम्ब प्रतिबिम्ब या छाया कहे जा सकते हैं।

टीकानुवाद मूल संस्कृत का तात्पर्य समझाने के लक्ष्य से किए गए भाषान्तरण को 'टीकानुवाद' कहते हैं। भाषान्तर वाला प्रवाह इसमें नहीं आ पाता क्योंकि इसमें समझाने के लिए बहुधा कोष्ठों में व्याख्या भी दी जाती है। यह अनुवाद मूल रचना के साथ ही दिया जाता है, कभी उसके नीचे, कभी सामने।

सारानुवाद किसी मूल कथन का सार या संक्षेप दूसरी भाषा में करना सारानुवाद कहलाता है। वस्तुतः यह अनुवाद न होकर सार-कथन मात्र है और इसमें अनुवाद शब्द का प्रयोग भ्रामक है। अथवा 'अनुवाद' शब्द यहाँ संस्कृत में प्रचलित अर्थ में है। इस प्रकार की रचना मूल का संक्षिप्त आख्यान मात्र होती है।

शब्दानुवाद मूल रचना के शब्दों के स्थान पर अनुवाद भाषा के शब्द रखते हुए अनुवादभाषा के व्याकरण, मुहावरे और प्रकृति की उपेक्षा करके जो अनुवाद किया जाता है वह शब्दानुवाद कहलाता है। इसमें सारा व्यवसाय अनुवादक के मन में पूरी तरह नहीं उतरता। यह अवस्था अभ्यास की कमी के कारण आती है।

पर उन धार्मिक ग्रन्थों के वचनों का शब्दानुवाद ही उत्तम गिना जाता है जिनके शब्द और शब्दों का क्रम प्रमाण माने जाते हैं जैसे वेद, बाइबिल आदि। वेदमन्त्रों का प्रायः तात्पर्य ही दिया जाता है क्योंकि मूल शब्द का कोई सर्वथा निर्भ्रान्त, निश्चित, एकमात्र अर्थ होने का दावा नहीं किया जा सकता। प्रत्येक अध्येता इन वचनों का अपना ही मतलब लगा सकता है। इसलिए अनुवादक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पाठक को अपने मन की व्याख्या के स्थान पर केवल शब्द का अर्थ बताए, जिससे पाठक अपनी बुद्धि और रुचि के अनुसार मूल का मतलब लगा सके।

यूरोपीय अनुवादकों में मध्यकाल में शब्दानुवाद पद्धति बड़ी प्रचलित थी। इनके अनुवादों में मूल के शब्दों के ऊपर उनके भाषान्तर शब्द लिखे जाते थे जैसे स्कूलों में बच्चे अपनी किताबों में लिख लिया करते हैं। इस पद्धति का विशेष प्रयोग उन रचनाओं में होता था जिनको परम ईश्वर प्रणीत माना जाता था। यह वैसी ही मान्यता थी जैसी वेदों के भाषान्तर में प्रयुक्त होती है। इसका आधार यह धारणा थी कि ईश्वर प्रणीत ग्रन्थ में भी शायद कुछ अर्थ हों जो अनुवादक को स्पष्ट न हों पर शायद बाद में किसी और को स्पष्ट हो जाएँ।[1] इस प्रकार का अनुवाद तभी सफल माना जा सकता है जब दोनों भाषाओं की वाक्य रचना पद्धति एक-सी हो।

रूपान्तर रूपान्तर का तात्पर्य है रूप बदलना, पर [illegible] में इसका प्रयोग

1 W Schwarz Principles and Problems of Biblical Translation Cambridge 1955, p 7

सामान्य अनुवाद या भाषान्तर के अर्थ में भी चलता है। इस अर्थ में रूपान्तर शब्द का प्रयोग वस्तुतः गलत है। अनुवाद करते हुए मूल भाषा बदली जाती है, न कि रचना का बाह्य रूप।

रूपान्तर शब्द का दूसरा प्रयोग अंग्रेजी 'एडप्टेशन' के अर्थ के लिए होता है। एडैप्टेशन का यथार्थ पर्याय अनुकूलन है। किसी नाटक आदि रचना को रंगमंच, दर्शक वर्ग आदि के अनुकूल बनाने के लिए उसमें जो मामूली ऊपरी हेर फेर किए जाते हैं, वे ही 'रूपान्तर' होते हैं। अनुवाद करते हुए भी ऐसे हेर फेर किए जाते हैं। इस प्रकार भारतेन्दु का 'मर्चेंट आफ वेनिस' का अनुवाद भी रूपान्तर कहा जाएगा—इसमें उन्होंने पात्रों, स्थानों आदि के नामों को भारतीय रंग में रंग दिया है।

रूपान्तर शब्द का एक तीसरा और विचित्र प्रयोग डा० सोमनाथ गुप्त ने किया है। अपने हिन्दी नाटक का इतिहास में आपने भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' को इस आधार पर रूपान्तर कहा है कि उसमें कुछ अंश मौलिक और कुछ अंश 'चंडकौशिक' से अनूदित है।[1] रूपान्तर का यह अर्थ विचारणीय है।

किसी वस्तु का विचार करते हुए हम उसकी आत्मा और शरीर, या सारतत्त्व और बाह्यरूप को अलग अलग करके सोचते हैं। नाटक आदि साहित्यिक कृति के प्रसंग में भी हमें आत्मा और शरीर का अलग अलग विचार करना चाहिए और शरीर के अन्तर को ही रूपान्तर समझना चाहिए। यदि दो कृतियों की आत्मा या अन्तस्तत्त्व एक है, केवल उनके रूप में मामूली अन्तर है तब वह रूपान्तर हुआ। पर, दूसरी ओर, यदि दो कृतियों की आत्मा भिन्न है तो केवल इस आधार पर उनमें से बाद वाली को पहली का रूपान्तर नहीं कहा जा सकता कि पहली रचना का आश्रय लेकर दूसरी कृति लिखी गई है या पहली कृति से दूसरी कृति थोड़ी-बहुत प्रभावित है। वस्तुतः किसी दूसरी निष्पन्न रचना का आश्रय लेकर लिखी गई रचना को पराश्रयी रचना कहना अधिक संगत है। इसी प्रकार किसी रचना के अनुकरण पर लिखी गई कृति को 'अनुकारी' रचना, और अपने अनुकरण वाली रचना को अनानुकारी कह सकते हैं।

हिन्दी नाटक साहित्य में उपलब्ध अनुवाद-शैलियां

हिन्दी नाटक साहित्य में 'अनुवाद' कही जानेवाली कृतियां चार शैलियों में हैं

१ सारकथन या आख्यान शैली

हिन्दी का प्रथम महत्त्वपूर्ण अनुवाद 'प्रबोधचन्द्रोदय' का संक्षिप्त अनुवाद है। इसके बाद भी कई मध्यकालीन अनुवाद जिनमें जसवन्तसिंह कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद भी है मूल रचना का संक्षेप प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये सच्चे अर्थों में अनुवाद नहीं हैं। नेवाज ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का आख्यान मात्र दिया है।

१ पृष्ठ ४८।

२ भाषान्तर

मध्यकाल के बाद के अधिकतर अनुवाद पूर्ण भाषान्तर हैं। मध्यकाल में गुलाबसिंह का अनुवाद पूर्ण 'भाषान्तर' की कोटि में आएगा, चाहे उन्होंने कुछ कुछ रूपान्तर भी किया है।

३ रूपान्तर शैली

कुछ अनुवादों में मूल रचना का रूपान्तर भी किया गया है। कवि गुलाबसिंह कृत प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद की अभी चर्चा की जा चुकी है। भारतेन्दु ने भी 'कर्पूर मंजरी' में मामूली रूपान्तर किया है।

४ पराश्रयी रचनाएं

पराश्रयी रचनाएं अनुवाद नहीं कहला सकतीं। वस्तुत ये ऐसी मौलिक रचनाएं हैं जिनकी सामग्री संस्कृत नाटकों से उतनी जैसी की तैसी उठा ली गई है। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्र', बदरीनाथ भट्ट का 'कुरुवन-दहन', तथा कलानाथ भटनागर के 'चाणक्य प्रतिज्ञा', भीष्म प्रतिज्ञा, आदि नाटक पराश्रयी रचनाएं हैं।

निष्कर्ष संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूर्ण भाषान्तर शैली की रचनाएं ही वस्तुत अनुवाद हैं। और, उस तरह के अनुवादों पर ही इस प्रबंध में मुख्य रूप से विचार किया गया है। कुछ रचनाएं नाटकों के अनुवाद नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे हृदयरामकृत हनुमन्नाटक और जसवंतसिंह-कृत प्रबोधनाटक, पर वे वस्तुत अनुवाद नहीं हैं। उनकी चर्चा यहां यह दिखाने के लिए ही की गई है कि वे वास्तव में अनुवाद नहीं हैं।

अनुवाद की समीक्षा

अच्छे अनुवाद की कसौटी

अच्छा अनुवाद कौन-सा होता है?

इस प्रश्न का उत्तर सब अनुवादों के लिए एक नहीं हो सकता। किसी अनुवाद विशेष की श्रेष्ठता का निर्णय इस बात पर निर्भर होगा कि उस अनुवाद विशेष का लक्ष्य क्या है? यदि अनुवाद का मुख्य लक्ष्य शब्दों के अभिधेय अर्थों में परिचय कराना है, जैसा कि टीकानुवादों का होता है तो अनुवाद में यथासम्भव प्रत्येक शब्द का अर्थ आ जाने पर ही वह श्रेष्ठ अनुवाद कहलाएगा। ये अनुवाद शब्दार्थ प्रधान होते हैं। यदि अनुवादक कोई जानकारी पाठक को देने का यत्न कर रहा है, तो प्रत्येक शब्द के अर्थ का कोई महत्त्व नहीं। वह जानकारी जिस अनुवाद में पूरी तरह आ जाए वही अनुवाद श्रेष्ठ होगा। ये अनुवाद वाक्यार्थ प्रधान होते हैं। वैज्ञानिक और शास्त्रीय अनुवाद इस कोटि में आते हैं। यदि किसी अभिधेय अर्थ-चमत्कार (अर्थालंकार) का परिचय देना है, तो वह भी इसी आधार पर अच्छा-बुरा कहलाएगा। तीसरे प्रकार के अनुवाद वे हैं जिनका

प्रधान लक्ष्य भाव और रस की व्यंजना करना है। ये अनुवाद व्यंग्यार्थ प्रधान होते हैं। काव्य-नाटकादि रसप्रधान रचनाओं के अनुवाद इस वर्ग में आते हैं। इनमें वस्तु या तथ्य का विधान भाव या रस की व्यंजना के लिए किया जाता है—वस्तु कथन प्रधान या साध्य नहीं होता, वह गौण और साधन होता है। इन अनुवादों की श्रेष्ठता का निर्णय इनकी भाव और रस की व्यंजना करने की क्षमता की कसौटी पर ही करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि *भाषा में स्वतन्त्र अस्तित्व वाक्य का होता है*, पदों का नहीं। प्रबन्ध रचना में पृथक् पृथक् वाक्य की स्वतन्त्र सत्ता होते हुए भी वे वाक्य प्रबन्ध रूप वाक्य-समष्टि के अवयव होते हैं। इसलिए *अनूदित वाक्य की व्यंजना सारे प्रबन्ध की दृष्टि से विवेचनीय है, किसी एक वाक्य की दृष्टि से नहीं।*

पहली बात को स्पष्ट करने के लिए शाकुंतल का नांदी श्लोक और उसके दो अनुवाद प्रस्तुत हैं

मूल

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

अनुवाद १

आदि सृष्टि इक नाम, नाम इक विधिहुत वाहन।
बहुरि नाम यजमान, जाति द्वै काल बतावन।
एक सर्वव्यापीक श्रवनगुन जात पुकारा।
भूत प्रकृति फिर एक जनति अग जग संसारा।
गनिय जु जीव आधार पुनि, अष्टमूर्ति इनतें कहत।
शंकर सहाय तुम्हारी करें नितप्रति तिनहीं में रहत॥

—१८८९, लक्ष्मणसिंह

अनुवाद २

सलिल, अग्नि, समीर वसुधा गगन, भास्कर चन्द्रमा।
और होता आठ जिनकी हैं प्रकट ये मूर्तियां
वे स्वयंभू शिव तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें,
दृष्टि करुणा की रखें, दुख आपदा सारी हरें।

—*१९६० विराज*

प्रथम अनुवाद में 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' को 'आदि सृष्टि इक नाम' कहा गया है, और दूसरे अनुवाद में इसे 'सलिल' कहा गया है। अभिधेय अर्थ की दृष्टि से सलिल अनुवाद ठीक है क्योंकि आद्य सृष्टि जल को ही माना गया है (अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्)। परन्तु यदि अभिधेय अर्थ जल का उल्लेख करना मात्र कवि का लक्ष्य होता, तो वह स्वयं इस या इसके दूसरे किसी पर्याय शब्द का प्रयोग कर सकता था। जब वह उस अर्थ को 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' शब्दों से कह रहा है, तो किसी प्रयोजन से ही।

और, वह प्रयोजन है भाव-व्यजना तथा वस्तुसूचन। यहा 'आदि सष्टि' कहकर उसके अपूर्वत्व से विस्मय और हर्ष की व्यजना की गई है—ये दोनो भाव कविगत भक्तिभाव के सहयोगी हैं। इसी प्रकार मूल कथन म 'पर्यायोक्त अलकार' भी है। ये दोनो बातें प्रथम अनुवाद म हैं, पर द्वितीय अनुवादक की पकड म नहीं आइ। स्पष्टत प्रथम प्रकार का अनुवाद ही काव्य का सच्चा और अच्छा अनुवाद है।

दूसरी बात भी ऊपर दिए गए उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है। मूल श्लोक म कुल आठ वाक्य हैं जिनम से यह एक मुख्य वाक्य है

ताभि अष्टाभि प्रत्यक्षाभि तनुभि प्रपन्न ईश व अवतु।

'ताभि की व्याख्या पहले सात विशेषण वाक्यो मे की गइ है। अब या सष्टि स्रष्टुराद्या' और प्रथम अनुवाद के 'आदि सृष्टि इक नाम' की तुलना करें तो अनुवाद म 'या और 'स्रष्टु पदो के वाचक शब्द नहीं है और 'इक नाम' ये दो शब्द अनुवादक न अपनी ओर से जोडे हैं। यह होने हुए भी प्रधान वाक्य म अन्वित करके इस वाक्य को पढें, तो मूल और अनुवाद एक से समय हैं। केवल इस कारण अनुवाद को हीन नहीं कहा जा सकता कि उसमे मूल के किसी एक शब्द का वाच्यार्थ नहीं आया या कोई शब्द एसा आ गया है, जो मूल म नहीं था। सम्पूर्ण प्रबन्ध की दृष्टि मे या सष्टि स्रष्टुराद्या म आदि सष्टि जल के साथ अपूर्व सष्टि शकुन्तला का जो सूचन था, वह 'आदि सष्टि इक नाम' से हो रहा है। इसलिए इस अनुवाद को प्रथम कोटि म गिना जाएगा।

अभिप्राय यह कि काव्य और नाटक के अनुवाद म केवल अभिधेय अर्थ का महत्त्व नहीं है महत्त्व तो रस भाव, वस्तु आदि की व्यजना का है।

अलकार को भी इसी दष्टि से देखना चाहिए। जहा तक शब्दालकारो का सम्बन्ध है, वे साधारणतया अनुवाद योग्य नहीं होते क्योंकि अनुवाद और शब्दालकार म सहज विरोध है। अनुवाद मूल के शब्दो के स्थान पर दूसरे शब्द लाने के लिए ही तो किया जाता है—जो चमत्कार मूल के शब्द मात्र पर आश्रित था वह फिर अनुवाद म रह ही कैसे सकता है? पर, जब अनुवाद भाषा म मूलभाषा के पदो का प्रयोग खूब चल जाता हो, वहा कभी-कभी यह चमत्कार लाना सम्भव हो सकता है।

अर्थालकार जहा वाच्य होते हैं वहा यदि वे प्रधान वाक्यार्थ हैं, तो वे अनुवाद म आने ही चाहिए। ऐसी रचना का काव्यत्व ही यह अलकार-वैचित्र्य माना है। पर, जहा अर्थालकार प्रधान वाक्यार्थ का अगमात्र हो वहा उसे अनुवाद म न भी लाया जा सके, तो अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। उदाहरण के लिए,

आपरितोषाद् विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत ॥

—अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक १, श्लोक

इस श्लोक का प्रधान वाक्यार्थ अर्थान्तरन्यास अलकार है। इसम प्रथम वाक्य विशेषात्मक है और उसका समर्थन दूसरे सामान्यात्मक वाक्य म किया गया है। राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका यह अनुवाद किया है

नाटक करतउ तब भलो रीझै सजन समाज,
नातर सीखेहू घने दुचित रहत इहि काज।

यहा प्रथम वाक्य विशेषार्थक न रहकर सामान्यार्थक हो गया है। दूसरा भी सामान्यार्थक है। इस प्रकार, सामान्य से सामान्य का समर्थन है। यहा अलकार अर्थान्तर न्यास ही रहा, यद्यपि विधान मूल से थोडा भिन्न है।

परन्तु निम्नलिखित उदाहरण में अलकार अग मात्र हैं

अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेषु सन्नद्धम ॥

—शाकुन्तल १ १८

इस श्लोक म दुष्यन्त लता से शकुन्तला की समानता देख रहा है। प्रधान वाक्यार्थ यहा यह वस्तु है कि शकुन्तला सचमुच लता लगती है। इसका अधर किसलय जैसा लाल है, बाहें कोमल शाखाओ जसी हैं और अगो म उभरा हुआ यौवन कुसुम के समान आकर्षक है। मूल में अगो का साम्यकथन अनेक भगियों से हुआ है—'अधर किसलयराग' मे बहुव्रीहि समासगत श्रौती उपमा है 'कोमलविटपानुकारिणौ' मे आर्थी उपमा है और कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेषु सन्नद्ध मे इव का प्रयोग होने से श्रौती उपमा है।

राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका यह अनुवाद किया है

'अधर रुचिर पल्लव नये, भुज कोमल जिमि डार।
अगन मे यौवन सुभग लसत कुसुम उनहार॥

यहा 'अधर रुचिर पल्लव नये' म रूपक, 'भुजकोमल जिमि डार' मे श्रौती उपमा और 'अगन म यौवन सुभग लसत कुसुम उनहार' म आर्थी उपमा है।

इस प्रकार क्रमश मूल की श्रौती उपमा के स्थान पर रूपक, आर्थी उपमा के स्थान पर श्रौती उपमा और श्रौती उपमा के स्थान पर आर्थी उपमा होने से ही कोई सहृदय अनुवाद को मूल से हीन नही कह सकता—यहा अलकार गौण थे, प्रधान नही। प्रधान वाक्यार्थ तो नायिका का रूप था।

वस्तुरूप अर्थ का अनुवाद

वस्तुरूप अर्थ के अनेक भेद हैं। वह सज्ञारूप, घटना या क्रियारूप समुच्चयरूप, भाव या सत्तारूप उपदेश या प्रेरणारूप आदि हो सकता है।

भाव और रस की तथा वस्तु की व्यजना वस्तु से होती है। इसलिए जहा भाव और रस आदि की व्यजना करनी है, वहा वस्तु के अनुवाद की कसौटी, वस्तु न होकर व्यग्य भाव या रस ही होगा। 'दुरात्मन क्षत्रियापसद' (महावीर चरित) के अनुवाद मे लाला सीताराम ने 'अरे पाजी की पछ' शब्द रखे हैं। यहा मूल और अनुवाद की वस्तु सर्वथा भिन्न है, पर यह कहना उचित न होगा कि 'दुष्ट नीच क्षत्रिय' अनुवाद अधिक शुद्ध या अच्छा होता। रसज्ञ शब्दों की तुलना नहीं करता, वह मूल और अनुवाद के शब्दों की व्यजना या प्रभावों की तुलना करता है। परन्तु इस प्रकार अनुवाद करते हुए यह

जाए। उदाहरण के लिए 'सबस``ाना को विदित हो,' 'ब्राह्मणि'।

भाषा की सरलता की दृष्टि से देखें, तो राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु लाला सीताराम, प० वागीश्वर विद्यालंकार, आदि के अनुवाद प्रथम श्रेणी में रखने योग्य हैं।

रचनासौष्ठव का प्रश्न छन्द रचना के प्रसंग में आता है। यदि मूल पद्य का अनुवाद गद्य में किया जाए तो भाव-संचार की गति अवरुद्ध सी हो जाती है, और रचना शिथिल लगती है। विशेषत संस्कृत नाटक में काव्यत्व और भाव-व्यंजना की प्रधानता होने से उसके छन्दों के गद्य अनुवादों में वह चुस्ती और गति नहीं आ पाती, जो मूल छन्द को पढने-सुनने में अनुभव होती है।

उचित छन्द का निर्वाचन न करने से भी रचना का सौष्ठव मारा जाता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु की रचनाएं बहुत सुन्दर हैं। उनके बाद रचना करने पर भी राजा लक्ष्मणसिंह छन्द के विधान मे बहुत सफल नहीं हो सके।

गद्य रचना में चूर्णक गद्य अर्थात छोटे वाक्य और प्राय समासरहित पदों वाली रचना सबसे अधिक प्रशंसनीय है।

अनुवादों के आलोचक

अनुवादों की आलोचना करनेवाले लोगों को हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं

(क) मूल भाषा और अनुवाद भाषा दोनों के विद्वान।

(ख) केवल अनुवादभाषा के विद्वान।

(ग) विद्वत्ता का दावा न करनेवाले साधारण पाठक।

स्पष्टत, जो भी अनुवाद किए जाते हैं वे ख तथा ग वर्ग के पढने के लिए किए जाते हैं पर अनुवादक क वर्ग के होते हैं। इस क वर्ग के अधिकतर लोग मूलभाषा के ओज से अभिभूत होते है। उन्होंने रचना का आनन्द पहले मूलभाषा में लिया होता है और उसके शब्दों तथा अर्थों की व्यंजनाएं पहले वही अनुभव की होती है। अनुवाद पढने पर यह वर्ग कभी सन्तुष्ट नहीं होता। इसे सदा अनुवाद की त्रुटियां और न्यूनताएं अनुभव होती रहती हैं। ऐसे आलोचक को दो बातें सदा स्मरण रखनी चाहिए—एक तो यह कि अनुवाद मूलभाषा न जाननेवालों के लिए किया जाता है जाननेवालों के लिए नहीं और दूसरी यह कि कोई भी अनुवाद मूल की बराबरी नहीं कर सकता। मूलभाषा के सांस्कृतिक परिवेश और साहित्यिक परम्परा पर अनुवादक की पकड लेखक के बराबर नहीं हो सकती। मूल लेखक और अनुवादक की कारयित्री प्रतिभाओं में भी बहुधा बडा अन्तर होता है। इसलिए आलोचक अनुवाद और अनुवादक से तभी न्याय कर सकता है, जब वह अनुवाद रचना को स्वतन्त्र रचना मानकर और सामयिक साहित्य के साथ रखकर देखे।

अनुवाद की आलोचना में लेखक के विचारों या मूल रचना के रचनाविधान आदि की आलोचना का कोई प्रसंग नहीं होता। वस्तुत आलोचना का एक मुख्य आधार रचना-सौष्ठव और भाषाशैली को मानना चाहिए। यों समझिए कि मूल रचना के लेखक ने अपने समय के सांस्कृतिक परिवेश में एक विशेष पाठकवर्ग के लिए जो रचना की थी वह अनुवादक ने अपने सांस्कृतिक परिवेश और साहित्यिक-परम्परा मे अपने पाठक-वर्ग

के लिए प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की या नहीं। यदि अनुवादक अपने पाठकवर्ग को वह आनन्द अधिकांशतः—न कि पूरी तरह, क्योंकि पूरी तरह पानी बात असम्भव है—दे सका, तो उसे सफल और अच्छा अनुवादक समझना चाहिए। अनुवाद रचना के शेष गुण दोष मौलिक साहित्य रचना की तरह ही विवेच्य होते हैं।

केवल अनुवादभाषा के विद्वान यद्यपि अनुवाद रचना की तुलना मूल से नहीं कर सकते, पर वे इसकी आलोचना मौलिक रचना की तरह तो कर ही सकते हैं। सच पूछिए तो इस दृष्टि से ये लोग जो आलोचना करेंगे वह बहुधा उस रचना का अधिक अच्छा मूल्यांकन होगा। मूल रचना के सौन्दर्य से साक्षात् परिचय न होने के कारण ये किसी 'प्रथम प्रणय' की उत्तेजना से अभिभूत नहीं होते। अनुवादों की ऐसी आलोचना को हमारे विचार से मूल भाषा के पण्डितों की आलोचना से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। ऐसा कहने का यह अर्थ न समझना चाहिए कि अनुवाद की मूलभाषा से मिलाकर की गई आलोचना का कोई स्थान नहीं। अभिप्राय इतना ही है कि अनुवाद मूलभाषा से मिलाकर पढ़ने के लिए नहीं होते बल्कि अपने आपमें स्वतन्त्र साहित्यिक रचना होते हैं। उनकी शुद्धता अशुद्धता जाँचने के साथ-साथ रमणीयता और प्रौढ़ता की विवेचना अधिक होनी चाहिए।

निष्कर्ष संक्षेप में रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं—शास्त्रीय और साहित्यिक। शास्त्रीय रचनाएँ वाच्यार्थ प्रधान होती हैं और उनके अनुवाद की श्रेष्ठता की कसौटी मूल का यथावत् अनुसरण है। साहित्यिक अनुवाद व्यंग्यार्थ प्रधान होते हैं और उनकी श्रेष्ठता मुख्यतः भाव की व्यंजना पर निर्भर होती है। साहित्यिक अनुवाद की ठीक आलोचना वह है जो उसे हर कदम पर मूल से नहीं मिलाती, अनुवाद रचना को स्वतन्त्र रचना के रूप में मूल्यांकन करता है।

अनुवाद और पाश्चात्य समीक्षक

पाश्चात्य साहित्य में अनुवाद समीक्षा की परम्परा सत्रहवीं शती से तो अविच्छिन्न चली आती है, पर उससे पहले भी सिसरो और होरेस (लगभग २००० वर्ष पहले) के, तथा सोलहवीं शती में लूथर और मौंटेन के कुछ विचार मिलते हैं। इनमें से हम सिर्फ पाँच-छह प्रमुख लेखकों के विचार यहाँ बहुत संक्षेप में देंगे।

सिसरो[१] का यह कथन कि 'मैंने उनका अनुवाद व्याख्याता बनकर नहीं किया वक्ता बनकर किया है शब्द के बदले शब्द (Verbum proverbo) रखकर नहीं, मैंने तो उनकी भाषा की साधारण शैली और बल को यथावत् कायम रखा है," साहित्यिक रचनाओं की व्यंग्यार्थ प्रधानता को अक्षुण्ण रखने की ओर ही संकेत कर रहा है।

प्रसिद्ध इंगलिश कवि जौन ड्राइडन[२] ने भाषा की दृष्टि से अनुवाद के तीन भेद किए हैं—मेटाफ्रेज, पराफ्रेज और इमिटेशन अर्थात् शब्दानुवाद, भावानुवाद (यहाँ भाव शब्द का प्रयोग अभिप्राय के अर्थ में है) और अनुकरण। पहले का उदाहरण है होरेस की रचना आर्ट ऑफ पोएट्री का बेन जानसन कृत अनुवाद और दूसरे का उदाहरण है

१ Libellus de optims genere oratorium IV, 14
२ Epistles (लेखक—ओविड) की भूमिका।

वर्जिल की रचना एनीड का मार्तर कृत अनुवाद। तीसरे प्रकार को वह ठीक अनुवाद की कोटि से बाहर समझता है।

गटे ने भी अनुवाद तीन प्रकार के माने हैं, पर उनकी श्रेणियां कुछ भिन्न हैं। पहला प्रकार है परिचयात्मक (जैसे लूथर कृत बाइबल), दूसरा रूपांतर या एडप्टेशन और तीसरा पुनःसृजन। वस्तुतः इनमें से तीसरा प्रकार ही सच्चे अर्थों में अनुवाद है। गटे का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि अनुवादों में त्रुटियां चाहे जितनी रह जाती हों, फिर भी संसार के कुल व्यवहार में इनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रसिद्ध कला समीक्षक बेनडेट्टो क्रोचे ने एस्थटिक्स (पृष्ठ ६८ ७३) में अच्छे अनुवाद को मौलिक कला रचना के समान महत्त्वपूर्ण माना है। पर आपकी यह धारणा है कि किसी कलात्मक रूप वाली रचना को दूसरी कलात्मक रूप वाली रचना में नहीं बदला जा सकता। फिर भी ये अनुवादों में सापेक्ष श्रेष्ठता मानते हैं। इनका कहना है कि अनुवाद मूल का पुनःसृजन तो नहीं हो सकता पर मूल की अभिव्यक्ति के सदृश अभिव्यक्ति का सृजन हो सकता है। वह प्रसिद्ध कथन भी क्रोचे का ही है कि स्त्री के समान अनुवाद भी सुन्दर है तो सच्चा (पूर्णतः मूलानुसारी) नहीं हो सकता और सच्चा है तो सुन्दर नहीं हो सकता।

हिलेअर बेलाक ने अनुवादक के लिए यह मार्ग बताया है १ मूल रचना को बारीकी से पढ़ो, २ अपने मन पर पड़े प्रभाव को अपनी भाषा में लिखो, ३ फिर मूल रचना के साथ मिलाकर पढ़ो और अनुवाद को मूल के अधिक से अधिक निकट लाओ पर, 'अपनी भाषा का स्वाभाविक प्रवाह कम न होने दो।

बेलाक ने अनुवादों को दो भागों में बांटा है—१ वे अनुवाद जो ज्ञान कराने के उद्देश्य से किए जाते हैं—इनमें यथार्थता रहनी चाहिए। २ साहित्यिक अनुवाद—ये मूल की भावना से रंजित होने चाहिए। आपने यह भी बताया है कि अनुवाद के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(क) अपनी मातृभाषा में अनुवाद किया जाए, (ख) विदेशी भाषा पर अधिकार होना चाहिए (ग) अनुवाद पर परिमाण और रूप का कोई बंधन नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार इन विचारों को देखने से पता चलता है कि पाश्चात्य चिन्तन के शब्द कुछ भिन्न अवश्य है, अर्थ प्राय वही है जिसका हमने ऊपर निरूपण किया है।

अनुवादों के दोष

अनुवादों में साधारणतया ये छह दोष होते हैं

१ भिन्नार्थता
२ भिन्नाभिप्रायता
३ पदाग्रह
४ काष्ठत्व
५ न्यूनार्थता
६ अधिकार्थता

१ भिन्नार्थता

अनूदित रचना का अर्थ मूल अर्थ से भिन्न होने पर भिन्नार्थता दोष होता है।

इसके दो रूप होते हैं ईषद्भिन्नार्थता और अतिभिन्नार्थता। ये दोनों पदगत और वाक्यगत होने से कुल चार भेद हो जाते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः ये हैं

पदगत ईषद्भिन्नार्थता

'अधर रुचिर पल्लव नये' (लक्ष्मणसिंह शकुन्तला पृ० १८), यहाँ नये यह बहुवचन प्रयोग मूल से भिन्न है जहाँ अधर एकवचन में है, 'अधरः किसलयरागः' (शाकुन्तल १.१८)।

पदगत अतिभिन्नार्थता

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्॥

—शाकुन्तल, १.६

इसका अनुवाद करते हुए राजा लक्ष्मणसिंह ने अपने १८६३ वाले संस्करण में लिखा था—'मानो पिनाक सधान किए शूकर के पीछे जाते हैं।' यहाँ मृग का अर्थ वन मृग या हरिण था, 'शूकर' नहीं। इसलिए यहाँ पदगत अतिभिन्नार्थता दोष आ गया है।

वाक्यगत ईषद्भिन्नार्थता

यह दोष बड़ा व्यापक है। इसका उदाहरण यह है

'राजा   प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तला प्रियंवदा।

—शाकुन्तल १.१८ से पहले

इसके निम्नलिखित अनुवाद में वाक्यगत ईषद्भिन्नार्थता दोष है

'राजा   प्रियंवदा ने शकुन्तला से सच्ची पर बहुत प्रिय बात कही है।

—अनु० इन्दुशेखर, पृ० ८

यहाँ मूल के अनुसार प्रिय पर सच्ची होना चाहिए।

वाक्यगत अतिभिन्नार्थता

इसका उदाहरण

'सेनापति (जनान्तिकम्) सखे! स्थिरप्रतिबधो भव। अहं तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये।

—शाकुन्तल २.५ से पहले

अनुवाद में इसका यह रूप हो गया है

'सेनापति (चुपके से) मित्र तुम भी खूब लगाओ जोर। मैं भी स्वामी के मन को बदलकर ही रहूँगा।"

—अनु०, विराज, पृ० ६२

इसका ठीक अनुवाद यह होता

'सेनापति (चुपके से) मित्र डटे रहना। मैं तो मालिक की मुँह-देखी ही कहूँगा।"

यहा 'राजा' के स्थान पर 'यह राजा' रखने का विधान है। इस तरह न रखने से यहा विधान दोष है।

२ पात्र-दोष

पात्र-दोष वहा होता है जहा मूल नाटक के पात्र का रूप अनुवाद म बदल जाता है।

इसके उदाहरण लाला सीताराम के 'महावीर चरित' के अनुवाद तथा सत्यनारायण के उत्तररामचरित के अनुवाद मे है जिनम राम को, जो मूल म अदिव्य या मानव पात्र है अनुवाद म दिव्यादिव्य पात्र बना दिया गया है।

३ सवाद दोष

यह दोष वहा होता है, जहा मूल के नाटकीय सवाद अनुवाद म बोलचाल की शैली के सवाद नहीं रहते अनुवादमात्र रह जाते हैं।

इसका उदाहरण है प्रबोधचन्द्रोदय का कवि गुलाबसिंह कृत अनुवाद।

शास्त्रीय अनुवादों के दोष

शास्त्रीय अनुवादो का सबसे बडा दोष दुरवधारण दोष है। दुरवधारण दोष वहा होता है जहा मूल का अवधारण या विचार अनुवाद म भिन्न या सन्दिग्ध या अस्पष्ट हो।

दुरवधारण के तीन भेदों—भिन्नावधारण, सन्दिग्धावधारण और अस्पष्टावधारण—*म से प्रथम का उदाहरण नीचे दिया जाता है।*

भिन्नावधारण

जब अनुवादक मूल रचना के अवधारण या सकल्पना को किसी अन्य अवधारण या सकल्पना म बदल देता है तब रचना म भिन्नावधारण दोष आ जाता है। इसका उदाहरण पाषण्ड विडम्बन के इस पद्य म है

छन छन में बिगरत बनत जग ता भावहि मानि।
छाडि बासना सकल भे मुक्त तत्व हम जानि॥

—भारतेन्दु नाटकावली, भाग २, पृ० ७०

यहा वाक्यगत भिन्नावधारण दोष है। मूल रचना म बौद्ध धर्म का दार्शनिक सिद्धात बताया गया है। इसके अनुसार, सब पदार्थ वस्तुत असत और क्षणिक हैं पर धीसतति मे व सत की तरह प्रतीत होते हैं ऐसी प्रतीति धीसतति म वासना के कारण होती हैं वासना नष्ट हो जाने पर धीसतति विषय के उपराग से शून्य हो जाती है। मूल श्लोक यह है

सर्वे क्षणभगिण एव निरात्मकाश्च।
यत्रार्पिता बहिरिव प्रतिभाति भावा।

सैवाधुना विगलिताखिलवामनत्वा
दीप्तिमति स्फुरति निर्विषयापरागा।

—प्रबोधचन्द्रोदयम्, ३ ८

अनुवाद पढ़ने से बौद्ध धर्म के उपयुक्त दार्शनिक सिद्धान्त का पता नहीं चलता।

अनुवादों के गुण

अनुवादों में मुख्य गुण तीन होने चाहिए १ द्रवत्व या प्रवाह, २ उद्देश्यसंगति, और ३ निर्दोषत्व।

१ द्रवत्व या प्रवाह

मूल भाषा के पदों और मुहावरों को पूरी तरह भूल कर उसके अर्थ का अनुवाद भाषा के मुहावरे में ऐसा प्रस्तुत करना कि मूलभाषा की गन्ध न रहे द्रवत्व कहलाता है। इसे ही प्रवाह भी कहते हैं।

लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु सीताराम चारी वर विद्यालंकार, आदि के अनुवादों के अधिकतर अंश में यह गुण है।

२ उद्देश्य-संगति

मूल रचना कवि ने जिस उद्देश्य से प्रस्तुत की थी उस उद्देश्य से संगत अनुवाद में उद्देश्य संगति गुण होता है।

भारतेन्दु के अधिकतर अनुवादों में यह गुण है।

३ निर्दोषत्व

सर्वथा दोषहीन अनुवाद नहीं हुआ करता। किसी अनुवाद में जितने कम दोष होंगे वह उतना ही निर्दोषत्व गुण से युक्त होगा।

शोध-प्रबन्ध

संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद

•

विषय-प्रवेश

संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों का आरम्भ हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल में मिलता है। सबसे पहली अनुवाद रचना १५४४ ई० में की गई थी। यह रचना संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद है, जो मल्ह कवि का किया हुआ है। १८४३ में प्रथम मौलिक नाटक 'आनन्दरघुनन्दन' की रचना हुई। बीच के ३०० वर्षों में, संस्कृत के नाटकों के अनेक हिन्दी (ब्रज) अनुवाद तथा कुछ अन्य रचनाएं भी नाटक नाम से प्रसिद्ध हुईं। बाद में भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द (उपनाम गिरधरदास) तथा भारतेन्दु और उनके समकालीनों की मौलिक नाटक रचनाएं निकलीं, और कुछ संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद हुए। मौलिक हिन्दी नाटकों का आधुनिक रूप में प्रणयन आरम्भ हो जाने के बाद भी संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद होते रहे हैं, और आज भी हिन्दी काव्यरसिकों को आनन्द प्रदान करते हैं।

संस्कृत से अनूदित नाटकों की इस दीर्घ परम्परा का उल्लेख तो हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहासों में मिलता है, पर इन इतिहासकारों या अन्य किसी अध्येता ने इन अनुवादों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया। इस प्रबन्ध में इन अनुवादों की संख्या, इनकी सामान्य प्रवृत्तियां, इनकी उत्कृष्टता और इनके योगदान का निरूपण करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन की सीमाएं

उपलब्ध अनुवादों में कुछ तो मूल नाटक को कथामात्र प्रस्तुत करने के लिए लिखे गए हैं, और कुछ में मूल का बहुत संक्षिप्त रूप दिया गया है। ये दोनों प्रकार की रचनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी वस्तुतः मूल नाटक की अनुवाद नहीं कही जा सकतीं। इन रचनाओं में अनुवाद-कौशल का कुछ भी पता नहीं चलता। ये रचनाएं हमारे प्रबन्ध का विषय नहीं हैं, यद्यपि १८५० तक के इस प्रकार के अनुवादों का संक्षिप्त अध्ययन इनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण और परम्परासूत्र अविच्छिन्न रखने की दृष्टि से किया अवश्य गया है।

साधारणतया उन अनुवादों का ही विशेष अध्ययन किया गया है जो मूल नाटक का अविकल या प्रायः अविकल अनुवाद हैं, और साहित्यिक रसास्वादन के लिए अनूदित

किए गए हैं। जो अनुवाद, विशेषत बीसवी शती म, सस्कृत के छात्रा की सुविधा की दृष्टि से टीका प्रस्तुत करन के लिए सस्कृत नाटका के साथ दिए गए हैं उन्ह साहित्यिक अनुवाद नही कहा जा सकता। य टीकानुवाद हैं, और इनके अनुवादका का लक्ष्य साहित्यिक रसास्वादन के लिए कोई रचना प्रस्तुत करना नही रहा। इसलिए ये टीकानुवाद भी हमारे अध्ययन क्षेत्र से बाहर हैं।

सस्कृत नाटका म हमन प्राकृत सट्टक कर्पूरमजरी को भी माना है। इसका अनुवाद भारतेन्दु ने किया है। और हमारी धारणा है कि वह अनुवाद मूल प्राकृत स न करके उसकी सस्कृत छाया स ही किया गया है। भारतेन्दु के अपने साहित्यिक महत्त्व के कारण भी इस अनुवाद का यहा अध्ययन करना उचित होता। सस्कृत परम्परा तो प्राकृत रचनाओं को अपने म समाविष्ट करती ही है।

सक्षेप म इस प्रबन्ध का अध्ययन प्रधानत उन अनुवादो तक सीमित है, जो मूल नाटक का अविकल रूप साहित्यिक रसास्वादन के लिए प्रस्तुत करते है, यद्यपि १८५० स पहले के सक्षिप्त अनुवादो का भी अध्ययन एतिहासिक महत्त्व की दृष्टि स और परम्परा सूत्र दिखान के लिए किया गया है।

अध्ययन का विभाजन

यह अध्ययन यो तो सात अध्यायो म विभाजित है पर पिछले तीन अध्याय ऐतिहासिक निरूपण के अग नही है। प्रथम अध्याय मे सस्कृत से अनूदित नाटको की सूची दी गई है और उनकी सामान्य प्रवृत्तिया दिखाई गई हैं। अगले तीन अध्यायो म क्रमश मध्य काल आधुनिक काल और वतमान काल के अनुवादो की समीक्षा की गई है। पाचवें अध्याय मे शाकुन्तल के पाच अनुवादो की तुलना की गई है। छठे अध्याय मे रगमच की दृष्टि स अनूदित नाटको पर विवेचन है। अन्तिम अध्याय मे अनुवादो का योगदान दिखाने और मूल्याकन करन का प्रयत्न किया गया है।

पहला अध्याय

अनुवाद और उनकी सामान्य प्रवृत्तियाँ

१५४४ में मल्ह कवि ने प्रबोधचन्द्रोदय का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया था। तब से आज तक किए गए अनुवादों की संख्या सौ से ऊपर पहुँचती है। इनमें से बारह रचनाएँ आधुनिक काल आरम्भ होने से पहले की हैं। आधुनिक काल के पहले पचास वर्षों में सत्ताईस अनुवाद हुए। वर्तमान काल में अर्थात् १९०० ईस्वी के बाद से आज तक ७४ नये अनुवाद हुए।

इन अनुवादों का विवरण तीन सारणियों में नीचे दिया गया है। पहली सारणी में रचनाकाल के क्रम से रचनाकाल, मूल नाटक का नाम और अनुवादक का नाम दिया गया है। जो रचनाएँ दोहरे कोष्ठकों में हैं वे प्रायः अनुवाद मानी जाती रही हैं पर अनुवाद नहीं हैं, और समयसार नाटक शास्त्रीय रचना है। दूसरी सारणी में आधुनिक काल से पहले की, आधुनिक काल की और वर्तमान काल की अनूदित रचनाओं का अलग अलग परिगणन किया गया है। तीसरी सारणी में संस्कृत नाटकों को वर्णानुक्रम से रख कर विभिन्न कालों में उनके अनुवादों की आवृत्ति दिखाई गई है।

सारणी १

कालक्रम से अनुवाद और उनके अनुवादक

(कोष्ठ में विक्रम संवत्, बाहर ईस्वी सन्)

मध्यकाल, १५४४–१८५०

१५४४	(१६०१)	प्रबोधचन्द्रोदय	मल्ह कवि
१६२३	(१६८०)	((हनुमन्नाटक))	हृदयराम
		(रामगीत)	(हिरदराम)
१६३६	(१६९३)	((समयसार नाटक))	बनारसीदास
१६४३	(१७००)	प्रबोधचन्द्रोदय	जसवंतसिंह
१६६९	(१७२६)	प्रबोधचन्द्रोदय	अनाथदास
१६७०	(१७२७)	((शकुन्तलोपाख्यान))	नवाज
?		प्रबोधचन्द्रोदय	जन अनन्य
१७३८	(१७९५)	मालतीमाधव	सोमनाथ चतुर्वेदी
		(माधवविनोद)	

१७४३	(१८००)	प्रबोधचन्द्रोदय	सुरति मिश्र
१७६०	(१८१७)	प्रबोधचन्द्रोदय	सुरति मिश्र
१७८३	(१८४०)	प्रबोधचन्द्रोदय (नाटकानन्द)	आनन्द
१७८६	(१८४६) (प्रकाशन १६०१ ईस्वी)	प्रबोधचन्द्रोदय	गुलाबसिंह
१७८६		प्रबोधचन्द्रोदय	नानकदास
१७६६		प्रबोधचन्द्रोदय	धौंकल मिश्र
१७६६		शकुन्तला नाटक	धौंकल मिश्र

आधुनिक काल, १८५१–१६००

१८६३	शकुन्तला नाटक	राजा लक्ष्मणसिंह
१८६८	रत्नावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१८७१	उत्तररामचरित	देवदत्त तिवारी
१८७२	पाखंड विडम्बन (प्रबोधचन्द्रोदय अंक ३)	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१८७२	रत्नावली	देवदत्त तिवारी
१८७३	धनंजय विजय	भारतेन्दु
१८७४	मुद्राराक्षस	भारतेन्दु
१८७५	((सत्य हरिश्चन्द्र))	भारतेन्दु
१८७६	कर्पूर मंजरी	भारतेन्दु
१८७६	प्रबोधचन्द्रोदय	शीतलाप्रसाद
१८८०	मृच्छकटिक	गदाधर भट्ट
१८८१	मालतीमाधव	शालिग्राम
१८८५	प्रबोधचन्द्रोदय	अयोध्याप्रसाद चौधरी
१८८६	उत्तररामचरित	नन्दलाल विश्वनाथ दवे
१८८८	अभिज्ञान शाकुन्तल	नं० वि० दवे
१८८६	शकुन्तला नाटक (गद्य पद्य वाला संस्करण)	राजा लक्ष्मणसिंह
१८६०	((संगीत शाकुन्तल))	प्रतापनारायण मिश्र
१८६४	प्रबोधचन्द्रोदय	भुवदेव दुबे
१८६५	रत्नावली	रामेश्वर भट्ट
?	वेणीसंहार	अम्बिकादत्त व्यास
१८६७	वेणीसंहार	ज्वालाप्रसाद मिश्र
१८६७	नागानन्द	सीताराम 'भूप'
१८६७	उत्तररामचरित	सीताराम 'भूप'

१८९७	महावीरचरित	सीताराम 'भूप'
१८९८	रत्नावली	बालमुकुन्द गुप्त
१८९८	मालतीमाधव	सीताराम 'भूप'
१८९८	मृच्छकटिक	सीताराम 'भूप'

वर्तमान काल, १९०१–१९६४

१९०२	अभिज्ञान शाकुन्तल	ज्वालाप्रसाद मिश्र
?	मृच्छकटिक	दयालसिंह ठाकुर
?	मृच्छकटिक	दामोदर शास्त्री
?	मृच्छकटिक	बालकृष्ण भट्ट
१९०६	नागानन्द	सदानन्द अवस्थी
१९०८	प्रबोधचन्द्रोदय	कार्ष्णि गोपालदास
१९१०	पार्वतीपरिणय	रामदहिन शर्मा
१९१२	उत्तररामचरित	हरिमंगल मिश्र
१९१२	((कुसुम दहन))	बदरीनाथ भट्ट
१९१२	भर्तृहरिनिर्वेद	वचनेश मिश्र
१९१३	उत्तररामचरित	सत्यनारायण 'कविरत्न'
१९१३	स्वप्नवासवदत्ता	बाबूलाल मायाशंकर दुबे
१९१४	रत्नावली	विजयानन्द त्रिपाठी
१९१७	मालतीमाधव	सत्यनारायण 'कविरत्न'
१९२५	मालविकाग्निमित्र	विजयानन्द त्रिपाठी
१९२५	प्रबोधचन्द्रोदय	विजयानन्द त्रिपाठी
१९२५	मध्यमव्यायोग	प्रकाशन—गंगा पुस्तक ...
१९२८	मध्यमव्यायोग	गौरीशंकर शर्मा
१९२८	मध्यमव्यायोग	प्रकाशन—गार्गी
१९२-	दूतवाक्य	रामनारायण
१९२८	पंचरात्र	प्रकाशन—
१९२८	प्रतिमा	
१९२८	पंचरात्र	
१९२९	स्वप्नवासवदत्ता	
१९२९	मालतीमाधव	
१९३०	स्वप्नवासवदत्ता	
१९३१	पंचरात्र	
१९३१	कुन्दमाला	
१९३२	कुन्दमाला	
१९३२	वेणीसंहार	

?	प्रतिमा	सूर्यकान्त शास्त्री
१९३४	प्रतिमा	बलदेव शास्त्री
१९३५	उत्तररामचरित	रामदासराय
१९३५	प्रबोधचन्द्रोदय	महेशचन्द्रप्रसाद
१९३७	अभिषेक	प्रेमनिधि शास्त्री
१९३७	शाकुन्तला नाटक	बलदेव शास्त्री
१९३९	प्रतिज्ञायौगन्धरायण	बलदेव शास्त्री
१९३९	वेणीसंहार	हरदयालुसिंह
१९३९	प्रतिमा	परमेश्वरानन्द शास्त्री
१९४२	मालविकाग्निमित्र	गौरीशंकर व्यास
१९४४	मालविकाग्निमित्र	गोविन्द शास्त्री दुगवेकर
१९४६	मध्यम	बलदेव शास्त्री
१९४६	? दूतवाक्य	बलदेव शास्त्री
१९४६	ऊरुभंग	बलदेव शास्त्री
१९४६	मुद्राराक्षस	बलदेव शास्त्री
?	चारुदत्त	बलदेव शास्त्री
	पंचरात्र (अप्रकाशित)	हरदयालु सिंह
१९४६	कर्णभार	हरदयालु सिंह
१९४६	दूतवाक्य	हरदयालु सिंह
१९४६	मध्यम	गंगाधर इन्दूरकर
१९४६	नागानंद	गंगाधर इन्दूरकर
१९४६	प्रियदर्शिका	गंगाधर इन्दूरकर
१९४६	रत्नावली	सीताराम सहगल
१९४९	मध्यम व्यायोग	सीताराम सहगल
१९४९	दूतवाक्य	सीताराम सहगल
१९४९	ऊरुभंग	सत्येन्द्र शरत
१९५०	((कुन्दमाला)) (मंच रूपांतर)	केदारनाथ शर्मा
१९५०	दूतांगद	विराज
१९५४	अभिज्ञानशाकुन्तल	भगवतशरण उपाध्याय
१९५४	स्वप्नवासवदत्ता	,, ,,
१९५४	प्रतिज्ञायौगंधरायण	मैथिलीशरण गुप्त
१९५५	दूतघटोत्कच	सियारामशरण गुप्त
१९५५	मध्यमव्यायोग	विराज
१९५७	विक्रमोर्वशी	विराज
१९५७	मालविकाग्निमित्र	इन्द्र
१९५७	उत्तररामचरित	

१९५७	मृच्छकटिक	रांगेय राघव
१९५७	मुद्राराक्षस	रांगेय राघव
?	विक्रमोर्वशी	इन्दुशेखर
१९५८	अभिज्ञानशाकुन्तल	इन्दुशेखर
१९५८	स्वप्नवासवदत्ता	गोपालकृष्ण कौल
१९६१	अभिज्ञानशाकुन्तल	वागीश्वर विद्यालंकार
१९६२	((मृच्छकटिक-मंच रूपांतर)) (मिट्टी की गाड़ी)	सत्यव्रत सिन्हा
१९६२	मृच्छकटिक	मोहन राकेश

सारणी २

अनूदित नाटक (तीन कालों में)

रचना-काल के क्रम में

क्रमांक	नाटक	१८५० से पहले	१८५१–१९००	१९०० के बाद	कुल योग
	मध्यकाल में प्रथम बार अनूदित				
१	१ प्रबोधचन्द्रोदय	१०	४	३	१७
२	२ मालतीमाधव	१	२	२	५
३	३ अभिज्ञानशाकुन्तल	१	४	५	१०
	आधुनिककाल में प्रथम बार अनूदित				
४	१ रत्नावली	—	४	२	६
५	२ उत्तररामचरित	—	३	४	७
६	३ धनंजय विजय	—	१	—	१
७	४ मुद्राराक्षस	—	१	३	४
८	५ कर्पूरमंजरी	—	१	—	१
९	६ मृच्छकटिक	—	२	५	७
१०	७ वेणीसंहार	—	२	२	४
११	८ नागानन्द	—	१	२	३
१२	९ महावीरचरित	—	१	—	१
१३	१० मालविकाग्निमित्र	—	१	४	५
	वर्तमानकाल में प्रथम बार अनूदित				
१४	१ पार्वतीपरिणय	—	—	१	१
१५	२ भर्तृहरि निर्वेद	—	—	१	१
१६	३ स्वप्नवासवदत्ता	—	—	५	५
१७	४ मध्यमव्यायोग	—	—	७	७
१८	५ दूतवाक्य	—	—	७	७

क्रमांक	नाटक	१८५० से पहले	१८५१–१९००	१९०० के बाद	कुल योग
१९	९ पचरात्र	—	—	४	४
२०	७ प्रतिमा	—	—	४	४
२१	८ कुन्दमाला	—	—	३	३
२२	९ अभिषेक	—	—	१	१
२३	१० प्रतिज्ञा०	—	—	३	३
२४	११ ऊरुभग	—	—	२	२
२५	१२ कर्णभार	—	—	१	१
२६	१३ प्रियदर्शिका	—	—	१	१
२७	१४ दूतघटोत्कच	—	—	१	१
२८	१५ दूतागद	—	—	१	१
२९	१६ विक्रमोर्वशी	—	—	२	२
३०	१७ चारुदत्त	—	—	१	१
	कुल योग	१२	२७	७४	११३

सारणी ३

अनूदित सस्कृत नाटक (वर्णक्रम से) और उनके अनुवादो की सख्या

क्रमांक	नाटक	कुल अनुवाद	१८५० से पहले	१८५१–१९००	१९०० के बाद
१	अभिज्ञानशाकुतलम	१०	१	४	५
२	अभिषेकनाटकम	१	—	—	१
३	उत्तररामचरितम	७	—	३	४
४	ऊरुभगम	२	—	—	२
५	कर्णभारम	१	—	—	१
६	कर्पूरमजरी	१	—	१	—
७	कुदमाला	३	—	—	३
८	चारुदत्तम	१	—	—	१
९	दूतघटोत्कचम	१	—	—	१
१०	दूतवाक्यम	४	—	—	४
११	दूतागदम	१	—	—	१
१२	धनजयविजय	१	—	१	—
१३	नागानदम्	३	—	१	२
१४	पचरात्रम	४	—	—	४
१५	पार्वती परिणयम	१	—	—	१

क्रमांक नाटक	कुल अनुवाद	१८५० से पहले	१८५१–१९००	१९०० के बाद
१६ प्रतिमा	४	—	—	४
१७ प्रतिमा०	३	—	—	३
१८ प्रबोधचन्द्रोदयम	१७	१०	४	२
१९ प्रियदर्शिका	१	—	—	१
२० भक्त हरिनिर्वेदम	१	—	—	१
२१ मध्यमव्यायोग	७	—	—	७
२२ महावीरचरितम	१	—	१	—
२३ मालती माधवम	५	१	२	२
२४ मालविकाग्निमित्रम	१	—	१	—
२५ मुद्राराक्षसम्	४	—	१	४
२६ मृच्छकटिकम	७	—	२	३
२७ रत्नावली	६	—	४	५
२८ विक्रमोर्वशीयम	२	—	—	२
२९ वेणीसंहारम	८	—	२	२
३० स्वप्नवासवदत्तम्	५	—	—	५
कुल योग	११३	१२	२७	७४

अनुवादों की सामान्य प्रवृत्तियां

१ मूल नाटक का चुनाव
२ अनुवादों का उद्देश्य
३ प्रतिपादन शैली
४ अनुवाद शैली
५ रचना शैली
६ भाषा
७ छन्द चुनाव, निर्देश, छाप

१ नाटक का चुनाव

मध्यकाल या पूर्व भारतेन्दुकाल में अनुवाद के लिए नाटक का चुनाव करने में बड़ा सीमित दृष्टि रही। सोमनाथ चतुर्वेदी और घौंकल मिश्र को छोड़कर और सब अनुवादकों ने प्रबोधचन्द्रोदय का ही अनुवाद किया। सोमनाथ ने मालती माधव का अनुवाद किया था और घौंकल मिश्र ने शाकुन्तल का। नेवाज ने शकुन्तलोपाख्यान में अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की कथामात्र दी है और इसे मूल संस्कृत नाटक का अनुवाद नहीं कह सकते।

आधुनिक काल या भारतेन्दुकाल (१८५०–१९०० ई० में) चुनाव की दृष्टि का

अनुवादकों ने इसे आगे बढाया। राजा लक्ष्मणसिंह भारतेन्दु से प्रभावित तो हुए, पर उनमें नाटकीय प्रतिभा और नाटक बोध का अभाव था। अपने शकुन्तला नाटक का दूसरा संस्करण प्रकाशित करते समय उन्होंने संस्कृत पद्यों के स्थान पर ब्रजभाषा के पद्य तो रचे, पर उनके छन्दों के चुनाव से प्रकट होता है कि नाटकीय अपेक्षाओं पर उनका ध्यान न था। चौपाई छन्द का, जो कथा कहने के लिए अधिक उपयुक्त छन्द है, बहुत अधिक प्रयोग उनकी इस प्रवृत्ति का अच्छा सूचक है।

यह स्पष्ट है कि इस काल में मध्यकाल की तरह के धार्मिक लक्ष्य से अनुवाद करनेवाले अनुवादक नहीं दिखाई देते। जिन लोगों ने उस काल की सम्मानित रचना प्रबोधचन्द्रोदय को हाथ भी लगाया, जैसे स्वयं भारतेन्दु या अयोध्याप्रसाद चौधरी ने, उनका ध्यान धार्मिक लक्ष्य पर न होकर, सामाजिक सुधार या काव्य रचना पर रहा। ब्रजवासीदास के अनुवाद के पद्य रूप को गद्य करते हुए भुवनेन्द्र दुबे ने नाट्यरसिक पुरुषों के चित्त विनोदार्थ' (मुखपृष्ठ) देशभाषा में अनिललित बनाने का उल्लेख किया है। भारतेन्दु ने केवल तृतीय अंक का अनुवाद किया है जो पाखंड का उपहास करता है। अयोध्याप्रसाद चौधरी ने भी नाटकरूप को महत्त्व दिया है।

इस प्रकार इस काल में अनुवादकों के दो उद्देश्य रहे—१ पाठ्य नाटक रचना प्रस्तुत करना २ अभिनय रचना प्रस्तुत करना। मध्यकाल के दो उद्देश्यों—धार्मिक तथा काव्य रचना—में से पहला तो लुप्त हो गया और दूसरा कुछ परिवर्तित होकर इन दो रूपों में आ गया। इस काल में मूल का परिचयमात्र देने के उद्देश्य से रचनाएं नहीं हुई।

वर्तमानकाल (उत्तर भारतेन्दुकाल) सन १९०० ईस्वी के बाद के अनुवादों में पूर्वकाल की प्रथम प्रवृत्ति अर्थात पाठ्य रचना प्रस्तुत करना मुख्य रही। १९१२ में बचनेश मिश्र ने भर्तृहरि निर्वेद का एक अनुवाद कालाकांकर की आर्ज थियेट्रिकल कंपनी के लिए किया था। उसकी रचनाशैली में तत्कालीन थियेटरों की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार का दूसरा अनुवाद कुन्दमाला का वागीश्वर विद्यालंकार कृत अनुवाद कहा जा सकता है। इसके पद्यों को अनुवादक ने नाटकोचित सरल और प्रचलित तर्जों में रखने का यत्न किया है। कुछ मंच रूपान्तर या रेडियो रूपान्तर हाल के वर्षों में हुए हैं, जैसे मृच्छकटिक का मंच रूपान्तर जो सत्यव्रत सिन्हा ने किया है पर इन रूपान्तरों को मूल का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। इनमें कथावस्तु संस्कृत नाटक का आधार रखते हुए मूल से बहुत भिन्न हो गई है जिसके कारण इनकी गणना पराश्रयी रचनाओं में करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह हुआ कि संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों का लक्ष्य पहले तो धार्मिक कल्याण के लिए काव्य रचना प्रस्तुत करना रहा। बाद में आधुनिक काल के पूर्वभाग में पाठ्यनाटक प्रस्तुत करने का उद्देश्य लेकर अनुवाद किए गए। एक भारतेन्दु का ही उद्देश्य अभिनय रचना प्रस्तुत करना था। इस काल के पिछले हिस्से में पाठ्यनाटक प्रस्तुत करने का उद्देश्य ही प्रमुख रहा और अभिनय रचना प्रस्तुत करने का उद्देश्य रखकर अनुवाद करनेवाले एक बचनेश मिश्र हुए। या फिर कुछ रूपान्तर किए गए जो मंच या रेडियो के लिए थे पर वे मूल से इतने भिन्न हैं कि अनुवाद नहीं कहला सकते।

३ प्रतिपादन-शैली

प्रतिपादन की दृष्टि स पूव भारत दुकाल की रचनाओ म दो शलिया दिखाइ देती हैं

(क) वणनात्मक

(ख) सवादात्मक नाटकीय

अधिकतर रचनाए वणनात्मक कथावाचन की शैली म हैं। अभिनय-सकत कहा भी नही है। जहा उवाच से पहल वक्ता का उल्लेख है वहा वचन स्वत स्पष्ट है कि वक्ता का उल्लख औपचारिक दिखाई देता है। यह रचना का नाटकोचित रूप न ह म स्पष्ट है। कवल जसवन्तसिंह न सवादात्मक रूप रखा है पर यह रचना इतनी सक्षिप्त है कि उसम नाटकीय प्रभाव का पुष्ट होना असम्भव है।

इस प्रकार इस काल म प्रतिपादनशली म प्रधान प्रवत्ति वणनात्मक ही है।

भारतदुकाल म वणनात्मक शैली का बिलकुल लोप हो जाता है और सवादात्मक शैली ही सवत्र दिखाई देती है। इस काल क जो अनुवादक अपने अनुवाद को अभिनय रचना का रूप देने म प्रवत्त नहीं थ, उन्होने भी अभिनय-सकत और वक्ताओ का मूल क अनुसार उल्लेख किया है और प्रयत्न करन पर इनम स अनक अनुवाद मामूली हर फर से मचयोग्य नाटकोचित सवादो वाल अभिनेय नाटक बन सकत हैं। बहुत स अनुवादको ने अको में दश्यो के स्थान का सकत करके अभिनेयता म अपनी रुचि दिखाई है।

यही प्रवत्ति उत्तर भारतदुकाल म भी चलती रही और आज तक चली आ रही है। पर इस काल मे स्थान-सकत दन की प्रवत्ति का ह्रास दिखाइ दता है। उत्तर भारतन्दु काल म इस प्रकार के तीन सम्पूर्ण गद्य अनुवाद—अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोवशी के विराज-कृत अनुवाद इन्दौर मे १९६१ और १९६२ म सफलता क साथ मच पर प्रस्तुत किए गए थ।

निष्कष यह हुआ कि पूवभारतदुकाल की वणनात्मक शली भारतेन्दुकाल म आकर बिलकुल समाप्त हो गई और सवादात्मक शली भारतन्दु म पूण पुष्ट हुइ, पर बाद म भी चलती रही। यह कहा जा सकता है कि पूव भारतन्दुकाल की काव्य प्रवत्ति को भारतेन्दु न नाटक की ओर मोड दिया और वह आज भी अधिकतर उसी दिशा म चल रही है।

४ अनुवाद-शैली

पूव भारतेन्दुकाल म दो शलिया दिखाई दती हैं

१ भाषान्तर

२ सक्षप

व्रजवासीदास, गुलाबसिंह नानकदास और घौंकल मिश्र की रचनाए मोटे तौर से भाषान्तर शली क अनुवाद हैं। मन्ह और जसवन्तसिंह न सक्षेप प्रस्तुत किए हैं।

भारतन्दुकाल स केवल भाषान्तर शली चल पडी। किसी किसीने थोडा बहुत

हेर फेर करके रूपांतर किया अवश्य, जैसे प्रबोधचन्द्रोदय में महेशचन्द्रप्रसाद ने, पर यह प्रवृत्ति नगण्य रही। मूल से बहुत थोड़ा अन्तर तो भारतेन्दु और सीताराम ने भी किया पर वह नाटकीय दृष्टि या सामाजिक भावना के कारण किया गया था। भारतेन्दु ने नाटक के अभिनय के समय गान के लिए गीत भी लिखे—जैसे मुद्राराक्षस में। मूल नाटक को पूर्णरूप में प्रस्तुत करने का ही अनुवादकों ने यत्न किया।

इस काल में संस्कृत नाटकों के आधार पर उनकी सामग्री से आधुनिक मंच पर अभिनय योग्य नाटक प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का भी उल्लेख यहां होना चाहिए। यद्यपि ये रचनाएं मूल नाटकों की अनुवाद नहीं कही जा सकती, पर इनकी रचना मूल नाटक की सामग्री से ही हुई। इस तरह की पराश्रयी रचनाओं का आरम्भ भारतेन्दु के सत्य हरिश्चन्द्र से समझना चाहिए जिसका बहुत सा हिस्सा चण्ड कौशिक की सामग्री से तैयार किया गया—परन्तु इन दोनों रचनाओं में बीज फल तथा नेता की दृष्टि से भारी अन्तर है। बाद में वेणीसंहार का आधार लेकर बदरीनाथ भट्ट ने 'कुरुवनदहन' की रचना की। इस प्रकार की अन्य अनेक पराश्रयी रचनाएं हुई जो सामग्री की दृष्टि से ऋणी होती हुई भी फल और इतिवृत्त विधान की दृष्टि से सर्वथा मौलिक हैं।

उत्तर भारतेन्दुकाल या वर्तमानकाल में साधारणतया भाषान्तर अनुवाद हुए, कुछ पराश्रयी रचनाएं हुई मंच और रेडियो के लिए कुछ रूपान्तर भी हुए। पर भारतेन्दु ने अनुवाद रचनाओं को अभिनेय नाटक बनाने का जैसा यत्न किया था, वैसा यत्न करने की ओर बाद के अधिकतर अनुवादकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

५ रचना शैली

रचना शैली की जो परम्परा मल्ह कवि से आरम्भ हुई थी, वह पद्य रचना की परम्परा थी। इसमें न केवल मूल के गद्य और पद्य को पद्यरूप दिया गया था कहीं कहीं तो वक्ता का उल्लेख और अभिनय-संकेत भी पद्य में ही रखे गए थे। यह परम्परा सारे पूर्व भारतेन्दुकाल में चलती रही—केवल जसवंतसिंह इसके अपवाद थे। इन्होंने अपनी संक्षिप्त रचना में प्रथम बार गद्य को स्थान दिया बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन्होंने पद्य तो नाममात्र को रखा शेष सारी रचना गद्य में ही की।

गद्य रचना की यह शैली जसवंतसिंह के साथ ही समाप्त हो गई। बाद में आधुनिक काल के आरम्भ में खड़ी बोली हिंदी के गद्य का चलन होने पर अनुवादकों ने गद्य में रचना की। इस काल के प्रथम अनुवादक राजा लक्ष्मणसिंह ने शाकुन्तल का सारा अनुवाद खड़ी बोली गद्य में किया। पर न्तु यह शैली भी जड़ न जमा सकी।

भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में मूल के गद्य को गद्य में और पद्य को पद्य में भाषान्तर किया। इस प्रकार जो नाटकीय रचना शैली चली वह इतनी पसन्द की गई कि राजा लक्ष्मणसिंह ने भी अपनी पहली रचना के छब्बीस वर्ष बाद उसका दूसरा संस्करण करते हुए यह गद्य पद्य शैली अपना ली।

यह शैली आज तक लोकप्रिय है। पर गद्य शैली में भी पिछले कुछ वर्षों में अनेक अनुवाद हुए हैं। विराज राघव राघव आदि ने गद्य शैली में ही अनुवाद किए हैं।

गद्य शैली का ही एक प्रकार थोड़े भिन्न रूप में माधव राव ने 'मृच्छकटिक' के अनुवाद में अपनाया है। इसमें मूल पद्य की वस्तु अनेक छोटी-बड़ी पंक्तियों में रखी गई है—यह छन्द रचना तो नहीं है पर शायद लय के सम्बन्ध में किसी व्यक्तिनिष्ठ धारणा के आधार पर उसे तथाकथित नयी कविता के बाह्य रूप में रखने का यत्न किया गया है। सम्भव है अभिनेता को ये पंक्तियाँ बोलने में कुछ सुविधा हो।

इस प्रकार रचना शैली की दृष्टि से अनुवादों में पहले पद्य की प्रवृत्ति प्रधान मिलती है उसके बाद गद्य और पद्य दोनों रखने की प्रवृत्ति है यद्यपि सम्पूर्ण गद्य की रचनाओं की भी कमी नहीं।

६ भाषा

१८५० से पहले की सब रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। यही उस समय मध्यदेश की साहित्यिक भाषा थी। इसलिए पंजाब के गुलाबसिंह हों या राजस्थान के जसवन्तसिंह सबने इसीमें रचना की।

१८५० के बाद के अनुवादों में खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग आरम्भ हो गया जो आज तक चला आता है। पर १९०० तक के काल में पद्य रचना ब्रजभाषा में ही चलती रही। भारतेन्दु ने जब गद्य-पद्य में रचना की तब गद्य तो खड़ी बोली हिंदी में लिखा, पर पद्य ब्रजभाषा में ही रचे। किन्तु इनकी ब्रजभाषा खड़ी बोली हिन्दी के बहुत निकट आ गई।

१९०० के बाद भी पद्य रचना ब्रजभाषा में चलती रही पर खड़ी बोली में भी आरम्भ हो गई। १९२६ के बाद खड़ी बोली पद्य का प्रचलन अधिक हो गया पर किसी किसी अनुवादक ने पद्य में अब भी ब्रजभाषा रखी जैसे हरदयालुसिंह ने 'वणीसंहार' (१९३६) और वणमार (१९४८) के अनुवाद में। पर ये अपवाद ही समझने चाहिए।

१९०० के बाद की पद्य रचनाओं में ब्रज और खड़ी बोली हिन्दी का मिश्रण भी मिलता है। जहाँ अनुवादक समय रचना न कर सका, उसने आवश्यकतानुसार ब्रजभाषा के संज्ञारूपों या क्रियारूपों का भी प्रयोग कर लिया। इस प्रकार का एक अनुवाद माधव जीवन वर्मा का स्वप्नवासवदत्ता है।

७ छन्द

मध्यकाल में ब्रजभाषा-साहित्य में प्रचलित कवित्त, छप्पय, सवैया, दोहा, चौपाई ही अधिक प्रचलित रहे पर गुलाबसिंह ने जो संस्कृत के अच्छे विद्वान थे संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित, भुजंगप्रयात, अनंग, नाराच, विश्वपगा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया। अधिकतर अनुवादकों ने छन्द की विविधता की ओर ध्यान न देकर चौपाई आदि प्रबन्ध काव्य के छन्दों का ही प्रयोग किया।

दूसरी बात यह है कि छन्दों के चुनाव करने में किसी रसोपयोगिता की खोज नहीं की गई। गुलाबसिंह की छन्दों की विविधता भी इस दृष्टि से अधिक महत्व की नहीं रहती। उन्होंने कथा के आगे बढ़ाने के लिए भी भुजंगप्रयात का प्रयोग किया।

इस काल में दो बातें और देखने में आती हैं—एक तो यह कि अनुवादकों ने पद्यों

के ऊपर छन्द का नाम दिया है और दूसरी यह कि कुछ अनुवादकों ने पद्यों में उस प्रकार अपने नाम या उपनाम का निर्देश किया है जैसे कवि लोग मुक्तक पद्यों में किया करते हैं। इस प्रकार अपने नाम की छाप लगानेवाला म मल्ह कवि या मथुरादास, सोमनाथ या ममिनाथ और रत्नसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दुकाल मे छन्दों की विविधता का विस्तार हुआ और अनुवादकों ने लय के आधार पर अपने मन से भी छन्द चलाए। इस काल में पद्य रचना उससे पहले भारतेन्दु ने की थी—लक्ष्मणसिंह ने तो (अपने प्रथम संस्करण में) केवल दो तीन पद्य या गीत रखे थे जो नितान्त नाटकीय औचित्य को लक्ष्य में रखकर लिखे गए थे। पर भारतेन्दु ने पद्यों का बहुत प्रयोग किया यहां तक कि कहीं कहीं दूसरे कवियों के लिए पद्य बद्ध वर्णन भी अपनी अनुवाद रचना में जोड़ दिए।

भारतेन्दु ने छन्द के चुनाव में रसौचित्य का ध्यान रखा है। बाद में पद्य रचना करनेवाले लक्ष्मणसिंह और सीताराम इस दृष्टि को न अपना सके। फिर भी कुल मिला कर यह कहना ठीक होगा कि इस काल में छन्दों की विविधता के साथ साथ उनके रसौचित्य पर भी कुछ ध्यान दिया गया।

इस काल में छन्द का निर्देश भी कुछ रचनाकारों ने किया। भारतेन्दु अधिकतर इससे दूर रहे हैं पर लक्ष्मणसिंह ने यह निर्देश किया है। इस काल के बाद यह प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो गई। अपने नाम की छाप लगाना भी प्रायः किसी अनुवादक ने उचित नहीं समझा। लाला सीताराम ने कहीं-कहीं अपना उपनाम भूप पद्यों में रखा है।

वर्तमानकाल की रचनाओं में छन्दों की परिपाटी बदल गई। पुराने छन्दों का प्रयोग बहुत कम हो गया। अपने बनाए छन्द भी चलाए गए। कुछ अनुवादकों ने प्रासंगिक औचित्य का ध्यान रखा जैसे वचनेश मिश्र और बागीश्वर विद्यालंकार। दूसरी ओर सत्यनारायण कविरत्न जैसे रसिक ने अनुवादों में गीति रचना भी की जो कहीं कहीं केवल कथावस्तु का भार बढ़ाती है। छन्दों का नाम निर्देश और अपनी छाप लगाने की प्रवृत्तियां इस काल में भी दिखाई नहीं देतीं।

साराश

अनुवाद के लिए नाटकों का चुनाव मध्यकाल में बहुत सीमित रहा। प्रबोध चन्द्रोदय पर ही अधिकतर अनुवादकों की दृष्टि रही। दूसरा नाटक मालतीमाधव था जिसका एक अनुवाद हुआ। नेवाज मिश्र ने शाकुन्तल का अनुवाद भी किया। राजा लक्ष्मणसिंह और उनके बाद के अनुवादकों की दृष्टि बहुत व्यापक रही और १८५०-१९०० तक कम से कम तेरह संस्कृत नाटकों के अनुवाद हुए। दृष्टि का यह विस्तार वर्तमान काल में और बढ़ा तथा इसमें सत्रह नये नाटकों का अनुवाद हुआ। इस प्रकार कुल अनूदित संस्कृत नाटकों की संख्या तीस हो जाती है।

मध्यकाल में अधिकतर अनुवादकों का अनुवाद करने का उद्देश्य धार्मिक या जन कल्याण का था, पर नेवाज मिश्र जैसे कवि भी इनमें थे। धार्मिक उद्देश्य वाले ब्रजवासी दास और नानकदास ने तो फारसी अनुवाद से ब्रजभाषा में अनुवाद किए। राजा लक्ष्मण

सिंह के समय से अनुवादकों का उद्देश्य काव्यरस का आस्वादन और हिन्दी नाटक साहित्य की समृद्धि हो गया। यही उद्देश्य आज तक चलता आता है। अनुवाद का अभिनय बनाने की ओर ध्यान देनेवालों की संख्या पहले भी कम रही और आज भी कम है।

मध्यकाल में प्रतिपादन शैली वर्णनात्मक अधिक रहा संवादात्मक कम, पर राजा लक्ष्मणसिंह से आज तक संवादात्मक नाटकीय शैली की ही परम्परा चलती आती है।

अनुवाद शैली भाषान्तर की रही। थोड़े-बहुत रूपान्तर भी किए गए, पर मुख्य प्रवृत्ति भाषान्तर ही था।

रचना शैली मध्यकाल में पद्यात्मक थी। बाद के दो कालों में यह गद्यात्मक और गद्य-पद्यात्मक हो गई।

मध्यकाल में केवल ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ। १८५० के बाद पहले गद्य में खड़ी बोली हिन्दी आई और फिर १९२९ के बाद पद्य में भी अधिकतर इसी का प्रयोग होने लगा।

छन्दों के चुनाव में विविधता निरन्तर बढ़ती गई। मध्यकाल में रसौचित्य का ध्यान कम था छन्द का संकेत करने और छाप लगाने की प्रवृत्तियाँ भी थीं। आधुनिक काल में रसौचित्य की ओर ध्यान गया और छन्द संकेत की प्रवृत्ति धीरे धीरे लुप्त हो गई और स्वनाम संकेत करने को साधारणतया किसी भी अनुवादक ने उचित नहीं समझा।

दूसरा अध्याय

मध्यकाल के अनुवाद

हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास में पहले अनुवाद-नाटकों की सूची हृदयराम के हनुमन्नाटक से आरम्भ होती थी। १९६२ में डा० (श्रीमती) सरोज अग्रवाल ने प्रबोध चन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा पर शोध करते हुए इसके एक अनुवाद की खोज की जिसका रचयिता मल्ह कवि है और रचनाकाल १५४४ ई० (वि० १६०१)। इस रचना को प्रथम स्थान दिया जाए तो मध्यकालीन अनुवादों में गिनाई गई रचनाओं की संख्या पन्द्रह हो जाती है। रचनाओं तथा रचयिताओं के नाम कालक्रम से इस प्रकार हैं

१	१५४४ ई०	(१६०१ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	मल्ह कवि
२	१६२३ ई०	(१६८० वि०)	हनुमन्नाटक	हृदयराम
३	१६३६ ई०	(१६९३ वि०)	समयसार नाटक	बनारसीदास
४	१६४३ ई०	(१७०० वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	जसवन्तसिंह
५	१६६९ ई०	(१७२६ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	अनाथदास
६	१६७० ई०	(१७२७ वि०)	शकुन्तलाख्यान	नवाज
७	?		प्रबोधचन्द्रोदय	जन अनन्य
८	१७३८ ई०	(१७९५ वि०)	माधवविनोद (मालती माधव)	सोमनाथ चतुर्वेदी
९	१७४३ ई०	(१८०० वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	सुरति मिश्र
१०	१७५९ या १७६० ई०	(१८१६ या १८१७ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	ब्रजवासीदास
११	१७८५ ई०	(१८४० वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय (नाटकानन्द)	आनन्द
१२	१७८९ ई० प्रकाशन १८०५ ई०	(१८४६ वि०) (१८६२ वि०)	प्रबोधचन्द्रोदय	गुलाबसिंह
१३	१७८९ ई०		प्रबोधचन्द्रोदय	नानकदास
१४	१७९९ ई०		प्रबोधचन्द्रोदय	धौंकल मिश्र
१५	१७९९ ई०		शकुन्तला नाटक	धौंकल मिश्र

इनमें से संख्या ५, ७, ९, और ११ अनुपलब्ध हैं और संख्या ८ के थोड़े से पद्य

हो मिले हैं। शेष नौ रचनाओं में से संख्या ३ जन मात्र का ग्रंथ है, संख्या २ तथा ६ अनुवाद नहीं हैं। संख्या २, अर्थात् हृदयराम के हनुमन्नाटक, पर इसी अध्याय में विचार किया गया है। संख्या ६ अर्थात् शकुन्तलोपाख्यान अनुवाद नहीं है नेवाज ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् की कथा दोहे चौपाई में आख्यान रूप में लिखी है। बची हुई सात रचनाएं ये हैं

मल्ह कवि	प्रबोधचन्द्रोदय
जसवन्तसिंह	,,
ब्रजवासीदास	,,
गुलाबसिंह	,,
नानकदास	,,
घौकल मिश्र	,, और शकुन्तला नाटक

इन सात रचनाओं के आधार पर मध्यकालीन अनुवादों की प्रवृत्तियां ये दिखाई देती हैं

१ (क) प्रबोधचन्द्रोदय को जनता के सामने लाना। (ख) इसके लिए फारसी से भी अनुवाद।

२ उद्देश्य—पाखंड को दूर करके विष्णुभक्ति का प्रसार करना।

३ वर्णनात्मक शैली का प्रयोग।

४ पद्य में रचना।

५ ब्रजभाषा का प्रयोग।

६ पूर्ण भाषान्तर तथा संक्षेप दोनों की प्रवृत्ति है। कहीं कथा जोड़कर विस्तार भी किया गया है। अभिनय संकेत की उपेक्षा या पद्य में ही समावेश।

७ संस्कृत और हिन्दी के छन्दों का प्रयोग और उनका नाम निर्देश।

८ नाम की छाप लगाना।

सामान्य प्रवृत्तियां

१ प्रधानत 'प्रबोधचन्द्रोदय' ही एक ऐसी रचना रही, जिसके अनुवाद का प्रयत्न किया गया। प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादों की इतनी बड़ी संख्या के सामने मानती माधव और शाकुन्तल का एक एक अनुवाद नगण्य सा ही है।

२ इतने अनुवादकों ने इस एक ही रचना को अनुवाद के लिए क्यों चुना?

एक मल्ह कवि के अनुवाद को छोड़कर शेष सब अनुवाद उत्तर मध्यकाल (ईस्वी १६४३ से १८५० तक) में किए गए हैं। संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय में जिस विष्णुभक्ति की प्रतिष्ठा की गई है उसका स्वर्णयुग पहले ही बीत चुका था। यह काल कविता में तो मुख्यत रीतिबद्ध शृंगारी रचना का था। पर सुधारक प्रवृत्ति के लोगों में सामाजिक पाखण्ड के प्रति जो रोष फैला हुआ था उसकी अभिव्यक्ति का एक उपाय उन्होंने सभवत 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्रचार को समझा।

ब्रजवासीदास गुलाबसिंह और नानकदास न तो अपनी धार्मिक वृत्ति को स्पष्ट

घोषणा का है। इन नाटकों के दु़र्ग्य का देखकर आध्यात्मिक ज्ञान को सरल भाषा में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति हुई। व्रजवासीदास ने लिखा है

मित्र एक ऐसी कही जो यह भाखा होय।
सरल होय तो सबन को सुनि सुख पावे लोय॥

—प्र० च० १ १६

गुलाबसिंह लिखते है

सुनै पढ सु जे जना निवार मोह बन्धना।
लहै अपार मोक्ष को, टुटे समस्त फन्धना॥

—५ प्रथम अंक

मल्ह कवि की रचना राजपुत्र की शिक्षा के लिए हुई दीखती है। संभवत ऐसा ही कुछ उद्देश्य जसवन्तसिंह की संक्षिप्त रचना का भी रहा होगा।

इनके अतिरिक्त माधवविनोद और नवाज का शकुन्तलोपाख्यान काव्यरसिकों के लिए लिखे गए हैं।

उपर्युक्त लेखकों में से दो, अर्थात् व्रजवासीदास और नानकदास ने तो 'प्रबोध चन्द्रोदय' के संस्कृत मूल के बजाय फारसी अनुवाद से हिन्दी अनुवाद किए। ये अनुवाद बलीराम साधु या बलीराम भगत के यमन भाषा फारसी के अनुवाद से करने की सूचना इन दोनों अनुवादकों ने स्वयं अपनी रचनाओं में दी है।

व्रजवासीदास ने लिखा है

बलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब।
ताऊ विद्या अति कठिन समुझि न परे शिताब।
मित्र एक ऐसी कही जो यह भाखा होय।
सरल होय तो सबन को सुनि सुख पावै लोय।
ताते यह भाषा करी ॥

—१८-२०

नानकदास ने भी इतना ही स्पष्ट लिखा है

इह पोथी पूरण करी बलीराम हरि मत।
ताका भाखा यो रच्यो नानकदास विनवंत॥ १८१

—प्र० च० अनुवाद पृ० ११६

इस दृष्टि से ये दोनों अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत से फारसी के रास्ते ये रचनाएं हिन्दी में आई। यह प्रक्रिया सन् १८६३ में एक कदम और आगे बढी जब सुखदेव दुबे ने व्रजवासीदास के व्रजभाषा पद्य को काव्य रसिकों के विनोदार्थ खडी बोली गद्य में परिवर्तित कर दिया। अकेले प्रबोधचन्द्रोदय नाटक को ही इस प्रकार चार पीढियां' पाने का सौभाग्य मिला है।

२ *रचना शैली* रचना शैली पर दो दृष्टियों से विचार करना उचित होगा

(क) यह नाटकीय है या संवादात्मक, रासशैली है या वर्णनात्मक काव्य शैली है?

(ग) गद्य है पद्य है या गद्य तथा पद्य शैली है।

शुद्ध नाटकीय शैली इनमें से किसी भी रचना की नहीं है। ब्रजवासीदास और गुलाबसिंह की रचनाएँ वर्णनात्मक काव्यशैली की हैं। नारायणदास और धौंकल मिश्र की रचनाओं तथा मंडन और जसवंतसिंह की रचनाओं में नाटकीय संवादों का इतना उत्कर्ष है कि वे पूर्णतया नाटकीय न होते हुए भी संवादात्मक रचनाएँ लगती हैं और संभवतः रास अभिनय के लिए उपयोगी हो सकती हैं।

एक जसवंतसिंह की रचना को छोड़कर और सब रचनाएँ पूर्णतया पद्य रचनाएँ हैं। जसवंतसिंह की रचना में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग एक अनोखी घटना है। ब्रजभाषा के साहित्य में गद्य रचना नहीं के बराबर ही है। इस दृष्टि से जसवंतसिंह की मौलिकता और साहस विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाते हैं।

४ भाषा मध्यकाल में सन् १८५० तक साहित्य की भाषा ब्रज ही रहा। इस काल की सब रचनाएँ इसी भाषा में मिलती हैं। इस प्रसंग में पंजाब के निवासी और सिख समुदाय के अनुयायी कवि गुलाबसिंह की रचना विशेषरूप से ध्यान खींचती है जो मूलतः गुरुमुखी लिपि में लिखी गई थी पर भाषा उसकी ब्रज ही है।

५ *अनुवाद शैली* इस काल में मंडन कवि और जसवंतसिंह की रचनाओं को छोड़कर, जो बहुत संक्षिप्त हैं, शेष रचनाएँ भाषा तर शैली में अनूदित हैं। कहीं कहीं मूल से थोड़ा बहुत अंतर होने पर भी वे प्राय अविकल अनुवाद हैं। कथानक, पात्र, वर्णन आदि सब ज्यों के त्यों मिलते हैं। अंतर इस प्रकार का है जैसे मति नामक पात्र को सुमति कह देना जैसा कि ब्रजवासीदास ने किया है। पर यह अंतर कुल मिलाकर बहुत थोड़ा है।

६ छन्द ब्रजवासीदास, गुलाबसिंह नानकदास और धौंकल मिश्र की रचनाओं में संस्कृत और हिन्दी के विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें पहले के अनुवादों में यह विविधता नहीं दिखाई देती।

ब्रजवासीदास ने दोहा, चौपाई, कवित्त तोमर सामराजी, सुंदरी आदि अनेक छन्दों का प्रयोग करते हुए अपने पूर्ववर्ती कवियों का ही अनुसरण किया है। मध्यकालीन काव्य की यह विविध लयछन्द गुलाबसिंह के अनुवाद में भी बड़े मनोहर रूप में विद्यमान है। इन्होंने नराच, अनंग, भुजंगप्रयात, विद्युत्पदा, आदि प्रसिद्ध संस्कृत छन्दों में भी अपना कौशल दिखाया है, कवित्त सवैया छप्पय आदि हिन्दी में प्रचलित छन्दों में तो दिखाया ही है।

एक विशेष बात यह है कि छन्द का निर्देश पद्य से पहले करने की शैली सब अनुवादकों ने अपनाई है।

७ मध्यकाल में विशेषतः मुक्तक पद्यों पर कवि अपने नाम की छाप लगा दिया करते थे जिससे उनके पद्य अलग पहचाने जा सकें। कवि गुलाबसिंह ने अपने अनुवाद में भी यह पद्धति अपनाई है और अनेक बड़े पद्यों में 'कवि गुलाब' या गुलाबसिंह की छाप लगाई है।

पाच अंशत पराश्रयी रचनाए

डा० सरोज अग्रवाल ने निम्नलिखित पाच रचनाओ को 'प्रबोधचन्द्रोदय' के हिन्दी रूपान्तरो म गिनाया है

मोह विवेक युद्ध	—लेखक	लालदास
,,	— ,	गोपालदास
,	—	कवि बनारसीदास
विज्ञानगीता	— ,	महाकवि केशवदास (सन १६१०)
प्रबोधद्युमण्युदय	—	उमादयाल मिश्र (सन १८६२)

हमारे विचार म इन रचनाओ को रूपान्तर नही कहा जा सकता। वस्तुत डा० अग्रवाल ने रूपान्तर शब्द का प्रयोग अस्थिर अर्थ म कर दिया है। उन्होने स्वय इन रचनाओ का भीतरी स्वरूप दिखाते हुए लिखा है

४१८ आगे चलकर हिन्दी म प्रबोधचन्द्रोदय के ही आधार पर कुछ एसी रचनाओ का उदभव हुआ जिन्हे न तो हम स्वतन्त्र मौलिक रचनाओ की श्रेणी म रख सकते हैं और न जिन्हे अनुवाद ही माना जा सकता है। इन रचनाओ म कही तो मूल का अविकल अनुवाद मात्र है और कही रचनाकारो की मौलिकता से प्रसूत कुछ मौलिक कथानक और मवाद आदि भरे पड हैं। (सरोज अग्रवाल, 'प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा, पृ० २६५)।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रूपान्तर का उनकी दृष्टि म क्या अभिप्राय है। असल म इन रचनाओ मे संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' की सामग्री बहुत थोडी है, और मौलिक सामग्री बहुत अधिक। इसलिए इन्हे मौलिक रचनाओ म ही माना जाता रहा है। ठीक ठीक कहना हो तो इन्हे मौलिक के ही एक भेद पराश्रयी म रखना चाहिए और उसम भी इनका स्थान अंशत पराश्रयी उपभेद म होगा।

मध्यकाल की कुछ रचनाओ पर टिप्पणिया

प्रबोधचन्द्रोदय का मल्ह कवि कृत अनुवाद

इस अनुवाद का पता हाल म ही लगा है। अनुवाद की एक प्राचीन प्रति ना आठ इच, चार इच आकार के पच्चीस पन्नो म है जयपुर म दीवान बधीचन्द जी के मन्दिर के ग्रन्थागार म सुरक्षित है।

यह रचना ईस्वी १५४४ (विक्रम सवत १६०१) की है। इस अनुवाद की भूमिका म पृष्ठ २ पर ये अर्धालिया आती हैं

सोलह स सम्वत जब लागा। तामहि वरष एक अधभागा।
कार्तिक कृष्ण पक्ष द्वादसी। ता दिन कथा जु मन म बसी॥ ११॥

अर्थात सवत १६०१ म यह अनुवाद किया गया या अनुवाद करने का सकल्प किया गया।

इस अनुवाद म कवि ने जो आत्मपरिचय दिया है उसके अनुसार इनके तीन नाम

थे—ज्ञानदान मथुरादास, और मन्द कवि। पिता का दिया हुआ दर्वीशाम नाम सम्भवतः इन्होंने त्यक्त किया था, और मथुरादास नाम रख लिया था। कविता में ये अपने आपको मन्द कवि कहते थे। ये अन्तर्वेद के रहने वाले थे, और इनके गुरु का नाम रामचन्द्र था।

अनुवाद का उद्देश्य इन्होंने 'कुँवरसेन जी पठनाय' लिखा है। पर अपने इस महत्त्वपूर्ण पाठक का, जिसके लिए अनुवाद रचना मुख्यतः प्रस्तुत की गई प्रतीत होती है, और कोई विस्तृत परिचय अनुवाद में नहीं मिलता। अनुमानतः कुँवरसेन कोई राजा या राजपुत्र थे जिन्हें भक्ति की ओर उन्मुख करने के लिए 'प्रबोधचन्द्रोदय' का यह संक्षिप्त भावानुवाद किया गया।

इस प्रबन्ध में हम भावानुवादों की समीक्षा में तो प्रवृत्त नहीं हुए पर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण मध्यकाल के कुछ अनुवादों का अध्ययन करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय

संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय की रचना ईसा की ११वीं शताब्दी का मध्यकाल (१०८० ई० के आसपास) प्रतीत होता है। इसके प्रणेता पं० कृष्ण मिश्र थे, जो बड़े विद्वान, धार्मिक और समाज हितैषी तपस्वी व्यक्ति थे। इनके जन्मस्थान के बारे में देशी विदेशी विद्वानों में एकमत्य नहीं है। पर राजा कीर्तिवर्मा के आश्रय में इनका रहना सबको मान्य है। यह राजा बुंदेलखंड का चन्देलवंशी राजा था, जिसका काल ईसा की ११वीं शताब्दी है। प्रबोधचन्द्रोदय को पढ़ने से पता चलता है कि इनको पूर्वी भारत के क्षेत्रों से अच्छा परिचय है। नाटक में आए प्रसंगों को देखने से इनका बिहार प्रदेश के प्रति पक्षपात दिखाई देता है। सम्भव है यही क्षेत्र इनकी बाल-लीला भूमि रहा हो। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अतिरिक्त इनकी और किसी रचना का निश्चित पता नहीं लगता।

यह नाटक एक दृष्टि से निराला नाटक है। इसमें गुण, प्रवृत्ति और भाव को मूर्त करके पात्र बनाया गया है। विवेक, श्रद्धा, महामोह, विष्णुभक्ति आदि इसके कुछ पात्र हैं। कापालिक, दिगम्बर आदि कुछ पात्र अपने वर्ग का स्वरूप प्रकट करनेवाले 'टाइप' पात्र हैं। नाटक की इस विशेषता के कारण अंग्रेजी के लेखकों ने इसे एलेगॉरिकल नाटक कहा है। हिन्दी में इसे 'रूपक शैली' या 'प्रतीकात्मक शैली' का नाटक कहा गया है।

और ठीक देखा जाए तो प्रत्येक नाटक रूपक ही होता है। इसीलिए संस्कृत नाट्यशास्त्री अभिनेय रचनाओं को सामान्य नाम रूपक के अन्तर्गत रखते हैं। संस्कृत नाटक का पात्र अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा प्रेम, वीरता आदि गुणों का मूर्त रूप ही अधिक होता है। पर जब पात्रों का नाम 'प्रेम' आदि रख दिया जाए तब पात्र के व्यक्तिगत चरित्र के बारे में बिलकुल भी उत्सुकता नहीं रहती। उसका अनुमान और कथन निश्चित हो जाता है। मूर्त-गुण रूप पात्र जब वैयक्तिकता से रहित होकर एक निश्चित प्रकार के चरित्र का प्रतीक या संकेत हो जाता है। इसलिए इस 'रूपक शैली' या प्रतीकात्मक शैली किसी भी प्रकार का नाटक कहा जा सकता है।

कुछ लोग इस शैली के लिए सांकेतिक शैली या अन्यापदेशिक शैली शब्दों का प्रयोग

करते हैं। प्रतीकात्मक और सांकेतिक शब्दों का प्रयोग साधारणतया एक ही अर्थ में किया जाता है। अन्योक्ति में पूरा अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत में ध्वनित होता है। प्रबोध चन्द्रोदय जैसे नाटकों में अप्रस्तुत अर्थ ध्वनित नहीं होता। इसलिए 'अन्योक्ति शैली' का प्रयोग यहां संगत नहीं।

इस प्रकार मूर्तगुणों को पात्र बनाकर लिखा गया यह प्रथम नाटक है। पर कथा काव्यों में इस रूपक शैली का प्रयोग पहले भी होता रहा है। दसवीं की दसवीं शताब्दी का रचना सिद्धर्षि कृत उपमितिभवप्रपंच कथा इसी शैली की कृति है। प्रबोधचन्द्रोदय के बाद संस्कृत में इस शैली पर अनेक नाटक लिखे गए। इनमें यशपाल कृत मोहराज पराजय (१३वीं शताब्दी ईस्वी) कवि कर्णपूर कृत चैतन्यचन्द्रोदय (१६वीं शती ईस्वी) आदि कुछ उल्लेखनीय रचनाएं हैं। ये परवर्ती रचनाएं स्पष्टतः प्रबोधचन्द्रोदय से प्रभावित हैं पर श्रेष्ठता में उस कोटि की नहीं बन पड़ीं।

नाटक का इतिवृत्त

अंक १ मन की दो पत्नियां प्रवृत्ति और निवृत्ति से क्रमशः मोह और विवेक का जन्म हुआ है। विवेक का, जिसके पक्ष में शांति श्रद्धा आदि हैं, काम लोभ, क्रोध आदि से समर्थित मोह के विरोध का सामना करना पड़ता है। काम और रति के संवाद से पता चलता है कि विद्या नाम की राक्षसी पैदा होनेवाली है और विवेक उसकी सहायता से काम को मारना चाहता है। विवेक अपनी पत्नी मति को बताता है कि यह पापी काम शुद्ध बुद्ध पुरुष को स्वयं बंधन में डालकर दोष दे रहा है। अब उपनिषद के साथ मेरा सम्बन्ध होने पर प्रबोध की उत्पत्ति होगी। तब यह बंधन छूट सकता है।

अंक २ महाराज महामोह ने दम्भ को बुलाकर काशी में निःश्रेयस में विघ्न डालने का आदेश दिया। दक्षिण की राढा नगरी से आए अहंकार और दम्भ में पहले कुछ कहा सुनी हुई पर जब दम्भ को पता चला कि वह उसका दादा अहंकार है तब वह विनीत हो गया। उसने अहंकार को बताया कि महाराज मोह काशी में विवेक को दूर रखने के लिए आ रहे हैं। मोह के साथ चार्वाक मत आया और उसने बताया कि विष्णुभक्ति नामक योगिनी बड़ी प्रबल हो रही है। मदमान के पत्र से पता लगता है कि शान्ति और उसकी माता श्रद्धा विवेक का उपनिषद से मिलाने का यत्न कर रही है। मोह ने मिथ्यादृष्टि को श्रद्धा को वश में करने का आदेश दिया।

अंक ३ मिथ्यादृष्टि ने श्रद्धा को ग्रस लिया। शान्ति अपनी सखी करुणा के साथ श्रद्धा को खोजने जाती है। उसे दिगम्बर जैन साधु बौद्ध भिक्षु और सोमसिद्धान्त श्रमण दीखते हैं जिनके साथ क्रमशः तामसी, तामसी और राजसी श्रद्धा भी हैं। ये तीनों अपने अपने मत की श्रेष्ठता के बारे में शास्त्रार्थ करते हैं, और अंत में नारी और मदिरा के सुख के प्रलोभन में कापालिक सोमसिद्धान्त के शिष्य हो जाते हैं। वह नारी राजसी श्रद्धा थी। जैन भिक्षु ने गणना करके बताया कि धर्म और सात्त्विकी श्रद्धा विष्णुभक्ति के आश्रय में हैं।

अंक ४ मैत्री श्रद्धा को देखने आती है। श्रद्धा को विष्णुभक्ति ने महाभैरवी के

चंगुल से छुड़ाया है। विवेक ने वस्तुविचार को बताया कि मोह के साथ हमारा संग्राम छिड़ गया है। वस्तुविचार काम को और क्षमा क्रोध को जीतने का संकल्प करते हैं। लोभ को जीतने के लिए संतोष को बुलाया जाता है। राजा विवेक अपनी सेना से काशी पर हमला बोल देता है।

अंक ५ मोह पक्ष का संहार हो गया और विवेक की विजय हुई। श्रद्धा मुनिया के हृदय में रहने लगी। समझौते के लिए न्यायशास्त्र को दूत बनाकर भेजा गया। दूत ने मोह से देवस्थान छोड़ने को कहा। मोह ने क्रुद्ध होकर फिर युद्ध किया और उसके पक्ष के सब लोग मारे गए। वह कहीं जाकर छिप गया। मोह और विवेक के पिता मन को अपने कुल के नाश और अपनी पत्नी प्रवृत्ति के मरने से बड़ा दुःख हुआ। सरस्वती ने उसे वैराग्य की ओर मोड़ा। निवृत्ति मन की पत्नी बनी।

अंक ६ शान्ति को श्रद्धा से पता चला कि पुरुष ने माया का सम्बन्ध त्याग दिया है पर मोह ने मधुमती के द्वारा फिर अपना जाल फैलाया है। माया मन और संकल्प ने पुरुष को दबा लिया। पर पार्श्ववर्ती तर्क ने इन सबको आड़े हाथ लिया और मायाजाल को छिन्न भिन्न कर दिया। पुरुष ने विवेक और उपनिषद को बुलाया। इसके बाद निदिध्यासन प्रकट हुआ और उसने उपनिषद से कहा कि आपके गर्भ से विद्या और प्रबोधोदय नाम की दो संतानें होंगी। उनमें से विद्या को संकर्षविद्या द्वारा मन में संक्रान्त करा दें और प्रबोधचन्द्र को पुरुष के हाथों सौंपकर विवेक के साथ उपनिषद विष्णुभक्ति के पास चली जाए। ऐसा ही हुआ। प्रबोधोदय होने से सब अज्ञानांधकार दूर हो गया। विष्णुभक्ति के प्रसाद से पुरुष को मुक्ति मिली।

पात्र पात्रों की संख्या तीन दर्जन से भी अधिक है। पुरुष पात्रों में विवेक (नायक) वस्तुविचार संतोष पुरुष प्रबोधोदय वैराग्य निदिध्यासन, संकल्प महामोह (प्रतिनायक) चार्वाक काम क्रोध लोभ दम्भ अहंकार क्षपणक, भिक्षु कापालिक, आदि हैं। स्त्री-पात्रों में मति (नायिका), श्रद्धा शान्ति करुणा मैत्री, उपनिषद सरस्वती, क्षमा मिथ्यादृष्टि विभ्रमावती रति हिंसा तृष्णा आदि हैं।

रस इस नाटक के लेखक ने शान्तरस प्रधान माना है। नाट्यशास्त्र में स्वीकृत वीर और शृंगार में से कोई भी यहां अंगी नहीं है। पर वैसे इतिवृत्त का ढांचा युद्ध का बनाया गया है जो वीर रस के अनुकूल है। विविध रसों की अंग रूप में भी पुष्टि हुई है जैसे शृंगार (१ १०) हास्य (३ १८) रौद्र (२ ३१) वीर (४ १४) आदि।

उपसंहार नाटक के इतिवृत्त से पता चलता है कि समाज में फैले हुए धार्मिक पाखण्ड को दूर करके समाज को आगे बढ़ाना और मनुष्य को सद्गुणों की ओर ले जाना ही इस नाटक की रचना का मुख्य उद्देश्य था। हिन्दी अनुवादों को देखने से पता चलता है कि धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों का इस रचना से विशेष लगाव रहा और जितने हिन्दी अनुवाद इस नाटक के हुए उतने और किसी संस्कृत नाटक के नहीं हुए।

अनुवाद

मल्ह कवि के इस अनुवाद में मूल के कथानक से कुछ हेर फेर किया गया है। कुछ

प्रसग सक्षिप्त कर दिए गए हैं और कुछ का क्रम बदल दिया गया है। मूल रचना की प्रस्तावना म नाटक अभिनय का जो प्रसग बनाया गया है उसम भिन्न प्रसग इस अनुवाद म बताया गया है। अनुवाद के प्रसग के अनुसार शान्त रस का अभिनय करन के लिए राजा कीर्तिवर्मा का आदेश पाकर नट दक्षिण देश जाकर वहा स प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लाता है और इसका मनोरजक अभिनय प्रस्तुत करता है। पहले अक मे काम व रति और विवेक व सुमति के सवाद मूल रचना के सक्षिप्त भावानुवाद हैं। यही स्थिति दूसरे तथा तीसरे अको म है। पर तीसरे अक म मूल रचना के चौथे अक की कुछ कथा भी ले ली गई है। जसे भरवी विद्या का श्रद्धा का पकडन तथा विष्णुभक्ति द्वारा उसकी रक्षा करन और विवेक को सन्देश भेजनवाला अश। चौथे अक म विष्णुभक्ति की आज्ञा से विवेक अपनी सेना तयार करता है। पाचवें अक म वह काशी म युद्ध करने जाता है जहा महामोह से उसका युद्ध आरम्भ हो जाता है। छठे अक म युद्ध की समाप्ति होती है और सरस्वती मन को उपदेश देती है। उपनिषद् के सहयोग से प्रबोधोदय और विद्या के जन्म का भी सकेत है। मूल नाटक म मन और सरस्वती का प्रसग पाचवें अक म था जो यहा छठे अक मे है।

पात्रो मे मूल से थोडा भेद मिलता है। अनुवादक न इनम एक 'चपला' नामक पात्र रखा है। मूल के कुछ पात्रो के नामों मे थोडा अन्तर कर दिया गया है जसे अहकार के लिए 'अहं', और मति के लिए सुमति दम्भ के लिए डिम्भ बौद्ध साधु के लिए 'भिक्षु' और कापालिक के लिए जगम। नवीन पात्र योजना या नामो के हेर फेर स *किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।*

यह अनुवाद नाटक शैली म न होकर काव्य शैली म किया गया है। सारा अनुवाद पद्य-बद्ध है, यहा तक कि अभिनय सकेत भी पद्य म ही है, जिससे सवादो से पदा होनेवाले नाटकीय प्रभाव की हानि होती है।

वस्तु विचार राह म गयो नमस्कार करि ठाढो भयो।
परे पाय अरु विनो कराई कौन काज हो बोल्यो राई॥ १८

—पृष्ठ २

नेपथ्य वचन का सकेत भी अनुवादक ने पद्य म रखा है

माहि जमुनिका बोल्यो सोइ ॥ ६४

—पृष्ठ ५

ऊपर कहा जा चुका है कि अनुवाद भाषान्तर शैली म न होकर सक्षिप्त भावानुवाद मात्र है। इसलिए मूल रचना स इसकी बारीकी स तुलना नहीं हो सकती। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है

मूल—वामश्चित्रदुकूलमल्पमतिभिर्नार्यामहो कल्पित।
बाह्यान्त परिपश्यता तु निरयो नारीति नाम्ना कृत ॥

—४१

अर्थ— 'रग बिरगे कपडे आदि वस्तुओ की अल्पबुद्धियो ने नारी मे कल्पना कर ली, पर बाहर भीतर विचार करनेवाले के लिए तो नारी नरक ही है।'

मल्ह कवि का अनुवाद

भांति अनूप पटवर आया मासपिंड का ले पहिरायो।
याको इहक किया तुम जानो अंतर द्रिष्ट न कबहू आनो ॥१७॥

इस अनुवाद की भाषा ब्रज है जिसमें तोड़ मरोड़ की प्रवृत्ति विशेष नहीं है। शैली इनकी सरल और सीधी है और वाक्य साफ सुथरे और हलके हैं।

छन्द अनुवाद में दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु छन्दों में मात्रासंख्या के विचार में सर्वत्र सावधानी नहीं बरती गई। कहीं-कहीं प्रवाह अटकता मालूम होता है।

उपसंहार मल्ह कवि की यह रचना ईस्वी १५४४ की है। इसी समय के आस पास जायसी ने पद्मावत की रचना की थी गुरु नानक का देहान्त हुआ था तुलसीदास और दादूदयाल का जन्म हुआ था, और सूरदास अभी जीवित थे तथा पद रचना कर रहे थे। मल्ह कवि की दोहा चौपाई की रचना इस प्रकार कुतबन और मंझन के बाद बढ़नी है जो पहले दोहा चौपाई में रचना कर चुके थे। साहित्य में सन्त कवियों की प्रबलता के कारण मल्ह कवि को प्रबोधचन्द्रोदय जैसी धार्मिक रचना के अनुवाद की प्रेरणा मिली दीखती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि प्रबोधचन्द्रोदय बाद में भी धार्मिक लेखकों में लोकप्रिय रहा। अनुवादों में ब्रजभाषा का चलन १८५० तक तो रहा ही उसके बाद भी पद्य भाग ब्रजभाषा में अनूदित किया जाता रहा। खड़ी बोली का पद्य में प्रयोग बहुत पीछे 'वर्तमान काल' में मिलता है।

इस प्रकार संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की जो परम्परा १५४४ में मल्ह कवि के इस अनुवाद से आरम्भ हुई वह आगे जिस मार्ग पर चलती हुई आज तक पहुंची है उसका अनुसन्धान आगे के पृष्ठों में किया जाएगा।

जसवन्तसिंह कृत प्रबोधनाटक

इस काल के अनुवादों में इस रचना का स्थान दूसरा है। पर यह मूल के आधार पर की गई बहुत ही संक्षिप्त रचना है। फुलस्केप आकार के ११ पृष्ठों में सारी रचना को टाइप किया जा सकता है।

अनुवादक जसवन्तसिंह जोधपुर के राजा थे। हिन्दी अलंकार साहित्य के इतिहास में उनकी रचना 'भाषाभूषण' बहुत प्रसिद्ध है। इनकी अन्य रचनाओं में 'सिद्धान्तबोध', 'सिद्धान्तसार', 'आनन्द विलास', और 'अपरोक्ष सिद्धान्त' भी हैं, जो सब आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं।

जसवन्तसिंह का जन्म १६२६ ई० और मृत्यु १६७८ ई० में माने जाते हैं।

अनुवाद की शैली पहले विद्वानों में यह भ्रम प्रचलित हो गया था कि जसवन्तसिंह ने ब्रजभाषा गद्य और पद्य में मूल नाटक का अविकल अनुवाद किया था। पर अब यह स्पष्ट हो चुका है कि यह अनुवाद इतना संक्षिप्त है कि इसे ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है अनुवाद की दृष्टि से नहीं। पहले दो अंक टाइप के छह पृष्ठों में आ जाते हैं और शेष चार अंक केवल पांच पृष्ठों में समा जाते हैं। इतना अवश्य

है कि इस रचना मे ब्रजभाषा के गद्य का प्रयोग नि सन्देह एक निराली चीज है। इससे पहले किसी नाटक के हिन्दी अनुवाद मे गद्य का प्रयोग नही हुआ। वसे ब्रजभाषा गद्य गोरखपथियो के कुछ ग्रथो (१४वी शती ईस्वी), वैष्णव ग्रथो 'शृगार रस मडन आदि म मिलता है।

नाम अनुवादक ने इसका नाम भी सक्षिप्त करके प्रबोधनाटक' रखा है—"अथ प्रबोधनाटक लिख्यते।"

इतिवृत्त अति सक्षेप करने का परिणाम यह हुआ कि इतिवत्त म अधूरापन आ गया है। मूल कथानक का बहुत सा अश, जसे तीसरे अक का विभिन्न मत के लोगो का विवाद और पाखण्ड प्रदर्शन, बिलकुल छोड दिया गया है और सम्बन्ध सूत्र जोड दिया गया है।

पात्र विष्णुभक्ति के स्थान पर इन्होने आस्तिक्ता (आस्तिक्ता) को पात्र बनाया है। अन्य पात्रो मे मूल से कोई अन्तर नहीं है।

अभिनय सकेत प्रवेश और निष्क्रमण के सकेत मूल गद्य शरीर के बीच म ही आ जाते है। उन्हे रचना स पथक नही दिखाया गया।

अनुवाद सच पूछिए तो इस रचना को अनुवाद न कहकर पराश्रयी रचना कहना चाहिए। इसम न मूल के श्लोको का ही ठीक-ठीक अनुवाद किया गया है और न गद्य का हो। सिर्फ एक मगलाचरण के कवित्त को सस्कृत के मगलाचरण का भावानुवाद कहा जा सकता है।

राजावाच जस प्रयोग, जो हृदयराम के रामगीत म मिलते है इस रचना म भी आते हैं।

शैली रचना अधिकतर गद्य म है। छन्दो म कवित्त और दोहे का प्रयोग हुआ है। कवित्त तो केवल दो हैं, एक आरम्भ म और दूसरा अन्त मे आशीर्वाद के रूप म। मगलाचरण म दोहे भी एक दर्जन से कुछ ही अधिक हैं।

भाषा ब्रजभाषा का प्रयोग है। भाषा म तत्सम तदभव शब्दो का प्रयोग अधिक है। उच्चारण ब्रजप्रणाली पर है—शत्रु को सत्रु सामर्थ्य को सामथ यवनिका को जम निका। सस्कृताभास का झुकाव ऐस वाक्यो म दिखाई देता है जसे आरम्भ मे 'अथ प्रबोधनाटक लिख्यते।

निष्कर्ष जसवन्तसिंह न सस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय के आधार पर एक सक्षिप्त रचना ब्रजभाषा म लिखी थी, जिसे उन्होने 'प्रबोधनाटक' नाम दिया था। यह रचना न नाटक है न अनुवाद है। प्रकाक के आरम्भ अन्त का इसम कोई सकेत नही। इसे परा श्रयी रचना और नाटकाभास कहा जा सकता है। पर इसम ब्रजभाषा के गद्य का प्रयोग हिन्दी गद्य के विकास के प्रसग म एतिहासिक महत्त्व की घटना है, जिसकी ओर गद्य के विकास की परम्परा दिखानेवाले इतिहासकारो का ध्यान नही गया।

प्रबोधचन्द्रोदय का ब्रजवासीदास कृत अनुवाद (१७६० ई०)

ब्रजवासीदास का जन्म १६६६ ई० में माना जाता है। इनके अनुवाद का काल १७६० ई० (१८१७ वि०) है।

इनकी एक और रचना ब्रजविलास भी प्रसिद्ध है। इनके प्रबोधचन्द्रोदय की एक प्रति चिरंजीव पुस्तकालय आगरा में है और एक प्रति अमरीका में है।

ब्रजवासीदास ने अपना अनुवाद सीधे संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' से नहीं किया। यह अनुवाद संभवतः फारसी से किया गया है। इन्होंने लिखा है कि संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थ का बलीराम ने यमन भाषा में अनुवाद किया था। इन्होंने उसका भाषान्तर किया है।

नाम राख्यौ ग्रंथ का परबोध चन्द्र उदोत।
सो तो बाणी संस्कृत प्राकृत करि न विचार।
ताके समुझन को नहीं विद्या बुद्धि अपार॥ १७॥
बलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब।
साऊ कियो अति कठिन समुझि न पर सिताब॥ १८॥
मित्र एक ऐसी कह्यो जो यह भाषा होय।
सरल होय तो सकल को सुनि सुख पावे लोय॥ १९॥
ताते यह भाषा करी अपनी मति अनुसार।
सतसंगत परताप ते विपुल छंद विस्तार॥ २०॥

—प्र० च० अनुवाद पृष्ठ २-३

इन्होंने मूल के अनुसार ही भाषान्तर किया है, पर कहीं-कहीं, जैसे सदाशिव मत के वर्णन में, कुछ विस्तार भी कर दिया है। शैली उन्होंने कथावाचक की रखी है अनुवादक की नहीं। कृष्णदास भट्ट (संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' का लेखक कृष्ण भट्ट) अपने शिष्य को कथा सुना रहा है।

कृष्णदास भट शिष्य सो कहत कथा परबोधि॰॥ १२॥
कृष्णदास भट उवाच चौ०
सुनहु शिष्य इक कथा सुहाई।
परम विचित्र परम सुखदाई।
कीरति ब्रह्म नाम इक भूपा।
परम अनूप तासु को रूपा॥

—अनुवाद पृष्ठ ३-४

नाटक के अन्त में भी सुनने का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है।

अंक समाप्ति की सूचना देते हुए अंक के स्थान पर टंक लिखा है—संभवतः अवग्रह चिह्न को लिपिकार ने ट बना दिया है।

१ इसका वास्तविक नाम क्या है ?
२ इसके लेखक का नाम क्या है ?
३ यह नाटक है या नहीं ?
४ इसकी कविता कैसी है ?
५ इसमें अनुवाद कैसा है ?

नाम

प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, हृदयराम ने 'संवत १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा उस काल के भीतर ही नाटक के रूप में कई रचनाएं हुई, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक हुआ (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४६)।

अर्थात् शुक्लजी के विचार से

१ हृदयराम ने एक नाटक लिखा,[1]
२ इसका नाम भाषा हनुमन्नाटक था

और ३ यह भाषा हनुमन्नाटक संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर लिखा गया था।

डा० सोमनाथ गुप्त के अनुसार, "नाटक साहित्य का आरम्भ नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) से हुआ है। हनुमन्नाटक तथा समयसारनाटक आदि इसी कोटि के हैं।"

—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४

अर्थात्, गुप्तजी के अनुसार,

१ 'हिन्दी हनुमन्नाटक' नाम का एक नाटक है।
२ पर वह 'नाटकीय काव्य' की कोटि का है।

डा० दशरथ ओझा के अनुसार, "दूसरा नाटक कवि हृदयराम कृत हनुमन्नाटक है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद है किन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं" (हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १४१)।

अर्थात् ओझाजी के अनुसार,

१ हृदयराम ने एक नाटक लिखा है।
२ उसका नाम हनुमन्नाटक है।
३ वह मौलिक रचना है।

इस प्रकार ये तीनों विद्वान इस प्रश्न पर एकमत हैं कि हृदयराम की रचना का नाम हनुमन्नाटक है।

वास्तविक नाम हृदयराम की इस रचना का वास्तविक नाम 'हनुमन्नाटक' नहीं है। हिन्दी में यह नाम केवल इसलिए चल पड़ा प्रतीत होता है कि इस रचना को प्रकाशित करने के समय इसकी भूमिका में भारत-जीवन, काशी, के सम्पादक रामकृष्ण

१ इसी इतिहास के पृष्ठ १६७ पर शुक्लजी ने लिखा है "हृदयराम के भाषा हनुमन्नाटक को नाटक नहीं कह सकते।"

वर्मा ने यह लिखा था कि 'यह संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद है, इसलिए इसका नाम भी हनुमन्नाटक रखा गया, और इसी नाम से यह सर्वत्र पंजाब प्रान्त में प्रसिद्ध है', (भूमिका, पृ० २)।

रचना को पढ़ने से पता चलता है कि कवि ने इसका नाम 'रामगीत' रखा था। पुष्पिकाओं में भी सर्वत्र यही नाम दिया गया है।

पहले खंड में कथा आरम्भ करने से पहले पाठक को अपनी रचना का कथानक बताते हुए कवि रामकथा की मुख्य घटनाओं का उल्लेख करने के बाद कहता है

ऐसा रामचंद गीत तुमहिं सुनाइबो ॥ १ १७ ॥

इस प्रकार कुम्भकर्ण के वध के बाद कवि कहता है

राम गीत मन लाय, सुनो सुनावत राम कवि।
तिनके दुख रघुराय, कुम्भकरन ज्यों मारिहै ॥ ११ ६७ ॥

यह रचना जिन १४ खंडों में विभाजित है उनमें से पहले तीसरे और चौथे को छोड़कर शेष ग्यारह के बाद ऐसी संस्कृताभास पुष्पिकाओं में 'रामगीत' नाम दोहराया गया है

१ 'इति श्रीरामगीते बालीवध पंचमोऽङ्क
२ इति श्रीरामगीते श्रीलछमन जिवाइयो
नाम त्रयोदशोऽङ्क समाप्त
३ 'इति श्रीरामगीते श्रीरामचन्द्र अजुध्या
आइयो नाम चतुर्दशोऽङ्क समाप्त

दूसरी ओर, सारी रचना में 'हनुमन्नाटक' या 'भाषा हनुमन्नाटक' शब्दों का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ।

इसलिए इस रचना का 'रामगीत' के नाम से ही उल्लेख होना चाहिए और किसी नाम से नहीं। प्रतीत होता है कि हनुमान की बनाई रचना का हनुमन्नाटक नाम देखकर, कवि ने 'राम' द्वारा गाई गई रचना को 'रामगीत' कहा जो राम विषयक गीत या कविता का अर्थ भी दे सकता है।

रामगीत का लेखक

रामगीत का लेखक, जैसा कि ऊपर लिखा गया है कवि हृदयराम है। पर, उसने अपना नाम हिरदराम लिखा है

रघुवर कथा पुनीत सदाई।
सेवक हिरदराम सुनाई ॥ ११ ११० की अंतिम अर्धाली ॥

पर अधिकतर पद्यों में 'राम कवि' या 'कवि राम' के नाम से ही उसने अपना उल्लेख किया है।

पहले खंड में बहुत से पद्यों में 'कासीराम कवि' के नाम की छाप मिलती है। इस विषय में भूमिका-लेखक रामकृष्ण वर्मा ने एक किंवदंती का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि बादशाह जहाँगीर ने किसी अपराध पर हृदयराम कवि को एक श्वेत गृह में

कैद कर लिया था। उस घर की चमक से कवि की आँखें जाती रहीं। कवि कारागार में इस ग्रन्थ की रचना करने लगे। कहते हैं कि हनुमानजी उन्हें केले का एक पत्ता नित्य दे जाते थे और उसीपर हृदयराम अपना ग्रन्थ लिखते जाते थे। ग्रन्थ समाप्ति पर जहाँगीर को स्वप्न आया और उसने हृदयराम को मुक्त करके क्षमा प्रार्थना की। ग्रन्थ को बादशाह ने अपने खजाने में रखवा लिया, जो बहुत वर्ष बाद बादशाह बहादुरशाह की नजर पड़ा। उन्होंने वह गुरु गोविन्दसिंह जी को भेंट कर दिया। गुरु महाराज ने देखा कि इसके एक दो पन्ने खो गए हैं तो उन्होंने कासीराम कवि को जो हृदयराम के वंश में था विद्यार्थियों में थे आज्ञा दी कि इसकी पूर्ति करो। उन्होंने इसे उत्तम प्रकार से सम्पन्न किया।'

किंवदन्ती की अन्तिम बात में कुछ न कुछ सत्य अवश्य लगता है। पहले खंड में कुछ पद्यों में 'कासीराम कवि' की छाप मिलती है जैसे ९०, ९४ में परन्तु दूसरे खंड के आरम्भ के बाद कासीराम की छाप कहीं नहीं मिलती। पहले खंड में राम कवि की छाप वाले पद भी हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि रामभक्ति शाखा के कवि हिरदराम ने १६२३ ई० (संवत् १६८०) के आसपास रामगीत नामक रचना की थी, जिसके संभाव्यतः कुछ खंडित अंश को बाद में कासीराम कवि ने पूरा किया।

'रामगीत' का रूप

यहाँ हम इन दो प्रश्नों का उत्तर देना है—

१ रामगीत नाटक है या काव्य ?

२ 'रामगीत मौलिक है, पराश्रयी है, या अनुवाद ?

ऊपर कहा जा चुका है कि 'रामगीत' को बहुत समय से भाषा हनुमन्नाटक कहा जाता रहा है, जिसके कारण लोग इसे नाटक ही समझने लगे हैं। वस्तुतः यह काव्य, अर्थात् 'श्रव्य काव्य', है नाटक, अर्थात् दृश्य-काव्य, नहीं। दृश्य-काव्य में सारी वस्तु संवादरूप में होती है। इसमें ऐसा नहीं है।

इसके खंडों के विभाजन को अंक नाम देने से भी इस भ्रम में वृद्धि हुई है। नाटक के एक अंक में साधारणतया एक दिन की घटना दिखाई जाती है।[1] इस दृष्टि से इसके खंडों को अंक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए पहले ही खंड में विश्वामित्र के अयोध्या आने से लेकर सीता के साथ विवाह के बाद राम के अयोध्या लौटने तक सारे बालकांड की कथा आ गई है।

वस्तु विन्यास, रस, आदि अन्य किसी दृष्टि से भी यह रचना नाटक नहीं है।

साराँश यह कि हिरदराम का 'रामगीत' एक काव्य रचना है, नाटक रचना नहीं।

२ मौलिक अनुवाद, या पराश्रयी ?

इसे शुक्लजी ने संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर लिखी रचना बताया है, और

[1] नाट्यदर्पण, १-२६ की टीका कार्यक्षेत्र यो का देर खण्डने सोऽङ्कः। काय द्वग वग

डा० ओझा ने मौलिक रचना माना है। इस प्रसंग में पहले संस्कृत हनुमन्नाटक का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

संस्कृत हनुमन्नाटक 'महानाटक' नाम से प्रसिद्ध है जो इसके १४वें अंक के ६४ और ६५ वें श्लोकों में लिखा है

रम्यं श्रीरामचन्द्रप्रबलभुजबृहत्ताण्डवं काण्डशौण्डं
व्याप्तं ब्रह्माण्डभाण्डे रणशिरसि महानाटकं पाटवाढ्यम्।
पुण्यं भव्यं यान्जनेयप्रविरचितमिदं यः शृणोति प्रसन्नः।
मुक्तोऽसौ सर्वपापादरिभटविजयी रामवत्संगरेषु।। १४.६४।।

इसी श्लोक में इसका लेखक अंजनापुत्र हनुमान को बताया गया है। फिर १४.६६ में लिखा है कि पहले यह रचना हनुमान ने लिखी थी। इसके आगे अपनी रामायण की व्यर्थता समझकर वाल्मीकि ने इसे समुद्र में डलवा दिया। फिर राजा भोज ने वहां से इसका उद्धार किया और दामोदर मिश्र ने इसे क्रमबद्ध किया।

इससे दो बातें पता चलती हैं एक तो इसका हनुमन्नाटक नाम कथित लेखक के नाम पर बाद में रखा गया है दूसरे, इसका वर्तमान रूप दामोदर मिश्र का दिया हुआ है।

क्या यह नाटक है? यह रचना भी नाटक नहीं प्रतीत होती। नाट्यशास्त्र के शायद ही किसी नियम का पालन इसमें हो। कथा के खंडों को अंक नाम दिया गया है। संभवत इसी कारण इसे नाटक नाम दे दिया गया। अन्यथा सारा द्वितीय अंक जिसमें राम और सीता के शारीरिक सम्भोग का वर्णन है, किसी नाटक में कैसे स्थान पा सकता है? एक तो यह विषय ही नाटक में रखना वर्जित है और दूसरे शैली की दृष्टि से यह वर्णित वर्णन है अभिनेय संवाद नहीं।

इस रचना में संस्कृत साहित्य में मिलनेवाले उन श्लोकों का संग्रह दिखाई देता है, जो रामकथा के विभिन्न प्रसंगों पर संस्कृत कवियों ने लिखे हैं। श्लोक निःसन्देह सुन्दर हैं, पर कथा का नाटकीय विकास कहीं भी नहीं है। संग्रह के बेतुकेपन का एक उदाहरण है स्वर्णमृग के प्रसंग में इसके चौथे अंक का तीसरा श्लोक— ग्रीवाभंगाभिरामं०, जो वस्तुतः कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक का श्लोक है। संग्रहकर्ता यह भूल गया कि 'शाकुन्तल' का हरिण रथस्थ दुष्यन्त के स्यन्दन बद्धदृष्टि है पर स्वर्णमृग का पीछा करनेवाला राम रथ पर नहीं पैदल भाग रहा है।

महानाटक में १४ अंक हैं और कुल श्लोक ५७८ हैं जो अंक क्रम से इस प्रकार हैं

प्रथम अंक	५८
द्वितीय अंक	४०
तृतीय अंक	२७
चतुर्थ अंक	१६
पंचम अंक	६४
षष्ठ अंक	४६

सप्तम अंक	२०
अष्टम अंक	५८
नवम अंक	४१
दशम अंक	२४
एकादश अंक	४१
द्वादश अंक	१६
त्रयोदश अंक	३८
चतुर्दश अंक	६६ (अन्तिम श्लोक रामानन्द मिश्र का बनाया हुआ है)
	४७८

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं बहुत थोड़ा गद्य भी है।

कथा अधिकतर रामायण के अनुसार है पर उसके बहुत थोड़े प्रसंग हैं।

भाव और रस रति उत्साह शृंगार और वीर प्रधान हैं।

रामगीत और महानाटक—समानताएं तथा अन्तर

समानताएं

१ दोनों में कथाखंड लगभग एक से हैं।

हृदयराम ने राम और सीता के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया और दूसरे अंक में कस्तूरी का प्रसंग दे दिया है। शेष अंकों में कथाखंड दोनों में एक जैसे हैं।

२ दोनों पद्य-बद्ध हैं।

'रामगीत' में गद्य के नाम पर कहीं कहीं रावण का वचन जैसे संकेत हो हैं, और सारी रचना पद्य में है। 'महानाटक' में बहुत थोड़ी मात्रा में स्वतन्त्र गद्य भी है।

३ दोनों में कथाखंडों को अंक कहा गया है।

रामगीत में खंड के अन्त में दी गई पुष्पिकाओं में ही इन्हें अंक कहा गया है। खंड के आरम्भ में अंक का उल्लेख नहीं है। परन्तु पहले खंड के अन्त में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है और ११८वें पद्य के बाद 'हनुमान नाटक अयोध्या कांड' शब्द लिखे हैं। तृतीय खंड के बाद 'इति तृतीयोऽङ्क', और फिर 'चतुर्थ अध्याय प्रारम्भ' लिखे हैं। चौथे खंड के अन्त में 'इति चतुर्थोऽङ्क' लिखा है।

महानाटक में प्रत्येक खंड के आरम्भ और अन्त में अंक का उल्लेख है।

४ दोनों में १४ कथाखंडों में मुख्य घटना एक ही है, जैसा कि नीचे दी गई पुष्पिकाओं से प्रकट होगा

(कोष्ठों में दोनों के कथाखंडों की पद्य-संख्या दी गई है)।

रामगीत		महानाटक	
पद्यसंख्या	पुष्पिका	पद्यसंख्या	पुष्पिका
११५	पद्य के पीछे कुछ नहीं लिखा	५८	इति श्रीहनुमन्नाटके जानकीस्वयंवरो नाम प्रथमाङ्कः
८८	इति श्रीरामगीते रामचन्द्र वियागे द्वितीयोऽङ्क	३०	इति श्रीहनुमन्नाटके राम जानकी विलासो नाम द्वितीयाऽङ्कः
१०९	इति तृतीयोऽङ्कः (इसके बाद लिखा है 'चतुर्थ अध्याय')	२७	इति श्री हनुमन्नाटके मारीचागमनो नाम ततीयाऽङ्कः
१६	इति चतुर्थोऽङ्कः	१६	इति श्रीमद्धनुमन्नाटके सीताहरण नाम चतुर्थोऽङ्कः
	इति श्रीरामगीते बालिवध पद्यांक ६४, पर वस्तुतः ८९ } पंचमोऽङ्कः	६४	इति श्री हनुमन्नाटके बालिवधो नाम पंचमाऽङ्कः
११६	इति श्रीरामगीते लंकान्हन षष्टमोऽङ्कः	४६	इति श्री हनुमन्नाटके हनुमद्विजयो नाम षष्ठोऽङ्कः
३४	इति श्रीरामगीते सिंधुसेतबंधने सप्तमोऽङ्कः	२०	इति श्री हनुमन्नाटके सेतुबंधन नाम सप्तमोऽङ्कः
११९	इति श्री रामगीते अंगदरावण संवादनामाष्टमोऽङ्कः	५८	इति श्री हनुमन्नाटकेऽङ्गदाविक्षेपण नामाष्टमाऽङ्कः
१२९	इति श्री रामगीने मन्त्र्युपदेश नाम नवमोऽङ्कः	४१	इति श्री हनुमन्नाटके मंत्रिवाक्य नाम नवमोऽङ्कः
९२	इति श्री रामगीते रावणप्रपंचनाम दशमोऽङ्कः	२४	इति श्री हनुमन्नाटके रावणप्रपंचो नाम दशमोऽङ्कः
६९	इति श्री रामगीते कुम्भकर्णवधे एकादशोऽङ्कः	४१	इति श्री हनुमन्नाटके कुम्भकर्ण वधो नामैकादशोऽङ्कः
५७	इति श्री रामगीते इन्द्रजीतवधे द्वादशोऽङ्कः	१९	इति श्री हनुमन्नाटके मेघनादवधो नाम द्वादशाऽङ्कः समाप्त
१०९	इति श्री रामगीते श्री लछमन जियाइयो नाम त्रयोदशो क समाप्त (चौपाइयां पर गिनती नहीं। ७ से १७ तक चौपाइयां का बडवक है)	३८	इति श्री हनुमन्नाटके लक्ष्मण शक्तिभेदो नाम त्रयोदशाऽङ्कः
१३३	इति श्री रामगीते श्री रामचन्द्र अजुध्याआइवो नाम चतुर्दशोऽङ्कः समाप्त	९६	इति श्री पवनतनयविरचितमिश्र दामोदर संगृहीतहनुमन्नाटके श्री रामविजयो नाम चतुर्दशोऽङ्कः समाप्त
कुल १२७५		कुल ५७८	

५ रामगीत में कितने ही पद्य महानाटक के श्लोकों के आधार पर लिखे गए हैं। रामगीत के १४ सर्गों के ऐसे पद्यों की संकेत-संख्या और उनके साथ महानाटक की श्लोक-संख्या भी नीचे दी जाती है।

रामगीत का	महानाटक का	रामगीत का	महानाटक का
१-४	१-३	७-८	७-६
१-४६	१-१२, १३	७-९	७-७
१-४७	१-१४	७-१०	७-७ ८
१-४८	१-१५	७-११	७-१५
१-५७	१-९	७-१२	७-१८
१-८१	१-३९	८-११	७-११
१-१०४ १०५	१-४८	८-१२	८-१२
१-१०९	१-४९	८-१७	७-१४
३-१०२	४-२	८-२६ २७ २८	८-२
५-३	५-३	८-४१	८-४
५-१५	५-४	८-४२	८-५
५-२४	४-९	८-४३	८-६
५-२६	४-११	८-४४	८-८ ९
५-२८	४-१२	८-५४	८-१०, ३९
५-३२ ३३	५-१६	८-६४	८-३२
५-४६	५-३४	८-६५	८-३३
५-४८ ४९	५-३५, ३६	८-६६	८-२३
५-६१, ६२	गद्य और ५-५१	८-७९	८-२८, २९
५-६६	५-५६	८-८१	८-१८
६-११	६-५	८-८७	८-११
६-१३	६-६	८-८९	८-१२
६-१४	६-६	८-९१	८-२६
६-४०	६-१४	८-९२	७-९
६-४४	६-१६	८-९३	८-९
६-८९	६-२०	८-९५	८-४१
६-९६	६-२८	८-९६	८-१६
६-१०३	६-३६	१०-१	१०-शुरू का गद्य १ से पहले
६-१०८	६-४०		
६-११०, १११	६-४२, ४४	१०-१२, १३, १४	९-गद्यतथापद्य २९
७-३, ४	७-२	१०-२८	१०-३

रामगीत का	महानाटक का	रामगीत का	महानाटक का
१०-४७	१०-६	१३-१४, १५	१३-१
१०-४८	१०-७	१३-१६ १७, १८, १९	१३-गद्य
१०-४९	१०-८		
१०-६०, ६१	१०-१८, १९	१३-२५	१३-गद्य
१०-६५	१०-२१	१३-२८	१३-२
१०-७०, ७१	१०-२२	१३-३२	१३-३
११-१०	११-गद्य	१३-३४	१३-५
११-१८	११-४ के बाद का गद्य	१३-३६	१३-गद्य
११-१९	११-५, ६	१३-३७	१३-६
११-२५	११-७	१३-३८	१३-७
११-३३	११-१४ १५	१३-३९	१३-८
११-३८	११-१९	१३-४०	१३-गद्य
११-४०	११-२१	१३-४२ ४५, ४८	१३-९ १०
११-४८	११-२३	१३-५३ ५४	१३-११
११-५१	११-२६	१३-५५	१३-गद्य
११-५४	११-२७	१३-५६, ५७	१३-गद्य
११-५५	११-२८	१३-५९	१३-१२, १६
११-५६	११-२९	१३-६५	१३-१७
११-५७	११-३१ ३२	१३-६७, ६९	१३-१८
११-५८	११-३७	१३-७० (यहा ७० गल्या गलती मे दो बार छप गई है। यह दूसरी बार वाली है)	१३-गद्य
११-६०	११-३९		
११-६१	११-३८		
११-६४	११-४१		
१२-१५	१२-२		
१२-१९	१२-३		
१२-२९	१२-४	१३-७३	१३-१९
१२- १	१२-५	१३-८५	१३-२०
१२-३२	१२-६	१३-८९	१३-२३
१२-३४	१२-७	१३-९३	१३-२५, २६
१२-४०	१२-१०	१३-९५	१३-२७
१२-४९	१२-१२	१३-९९	१३-२८
१२-५१	१२-१३, १५	१३-१०१	१३-२९
१२-५३	१२-१८	१३-१०५	१३-३७ ३८
१२-५४ ५५	१२-गद्य	१३-११०	१३-३९
१२-५६	१२-१९	१४-१, २, ३	१४-गद्य

रामगीत का	महानाटक का	रामगीत का	महानाटक का
१४–४	१४–१	१४–७८	१४–४५ से ४६ तक
१४–५	१४–२		
१४–६	१४–गद्य		
१४–७	१४–गद्य २	१४–८०	१४–५८
१४–९ १०	१४–४	१४–८१	१४–गद्य
१४–१७	१४–२१	१४–८६	१४–४६, गद्य
१४–१८	१४–२२	१४–८९	१४–गद्य
१४–१९	१४–२३	१४–९७	१४–४६ के बाद का गद्य
१४–२१	१४–२६		
१४–२८	१४–३३	१४–१०६	१४–५४
१४–५०	१४–३६	१४–११०	१४–५४ के बाद का गद्य

इस प्रकार महानाटक के कम से कम १५० पद्यों और गद्य खंडों का उपयोग रामगीत की रचना में हुआ है।

रामगीत और महानाटक में अंतर

१ रामगीत की तुलना में महानाटक बहुत छोटी रचना है।

२ रामगीत के १२७५ में से ११०० से भी अधिक पद्य महानाटक से स्वतंत्र हैं।

३ रामगीत की कथा स्थान-स्थान पर महानाटक की कथा से भिन्न है। कथा का भेद दिखाने के लिए नीचे दोनों के पहले पांच अंकों की कथा दी जाती है।

महानाटक का प्रथम अंक		रामगीत का प्रथम अंक
१—४ मंगलाचरण	१–१६	मंगल और राम कथा का माहात्म्य।
५—८ कथा का उपक्रम		
प्रतापी दशरथ के कुल में विष्णु अपने चार रूप करके चार पुत्रों के रूप में अवतरित हुए। राम बड़े थे। उन्हें कौशिक मुनि ने मांग लिया। राजा ने दुखी होकर दे दिया। लक्ष्मण साथ गए। राम ने ताड़का तथा अन्य राक्षसों को मारा, मारीच को छोड़ दिया। यज्ञ पूरा होने पर मुनि राम के साथ मिथिला गए और वहां धनुष मंडप में पहुंचे।	१७	वाल्मीकीय रामायण की अनुक्रमणिका की भांति एक पद्य में सारी रामायण की कथा।
	१८–१९	राम रूप-वर्णन।
	२०	विश्वामित्र ने दशरथ से यज्ञ रक्षार्थ राम को मांगा।
	२१–२६	विश्वामित्र-दशरथ संवाद, राम-लक्ष्मण का जाना।
९–२७ राम ने धनुष चढ़ाया और वह टूट गया।	२७–३१	ताड़का-वध
	३२–३५	सुबाहु मारीच-वध
	३६	[illegible]

२८–५५	परशुराम की पराजय।		का स्वयंवर में मिथिला आने का निमंत्रण।
५६–५८	जनकपुरी में राम सीता विवाह। अयोध्या को प्रस्थान	३७–४५	राम आदि का जनकपुरी में पहुँचना और देख सूर्यवंशी जानकर रनिवास की उत्सुकता।
		४५	जनक के प्राड्विन (पुरोहित) की स्वयंवर नियम घोषणा।
		४६–४७	रावण के दूत का कथन
		४८	जनक का उत्तर
		४९–५५	धनुष का किसीसे न उठना
		५६	लछमन की गर्वोक्ति
		५७	सीता का स्वगत कथन
		५८–६८	राम का धनुष तोड़ना जनक परिवार की प्रसन्नता
		६९–७८	परशुराम के क्रोध-वचन
		७९–१०७	राम परशुराम विवाद परशुराम का पराजय मानकर वनगमन।
		१०८–११५	राम सीता आदि का अयोध्या नगर प्रवेश।
	द्वितीय अंक		द्वितीय अंक
१–३०	राम और सीता का सुरत वर्णन	१–१५	वसिष्ठ के कहने से दशरथ का राम को राज्य देने का निश्चय और इसपर नगर निवासियों की प्रसन्नता।
		१६–२८	कैकयी का दो वर माँगना।
		२९	दशरथ को ऋषि के शाप का स्मरण आना
		३०–८८	राम का वनगमन, नगर निवासियों का शोक
	तृतीय अंक		तृतीय अंक
१–२	श्रवण मुनि के पिता के शाप का समय आने पर महान उत्पात होने लगा।	१–९	भरत को बुलाने के लिए वसिष्ठ का दूत भेजना
		१०–४६	भरत का लौटना राम को लौटाने के लिए चित्रकूट
३–४	कैकेयी ने दो वर माँगे, राजा		

ने दु ख के साथ दे दिए

५ भरत का दु ख प्रदर्शन

६ राम सीता के पैदल चलने की बात सोचकर उनपर दु ख प्रदर्शन

७ दशरथ की मृत्यु

८–१० भरत का दु ख, लक्ष्मण और सीता का राम के साथ जाना

११ भरत का नन्दिग्राम से प्रजा पालन

१२–१६ राम आदि का चित्रकूट की ओर जाना

१७–१९ भरत और सुमित्रा चित्रकूट में

२०–२१ गोदावरी तीर पर पचवटी में पर्णकुटी बनाई

२२–२३ पचवटी रामस्तुति

२४–२७ मारीच का स्वर्णमृग बनकर आना और उसका चर्म लाने के लिए सीता का कहना

चतुर्थ अंक

१–२ राम का हरिण के पीछे जाना

४–६ राम ने मृग को मारा, रावण भिक्षा मांगकर सीता को उठा ले गया।

७–१४ जटायु का रावण को रोकना पर पराजित हो जाना और रावण का सीता को लेकर भाग जाना।

१६ राम का खाली पर्णकुटी में लक्ष्मण के साथ लौटना और वहां सीता को ढूंढना।

पांचवां अंक

१–१२ राम का सीता के लिए विलाप

१३–१६ जटायु से भेंट और सीता

जाना राम का भरत को उपदेश और लौटना

४७–५५ पचवटी का जाना

५६–५९ पचवटी-वर्णन

६०–८० शूर्पणखा का लक्ष्मण के प्रति प्रेम प्रदर्शन सीता को डराना शूर्पणखा का नाक काटना, शूर्पणखा का रावण के पास पहुंचना।

८१–१०१ रावण की व्याकुलता, मन्दोदरी का उपदेश कि राम से वैर न करें।

१०२–१०९ रावण का जोगी भेष में और मारीच का कंचनमृग रूप में आना सीता का उसे पकड़ने के लिए कहना और राम का उसके पीछे जाना (अंक १ में मारीच का वध लिखा है)।

चतुर्थ अंक

१ राम ने मृग को मार लिया।

२–५ मृग का मरते समय लक्ष्मण को पुकारना, सीता के हठ पर लक्ष्मण का जाना और राम को खोजना।

६–११ रावण ने भिक्षा मांगी, सीता ने सोच विचारकर भीख देने के लिए बाहर पांव रखा कि रावण ने उसे पकड़ लिया।

१३–१६ सीता का विलाप और रावण का अपना परिचय देना तथा सीता को लेकर भाग जाना।

पांचवां अंक

१–२२ राम का विलाप

२३–२८ जटायु ...

	हरण का समाचार मिलना		और पराजय
१७–३२	राम का विलाप और किष्किंधा में प्रवेश	३०–३४	जटायु की मृत्यु और राम द्वारा दाह, हनुमान से भेंट।
३३–६८	हनुमान से भेंट सीता के आभूषण मिलना, सुग्रीव से मित्रता और बाली का वध।		

इस प्रकार, प्रत्येक खंड में कथा में बहुत कुछ भिन्नता है।

४ रामगीत प्राय एक व्यक्ति की रचना है, और उसमें कथा अधिक संगत और सूत्रबद्ध है। दूसरी ओर, महानाटक में कथा टूटी लगती है और घटनाएं एकाएक आ जाती हैं। कई जगह एक जरा में वाक्य में बड़े महत्त्वपूर्ण कथांश को पूरा कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, १ ७ और ८ में राम के विश्वामित्र के साथ जाने, ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसों को मारने और जनकपुरी में स्वयंवर मंडप में पहुंचने तक की घटनाएं समेट ली गई हैं।

५ रामगीत के जो पद्य महानाटक के पद्य या गद्य के आधार पर लिखे गए हैं, वे बहुधा उनका भाषान्तर अनुवाद नहीं हैं। अधिकतर पद्यों में संस्कृत की परछाई या प्रभाव मात्र है।

६ रामगीत का लेखक रामभक्त है, इसलिए उसने राम और सीता के शारीरिक सम्भोग का वर्णन नहीं किया। शृंगार वर्णन में भी वह असंयत नहीं होता। महानाटक में रामभक्ति का प्रदर्शन तो है, पर उसमें विद्यमान सम्भोग वर्णन रीतिकालीन हिन्दी साहित्य का स्मरण कराता है। शृंगार वर्णन भी मानवीय कोटि का है। और, राम के ईश्वरत्व का ध्यान पाठक के मन में कहीं भी नहीं आता।

७ दोनों की शैली में अन्तर है। रामगीत में 'सुनहु कथा मन लाय' कहकर श्रोताओं को जगाया गया है। महानाटक में ऐसा कहीं नहीं है।

निष्कर्ष

महानाटक और रामगीत की उपर्युक्त तुलना से यह निष्कर्ष निकलता है

१ रामगीत महानाटक का अनुवाद नहीं है।
२ इसमें महानाटक का इतना आधार भी नहीं है कि इसे 'पराश्रयी' कहा जा सके।
३ यह मौलिक काव्य रचना है, जो महानाटक पर नजर रखकर और उसका कुछ आधार लेकर लिखी गई है।

रामगीत की कविता

कविता की दृष्टि से रामगीत उत्कृष्ट कोटि की रचना है। रामायण के प्रसिद्ध कथानक के विविध प्रसंगों का कवि ने बड़ी तन्मयता से वर्णन किया है। कथा में यद्यपि मौलिक उदभावनाएं नहीं हैं, और कवि की दृष्टि अधिकतर महानाटक पर रही है। फिर भी महानाटक की कथा में उसने महत्त्वपूर्ण संशोधन किए हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण संशोधन है महानाटक के दूसरे अंक के राम सीता-सम्भोग वर्णन का सर्वथा बहिष्कार। हिरदराम ने इसके स्थान पर राम के अभिषेक की तैयारी और वनगमन का वृत्तान्त दिया है। रामभक्त होने के कारण कवि का हृदय ऐसे लज्जाजनक एकान्तोचित वर्णन करने को तैयार नहीं हुआ और उसने एक वाक्य में यह चतुराई से समाप्त कर दिया—

सारसुता त गर कहि अंत सिंगार।
कहै मति कौन हमारी ॥ २४॥

अन्यत्र भी उन्होंने आवश्यकतानुसार कथा में अन्तर किया है। उदाहरण के लिए विभीषण रावण संवाद, जो महानाटक में सातवें अंक में है हिन्दी में आठवें अंक में रखा गया है जहाँ वह अधिक उपयुक्त लगता है। इसी प्रकार अंगद के पैर जमाने का प्रसंग, जो संस्कृत में नहीं था, हिरदराम ने आठवें अंक में रख दिया है। कथानक में किए गए इन परिवर्तनों से कथा अधिक मनोरंजक और संगत हो गई है।

'रामगीत' का अंगी भाव 'भक्ति' ही मानना चाहिए। हिरदराम के राम विष्णु के अवतार हैं और उन्होंने रुद्र को भी बनाया है (६ ६४ ६ ४६)। पर, फिर भी राम वनवास में माता की दुर्दशा की कल्पना करके (२ ३०) और सीताहरण के बाद मनुष्य की तरह रोकर विलाप करते हैं। स्थान स्थान पर उत्साह भय और शोक की भी व्यंजना अच्छी की गई है।

एकाध स्थान पर कवि ने महानाटक के फेर में पड़कर कुछ असहृदयता प्रदर्शित की है। महानाटक में एक स्थान पर मन्दोदरी रावण से कहती है कि मेरी और सीता की मनोहारिता में भेद ही क्या है। इस पर रावण का कथन है

मन प्रिय परिमलस्तव भेदमाख्या
स्पर्श विदेहदुहितु सरसीरुहाणाम् ॥

अर्थात हे प्रिय, तुम्हारे शरीर में मछली की गन्ध है और विदेहपुत्री के देह में कमलों की। यह दोनों में भेद है।

इस वृत्तान्त पर कवि ने संस्कृत का जैसे का तैसा अनुवाद तो नहीं किया, पर मूल से भी कुछ बढ़ाकर वर्णन कर डाला है।

जैसे कनकाचल सो लोह, ज्यों विवेक मोह, जैसे दिन दीपत के आगे तम यामनी।
जनकसुता की देह दामनी दमक आगे तू तो लागे तैसी कारे बान्दर की कामनी॥

—१० १३

हिरदराम को पंजाब निवासी माना गया है, पर इन्होंने मध्यदेश के प्रति भी अपना श्रद्धाभाव प्रकट किया है। महानाटक के ८ २४ का स्वतन्त्र अनुवाद करते हुए ८ ९१ में इन्होंने मध्यदेश को अन्य देशों से उसी प्रकार विशिष्ट माना है, जैसे अन्य मनुष्यों से रामचन्द्र को और अन्य नदियों से गंगा को माना जाता है।

आपकी ब्रजभाषा संस्कृतनिष्ठ है और यमक अनुप्रास ध्वनि को विशेष प्रिय है। सैकड़ों पद्यों में एक एक चरण में यमक का प्रयोग किया गया है। 'हजूर' जैसे विदेशी शब्द और 'चंगी' जैसा पंजाबी शब्द भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं।

'रामगीत की अधिकतर रचना सवैया, कवित्त, छप्पय, दोहा, और सोरठा छन्दों में है। इनमें भी पहले तीन का प्रयोग ही अधिक हुआ है। हिरदराम की छन्द रचना में सफाई और स्पष्टता है, और कई मार्मिक उक्तियाँ बड़ी चतुराई से बिठाई गई हैं।

रामगीत में अनुवाद

रामगीत में जो अंश महानाटक से लिए गए हैं, उनमें से अधिकतर में संस्कृत की परछाई या कोई एक दो भाव ही लिए गए हैं और शेष रचना उसी प्रसंग को बढ़ाकर अपनी ओर से कर दी गई है। महानाटक के किसी पद्य का जैसे का तैसा और पूर्ण भाषांतर मुश्किल से ही मिलेगा। जैसे कुछ कवियों ने बिहारी के दोहों पर सवैये लगाए हैं कुछ कुछ वैसी ही रीति से हिरदराम ने महानाटक के पद्यों के भाव लेकर अपनी पद्य रचना की है।

एक उदाहरण देखिए

महानाटक में—

> द्विः शरं नाभिसंधत्ते, द्विः स्थापयति नाश्रितान।
> द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाऽभिभाषते॥
>
> —१ ४८

दोहा

> धरयो न दूजे धनुष सर सरनागति नहिं दीन।
> सुरपति हू सो रघुपती लटे मुख बान कहीं न॥
>
> —१ १०४

सवैया

> सेवक थाप न दूर कियो जिन चूक परे मुख से हँस दीनो।
> दान दियो जिनको तिन पाय न मांगवे को बहुरो मन कीनो।
> बोल कह्यो सु कह्यो न फिरयो अरु सीय विवाहि के व्याह न कीनो।
> एकहि बान हन्यो रिपुमंडल श्री रघुबीर सदा व्रत लीनो॥
>
> —१ १०५

साराश भाषा हनुमन्नाटक के नाम से प्रसिद्ध रचना न तो नाटक है, और न इसका नाम ही हनुमन्नाटक है। हिरदेराम की लिखी इस रचना का वास्तविक नाम रामगीत है जिसे कहीं कहीं रामचन्द गीत भी कहा गया है। यह मौलिक काव्य रचना है और यह एक प्राचीन संस्कृत के महानाटक या 'हनुमन्नाटक' पर रचकर लिखी गई है। कथावस्तु में भी महानाटक का अनुकरण है और पद्यों में भी उसके पद्यों की छाया मिलती है। पर कुल मिलाकर यह अनुकरण इतना थोड़ा है कि 'रामगीत' को महानाटक का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। यह रचना १६२३ ईस्वी की है। रामगीत पहले पंजाब में गुरुमुखी अक्षरों में मिला था। इस बात में रामकृष्ण वर्मा, सम्पादक, भारत जीवन काशी ने देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित कराया। इस रचना के कुछ पद्य

धाराराम कवि के बनाए हुए हैं, जो सम्भवतः हृदयराम के वंश या शिष्यों में थे।

'रामरास' की कथा रामायण और महानाटक के आधार पर है। इसकी कविता प्रौढ़ और मनोहर है और कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार प्रकट करती है। महानाटक से लिए गए अंश में उसकी परछाई मिलती है। पर यह भी संस्कृत रचना का पूर्ण भाषान्तर नहीं।

तीसरा अध्याय

आधुनिक काल (१८५०–१९००) के अनुवाद

सन १८५० स भारतीय भाषाओं के साहित्य मे एक विशेष युग का आरम्भ माना जाता है जिसे गद्यकाल कहते हैं। हिन्दी साहित्य मे इसका एक और भी महत्व है। इस काल म हिन्दी म गद्य की प्रतिष्ठा हुई और वह भी खडी बोली क गद्य की। मध्यकालीन साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा थी और मध्यकालीन साहित्य पद्य म था। आधुनिक काल म खडी बोली म गद्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी पद्य के लिए ब्रज का ही प्रयोग होता रहा। पद्य म खडी बोली की प्रतिष्ठा प्राय पचास वष बाद हो सकी।

युग की यह प्रवत्ति इस काल के सस्कृत नाटको के अनुवादो म भी मिलती है। जो अनुवाद हुए उनम मूल का गद्य तो खडी बोली मे रखा ही गया मूल पद्य के स्थान पर गद्य रचना करते हुए भी खडी बोली का ही प्रयोग किया गया। पर जब मूल पद्य के स्थान पर पद्य रखा गया तब अनुवादको ने ब्रजभाषा को अपनाया। पद्य म ब्रजभाषा क प्रयोग की प्रवत्ति मध्ययुग के आरम्भ म खुसरो की पहलियो तक मे दिखाई दती है—अनुवादो म उसकी समाप्ति ईसा की बीसवी शती की रचनाओ म ही होती है।

इस युग के बारे म यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी खडी बोली की प्रतिष्ठा के लिए वह सघष का युग था। राजशासन अग्रेजो के हाथ म था और उनके सामने यह सिद्ध करने की आवश्यकता थी कि जो हिन्दी खडी बोली बोलचाल म अधिकतर मध्यदेश म प्रयोग मे आती है, वह समथ भाषा है और उसम सुन्दर साहित्य की सृष्टि हो सकती है। इस आवश्यकता की पूर्ति अनुवादो से शीघ्र हो सकती थी। मौलिक रचना की प्रतिभा न होने पर भी सुन्दर अनुवाद किए जा सकते थे। इसी कारण, इन पचास वर्षों म किए गए अनेक अनुवादो की भूमिकाए अग्रेजी तथा हिन्दी दोनो म मिलती हैं। राजा लक्ष्मणसिंह के मेघदूत के (ब्रजभाषा पद्य) अनुवाद की भूमिका अग्रेजी मे लिखी गई थी। सीताराम भूप ने भी मृच्छकटिक तथा कुछ अन्य नाटको के अनुवादो की भूमिकाए अग्रेजी मे लिखी हैं।

यद्यपि भारतेन्दुजी का पहला अनुवाद रत्नावली, जिसका प्रस्तावना वाला अश ही प्राप्त है, १८६८ म किया गया था और उससे पाच वष पहले शाकुन्तल का राजा लक्ष्मणसिंह कृत अनुवाद, शकुन्तला नाटक, प्रकाशित हो चुका था फिर भी इस काल को भारतेन्दुकाल कहना ही उचित होगा। कारण यह कि राजा साहब न १८६३ म जो अनुवाद प्रकाशित किया था, वह सारा गद्य म था। उसके बाद स्पष्टत भारतेन्दु क गद्य-

पद्यमय अनुवाद को देखकर उन्होंने अपने अनुवाद के गद्य भाग को परिमार्जित और ठीक ठाक किया तथा मूल के पद्य के स्थान पर गद्य को हटाकर ब्रजभाषा के पद्य रखे। इस प्रकार जहां एक ओर उनके दिखाए मार्ग पर भारतेन्दुजी चले, वहीं उन्होंने भी भारतेन्दु के दिखाए मार्ग को अपनाया और यही मार्ग बाद के अनुवादकों को अच्छा लगा।

इस काल में अनुवाद के लिए नाटकों के चुनाव का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। कुल तरह नाटकों का अनुवाद हुआ, जिनमें से कई नाटकों के एक से अधिक अनुवाद हुए। अनुवादों की कुल सख्या सत्ताईस रही और प्रबोधचन्द्रोदय, अभिज्ञान शाकुन्तल तथा रत्नावली के चार-चार अनुवाद हुए उत्तररामचरित के तीन और मालती माधव, मृच्छकटिक तथा वेणीसहार के दो-दो तथा धनंजयविजय मुद्राराक्षस कर्पूरमंजरी नागानन्द, महावीरचरित तथा मालविकाग्निमित्र का एक एक अनुवाद हुआ।

अनुवादकों में राजा लक्ष्मणसिंह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और लाला सीताराम भूप मुख्य रहे। राजा लक्ष्मणसिंह ने सबसे पहले १८६३ ई० में अभिज्ञानशाकुन्तलम का सीधी सादी गद्य में अनुवाद 'शकुन्तला नाटक' नाम से प्रकाशित किया। यह युगप्रवर्तक रचना सिद्ध हुई। भारतेन्दु ने रत्नावली प्रबोधचन्द्रोदय (तृतीय अंक), धनंजयविजय, मुद्राराक्षस और कर्पूरमंजरी के अनुवाद किए। आपने संस्कृत नाटक चंडकौशिक की सामग्री का आधार लेकर सत्यहरिश्चन्द्र नाटक की रचना भी की। लाला सीताराम भूप ने मालती माधव मृच्छकटिक नागानन्द महावीरचरित उत्तररामचरित और मालविकाग्निमित्र के अनुवाद किए।

इन अनुवादकों का उद्देश्य साहित्यिक था अधिकतर पूर्ववर्ती अनुवादकों की तरह धार्मिक नहीं। इसलिए इन्होंने संस्कृत के श्रेष्ठ और विविध प्रकार के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। इनमें संस्कृत के सबसे उत्तम लेखकों—महाकवि कालिदास और भवभूति—की रचनाएं हैं मुद्राराक्षस जैसा राजनीतिक पृष्ठभूमि का नाटक है मृच्छकटिक जैसा जन-जीवन का चित्र प्रस्तुत करनेवाला प्रकरण है और कर्पूरमंजरी जैसा प्राकृत सट्टक भी है। इन अनुवादों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के गौरव-गाथा को हिन्दी में प्रस्तुत करना, काव्य की चेतना को समृद्ध करना, हिन्दी नाटक के विकास को प्रोत्साहित करना और हिन्दी गद्य का पुष्ट रूप प्रस्तुत करना था।

इन अनुवादकों ने संस्कृत नाटकों के गद्य भाग को खड़ी बोली के गद्य में और पद्य भाग को ब्रजभाषा के पद्य में अनूदित किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने भी जिन्होंने पहले सारी रचना केवल गद्य में की थी, बाद में भारतेन्दु की शैली के अनुसार अपनी रचना को गद्य पद्यमय रूप देकर प्रकाशित किया जो बहुत लोकप्रिय हुई।

अनुवाद शैली सबने भावान्तर की अपनायी। मूल नाटक का अविकल अनुवाद किया गया। कहीं-कहीं मामूली रूपान्तर मिलता है जैसे भारतेन्दु ने कर्पूरमंजरी में दव और पद्माकर के पद्य जोड़ दिए हैं।

इस युग के अनुवादकों ने अपने अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की नाटक धारा में योग देने का भी प्रयास किया। भारतेन्दु से पहले हिन्दी में मौलिक नाटकों का प्राय अभाव ही था। इसलिए इन अनुवादों का महत्व मौलिक नाटकों जैसा ही माना गया।

का कुछ आभास इस तथ्य से होगा कि इन अनुवादों के नामपृष्ठ पर अनुवादक को लेखक कहा गया है अनुवादक नहीं। इसी महत्त्व के कारण भारतेन्दु जी ने राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद को हिन्दी का दूसरा नाटक लिखा है।

भारतेन्दुकाल के अनुवादकों ने अनुवाद को मूल नाटक के अनुसार नाटक ही रखा है। नाटक खेलने के लिए नाटक में गीत आदि कई बार अपनी ओर से रखे गए हैं। पताका स्थानक आदि नाट्यविधान की विशेषताओं का ध्यान का भी प्रयत्न किया गया है। दृश्य के स्थान का संकेत किया गया है। भाषा भी सरल, तद्भव और बोलचाल के शब्दों से भरी है। वाक्य छोटे और सीधे हैं और संस्कृत के लम्बे लम्बे समासों को सरल वाक्यों का रूप दे दिया गया है। यद्यपि राजा लक्ष्मणसिंह ने पहले पद्यों का प्रयोग नहीं किया था पर उनके बाद वाले अनुवादकों ने पद्यों का अनुवाद ब्रजभाषा पद्य में ही किया। इन पद्यों में छन्दों का प्रयोग भी विविधतापूर्ण है, पर छन्द के चुनाव में, रसव्यंजना पर उनका ध्यान नहीं रहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन अनुवादों का सबसे बड़ा महत्त्व हिन्दी गद्य को प्रतिष्ठित करने के कारण है। राजा लक्ष्मणसिंह ने लेखकों के सामने शुद्ध हिन्दी गद्य का एक नमूना प्रस्तुत कर दिया, भारतेन्दु ने उसे व्यवस्थित और परिमार्जित रूप दिया और सीताराम भूप ने उसे पुष्टता प्रदान की। इस दृष्टि से ये तीनों अनुवादक हिन्दी खड़ी बोली गद्य की प्रचलित शैली के जनक कहे जा सकते हैं।

इन तीन अनुवादकों की कुछ रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा यहाँ की गई है।

राजा लक्ष्मणसिंह

अभिज्ञानशाकुन्तल (१८६३ ई०)

आधुनिक काल का प्रथम अनुवाद १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने किया था जो १८६३ में छपा। उस समय खड़ी बोली हिन्दी में साहित्य रचना के नाम पर कोई उत्कृष्ट वस्तु नहीं थी नाटक का तो कहना ही क्या। राजा साहब आप लिखते हैं 'जब मैंने पहिले शकुन्तला का हिन्दी में अनुवाद किया प्रबोधचन्द्रोदय को छोड़कर और कोई नाटक इस भाषा में न था।'[१]

शकुन्तला का अनुवाद करने का कारण बताते हुए राजा साहब ने लिखा है 'शकुन्तला की विलक्षण कविता और अति मनोहर कथा देखकर विचार किया कि महाकवि कालिदास का यह उत्तम ग्रन्थ साधारण हिन्दी बोली में उल्था हो जाए तो इस लोग बहुत आनन्द से पढ़ेंगे और इससे हिन्दी भाषा की वृद्धि में सहायता पहुँचेगी।'[१]

यह अनुवाद ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उस जमाने में हिन्दी उर्दू का विवाद जोरों पर था और भाषा शैली के विषय में एक ओर राजा शिवप्रसाद की विचारधारा चल रही थी जो हिन्दी में अरबी फारसी शब्दों को मिलाकर उसे शासकों अधिकारियों की प्रिय बनाना चाहते थे और दूसरी ओर तत्सम तद्भव प्रधान हिन्दी के

[१] १ शकुन्तला नाटक (सम्पादक श्यामसुन्दरदास बी० ए० इण्डियन प्रेस प्रयाग) के शुरू में 'राजा लक्ष्मणसिंह का जीवन चरित' १६०८।

समयक थ राजा लक्ष्मणसिंह। राजा साहब के इस अनुवाद ने हिन्दी का एक सुन्दर नमूना प्रस्तुत कर दिया। यह ऐसी हिन्दी थी जो पढ़ने और समझने म सरल, मुहावरेदार और भाव तथा वस्तु की ठीक-ठीक व्यंजना करने म समर्थ थी और साथ ही, परम्परागत साहित्य क कुछ ऐसे रूढ़िसिद्ध शब्द लिए हुए थी जो शिक्षित जनता के मन म घर कर चुके थे। इस अनुवाद को अपने भाषा-सौष्ठव के कारण इंग्लैंड और फ्रांस म भी ख्याति प्राप्ति हुई जहा हिन्दी का कुछ अध्ययन होता था। इंग्लैंड के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी पादरी फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने इस अनुवाद को इंग्लैंड म पुन छपवाकर प्रकाशित किया।

राजा साहब ने यह अनुवाद, पाच श्लोक छोड़कर, सारा गद्य म किया था। इसके अनुवाद के बाद १८६८ म १८७६ तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रत्नावली प्रबोध चन्द्रोदय के तीसरे अंक, धनञ्जयविजय मुद्राराक्षस और कर्पूरमंजरी (प्राकृत सट्टक) के अनुवाद प्रकाशित किए। और भी कुछ अनुवाद प्रकाशित हुए। १८८६ ई० में राजा साहब ने अपने अनुवाद का संशोधित और परिवर्तित संस्करण प्रकाशित किया जिसम उन्होंने मूल के अनुसार गद्य के स्थान पर गद्य और पद्य के स्थान पर पद्य दिया। उनके इस संस्करण की और भी अधिक ख्याति हुई और वह आज तक पठन पाठन म चला आता है।

१८६१ वाले अनुवाद के सम्बन्ध में राजा साहब ने दूसरे संस्करण की भूमिका म लिखा है कि उन दिनों इटावे म कोई पुस्तकालय न था इसलिए जो कहीं कुछ सन्देह मूल का पाठ का अर्थ समझने म हुआ पुस्तकों के अभाव में उसे दूर करना कठिन क्या असाध्य हो गया। तिस पर भी दुर्भाग्यवश मूल की पुस्तक (हाथ की लिखी हुई) अति जीर्ण और अशुद्ध मिली। वह पुस्तक उस पाठ की थी जो बगला पाठ कहलाता है और जिसे पंडित लोग अशुद्ध बतलाते हैं। ये सब दोष मैंने उल्था करते समय नहीं जाने, परन्तु कुछ दिन पीछे जबकि महाशय सर मोनियर विलियम्स का छपवाया हुआ शकुन्तला का शुद्ध पाठ देखने म आया। मूल के इन दोषों के कारण अनुवाद भी बहुत जगह अशुद्ध हो गया[1]

इस प्रथम अनुवाद म अनुवादक ने मूल नाटक की प्रस्तावना का अनुवाद नहीं किया था। पहले अंक म सारथी के कथन से वस्तु आरम्भ होती है। केवल पांच श्लोकों को छोड़कर और सारा अनुवाद गद्य म हुआ है। इससे पहले किसी नाटक का हिन्दी अनुवाद खड़ी बोली गद्य में नहीं हुआ था। इस प्रकार इस अनुवाद ने एक नई धारा का आरंभ किया।

यह अनुवाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय की मट्रिक परीक्षा म अनेक वर्ष तक पाठ्य पुस्तक रहा।

नाटक का नाम शकुन्तला नाटक रखा गया है, और प्रत्येक अंक के आरम्भ में अभिनय के स्थान का निर्देश 'स्थान—वन (प्रथम अंक) या 'स्थान—वन म तपस्वियों का आश्रम (तृतीय अंक) इस प्रकार किया गया है। यह निर्देश मूल नाटक म नहीं है और संस्कृत नाटक पद्धति म प्रचलित भी नहीं है।

राजा साहब अनुवाद का जो आदर्श लेकर बढ़े थे, उसकी घोषणा उन्होंने स्वय

१ वही, पृष्ठ १० ११

अपने इसी अनुवाद के गद्य पद्यमय सस्करण की भूमिका म इन शब्दा म की थी

"यह नियम रखा गया है कि अनुवाद मे मूल के आशय से कुछ न्यूनाधिक न हो जाए, अर्थात मूल के अक्षरा के अथ न तो कुछ छुटने पाव और न बाहर से नया आशय लाया जाए "

इसम कुछ भी सन्देह नही कि राजा साहब ने अपने अनुवाद म इस प्रतिज्ञा को निभाने का यत्न किया है। एक दो उदाहरण देखिए—

मूल—

सरसिजमनुविद्ध शवलेनापि रम्य,
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम ॥

—अक १ १७

अनुवाद—

कमल के फूल पर काई भी अच्छी लगती है और पूर्णचन्द्र म काली रेखा भी खुलती है। ऐसे ही इस पद्मिनी का अग वक्ल पहरने से भी मनोहर दिखाई देता है। सत्य है रूपवती को सभी सोहता है।

मूल के प्रत्यक वाक्य का अथ पूरा तरह मुहावरेदार और सरल हिन्दी वाक्यो मे रखा गया है और अपनी ओर से कोई नया अथ नही मिलाया गया। 'तन्वी' के लिए 'पद्मिनी' शब्द का प्रयोग आकषक युवती के लक्ष्य अथ म किया गया है, न कि 'पद्मिनी' के लक्षणा वाली नायिका के अथ म, यद्यपि वह दूसरा अथ भी यहा मूल स सगत है क्योकि कवि ने 'सरसिज' को ही नायिका का उपमान बनाया है।

मूल—

तव न जाने हृदय मम पुन कामो दिवापि रात्रिमपि।
निघृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यगानि ॥

—अक ३ १३

इसका पद्य म ही अनुवाद हुआ है

तो मन की जानति नही, अहो मीत सुख दन।
प मो मन को करत है मन महा बेचैन।
लाग्यो तो सो नेह रैन दिना कल ना परै।
प्रेम तपावत देह तन मन अपना दे चुकी ॥

कैसी सरल भगी से ऐसी मार्मिक उक्ति का अनुवाद हुआ है!

यद्यपि कही-कही भाषा की सरलता, वाक्यो की न्यूनायता, समास और छन्द से विहीन रचना के कारण इस अनुवाद म ओज का अभाव अवश्य अनुभव होता है, फिर भी ऐसे प्रसग बहुत थोडे हैं। साथ ही यह भी सोचना आवश्यक है कि उस समय यह रचना पढने के लिए सुनिश्चित पाठक-वग नहीं था। अल्पशिक्षित परन्तु हिन्दी और काव्य के प्रमी पाठको के लिए ही यह रचना थी। पद्य तो इस अनुवाद म पाच ही श्लोको के

अनुवाद में है। इनमें से दो हज़ार तीसरे अंक में हैं जिनमें शकुन्तला का राजा के नाम लिखा मदसा और उसी समय राजा द्वारा दिया गया उत्तर है। शेष तीन पाचवें अंक के आरम्भ में हैं जिनमें से दो वैतालिकों के स्तुतिगान हैं और तीसरा रानी हंसपदिका या हंसमती का राजा को उलहना है।

उद्धरण की भूल

इस प्रसंग में हिन्दी साहित्य के इतिहासों में उद्धत एक अवतरण के बारे में चल रही भूल के संशोधन की ओर ध्यान खींचना उचित होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि यह अनुवाद हिन्दी के इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। जिस समय १८६३ ई० में यह अनुवाद प्रकाशित हुआ था, उस समय विशुद्ध हिन्दी का कोई अच्छा साहित्यिक नमूना सामने नहीं था। इस अनुवाद के प्रकाशन से विशुद्ध हिन्दी के रूप का एक नमूना पाठकों और लेखकों के समक्ष प्रस्तुत हुआ और बाद में भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखक हिन्दी के इसी नमूने को साजकर व्यवस्थित रूप देते हुए आगे बढ़े।

श्री रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पृष्ठ ४४० पर १८६३ ई० वाले अनुवाद की भाषा की प्रशंसा करते हुए अनुवाद से निम्नलिखित उद्धरण दिया है

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी ! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो। क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।

वस्तुतः यह उद्धरण १८६३ ई० (१९१९ वि०) के अनुवाद का नहीं है, १८८९ ई० के संस्करण का है। १८६३ ई० के संस्करण में इस अनुच्छेद का यह रूप है

अनुसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी, मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। मेरे मन में आता है कि इससे कुछ पूछूँ। (प्रगट) तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझे भासती है कि तुम कोई राजकुमार हो, सो कहो कौन से राजवंश के भूषण हो और कहाँ की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो, क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन में पीड़ित किया है।'

काले टाइप में छपा अंश प्रथम अनुवाद में है पर बाद के संस्करण में नहीं है। इस प्रथम अनुवाद के उद्धरण से स्पष्ट होता है कि जहाँ तक अनुवाद या संस्कृत से हिन्दी भाषांतरण का प्रश्न है, यह प्रथम अनुवाद उतना मूलानुसारी नहीं बन पड़ा था। अन्य अनेक स्थलों पर भी यह बात लक्ष्य की जा सकती है।

वस्तुविन्यास में अंतर

पाचवें अंक के आरम्भ में वस्तुविन्यास मूल से बहुत भिन्न हो गया है। मूल में यह विदूषक और राजा के वार्तालाप से आरम्भ होता है। उस समय राजा अपनी रानी

हसपदिका का गाया हुआ एक गीत सुनता है जिसमे वह राजा को यह उलहना दे रही है कि तुम अब मुझे भूल गए। राजा विदूषक को रानी के पास समझाने के लिए भेजता है। इधर एकान्त मे राजा के मन मे गीत सुनकर कुछ अकारण व्याकुलता पैदा होती है। इतने मे कचुकी आकर अपनी वृद्धावस्था का उल्लेख करता है और राजा के पास जाकर कण्व के भेजे ऋषियो और स्त्रियो के आने का सदेश देता है। राजा के आदेश से कचुकी उनके सत्कार की व्यवस्था कराने चला जाता है और राजा प्रतीहारी वेत्रवती के साथ यज्ञशाला की ओर चलता है जहा वह ऋषियो से मिलेगा। रास्ते मे वह यह सोच रहा था कि राजा का काम बडा दुखदायी है। इतने मे नेपथ्य से वैतालिको ने राजा की प्रशसा मे दो श्लोक पढे। उनमे उत्साह अनुभव करता हुआ राजा यज्ञशाला मे पहुचता है और वहा ऋषियो से उसकी भेट होती है।

प्रस्तुत अनुवाद मे यह क्रम बडा भिन्न है। यहा आरम्भ मे "एक बडा द्वारपाल सास भरता हुआ आया"। वह पहले वृद्धावस्था के बारे मे और फिर राजा के सम्बन्ध मे कहता है। बीच मे बाहर से शब्द हुआ कि राजा से कहो कुछ आवश्यक काम है। इसके बाद वह राजा को देखता है और उसकी प्रशसा करता है। यहा 'दुष्यन्त और माढव्य कुछ सेवको समेत आए।' राजा अपने राजा होने की दु खदता की चर्चा कर रहा है कि 'दो ढाढी गाते हुए आए।" इसके बाद दुष्यन्त और माढव्य की बातचीत होती है और द्वारपाल राजा को व्यस्त देखकर बात कहने से रुक जाता है। तभी हसमती का गीत सुनाई देता है, दुष्यन्त माढव्य को रानी के पास भेजता है, द्वारपाल कण्व के भेजे ऋषियो के आने का सन्देश देता है, राजा उन ऋषियो के सत्कार की व्यवस्था करने भेज देता है और स्वय कचुकी के साथ यज्ञशाला की ओर चलता है। इतने मे द्वारपाल ऋषियो को लेकर यज्ञशाला पहुचता है।

दोनो वस्तुओ के विन्यास मे कई अन्तर हैं। एक तो मूल मे जो काम कचुकी करता है यहा द्वारपाल कर रहा है, और जो काम वहा प्रतिहारी करती है वह कचुकी कर रहा है। दूसरे, अनुवाद मे द्वारपाल सबसे पहले मच पर आया है, जबकि मूल के अनुसार राजा और माढव्य पहले मच पर आते हैं। तीसरे, मूल मे वैतालिको के गान के समय राजा अकेला है, जबकि अनुवाद मे, उस समय वहा माढव्य सेवक और द्वारपाल हैं। चौथे, कचुकी के स्थान पर द्वारपाल रखने पर, फिर अक के अन्त मे, शकुन्तला और ऋषियो से कहा सुनी के बाद दुष्यत का यह कथन दिया है, 'द्वारपालिनी, इस समय मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो रहा है। आ तू मुझे शयनस्थान की गैल बता।" "द्वारपालिनी—महाराज, इस माग आइए।'

ये सब असगतिया और वस्तुविन्यास के अन्तर १८८६ ई० के सस्करण मे नही हैं। जैसा कि राजा साहब ने दूसरे सस्करण की भूमिका मे कहा था, ये असगतिया और अन्य अनेक अनुवाद-सम्बन्धी अशुद्धिया मूल प्रति अशुद्ध होने के कारण हुई। परन्तु किसी किसी स्थान पर अनुवादक की ओर से जोडे हुए अश भी मिलते हैं जैसे छठे अक मे राजा अपने पूर्वजो के पिण्डदान की चिन्ता करता हुआ कहता है,' पुरु का वश अब तक तो फला फूला और शुद्ध रहा परन्तु अब मुझे प्राप्त होकर समाप्त हुआ, जैसे सरस्वती नदी ऐसे

भाग का हिन्दी में और पद्य भाग का ब्रजभाषा में अनुवाद हुआ है।

आमन्त्रण शब्द मूल नाटक में, विधान के अनुसार, प्रस्तावना में सूत्रधार नटी को 'आर्ये' तथा नटी सूत्रधार को 'आर्य' कहती है। अनुवाद में 'आर्ये' की जगह 'अजी' तथा 'चतुरी' का प्रयोग हुआ है और 'आर्यपुत्र' के स्थान पर 'हाजी' तथा 'अजी' से काम चलाया गया है। वस्तुतः अनुवादक 'आर्ये' तथा 'आर्यपुत्र' शब्दों का प्रयोग करता तो अनुवाद में कृत्रिमता आ जाती। उसने हिन्दी बोलनेवाले समाज में प्रचलित 'अजी' शब्द का प्रयोग करके अपनी चतुराई प्रदर्शित की है। 'चतुरी' शब्द का प्रयोग भी उचित जँचता है—यह पति पत्नी के सम्भाषण में समाज में प्रचलित न होने पर भी नाटकीय वार्तालाप में वैसा असंगत नहीं लगता।

इसी प्रकार नटी का 'हाजी' तथा 'अजी' शब्दों का प्रयोग बड़ा उचित हुआ है।

प्रथम अंक में सारथी राजा को कहीं तो संस्कृत नियमानुसार 'आयुष्मान' और कहीं उसके विपरीत 'महाराज' पुकारता है। अनुवाद में 'आयुष्मान' का प्रयोग एक बार हुआ है और मूल में छह बार। 'आयुष्मान' का प्रयोग सारथी के वृद्धत्व का सूचक था। 'महाराज' कहने से वक्ता और श्रोता का मूल सम्बन्ध कुछ विकृत हो जाता है।

राजा सारथी को 'सूत' शब्द के वाचक 'सारथी' शब्द से पुकारता है।

वैखानसों ने नायक को 'राजन' कहकर सम्बोधन किया था। उसका अनुवाद 'राजा' तथा 'क्षत्री' शब्दों में किया गया है। 'राजन' शब्द यहाँ साभिप्राय है, इससे 'रंजन' के नाते 'राजा' का अर्थ ध्वनित होता है।

शकुन्तला और उसकी सखियाँ परस्पर 'हला' 'सखि' तथा नाम लेकर सम्बोधन करती हैं। अनुवादक ने 'हला' के स्थान पर भी 'सखि' शब्द का व्यवहार किया है।

अनसूया दुष्यन्त को 'आर्य' सम्बोधन करती है। इसका अनुवाद 'महात्मा' किया गया है।

राजा प्रियंवदा को 'भद्रे' कहकर पुकारता है। अनुवादक ने यह शब्द छोड़ दिया है।

द्वितीय अंक में विदूषक राजा को 'वयस्य' कहकर पुकारता है। इसका अनुवाद 'मित्र' किया गया है।

राजा विदूषक को 'वयस्य', 'सखे' और 'मित्र' शब्दों से तथा नाम लेकर सम्बोधन करता है। इन शब्दों का अनुवाद 'मित्र' रखा गया है।

द्वारपाल राजा को 'भर्ता' कहता है। अनुवाद में 'स्वामी' और 'प्रभु' शब्दों का प्रयोग है। नाट्यविधान के अनुसार 'भर्ता' शब्द निचली श्रेणी के भृत्यों के और 'स्वामी' शब्द ऊँची श्रेणी के भृत्यों के प्रयोग के लिए नियत है।

सेनापति राजा को 'स्वामी' कहता है। अनुवाद में 'महाराज' शब्द का प्रयोग है।

करभक राजा के लिए 'भर्ता' कहता है। अनुवाद में 'देव' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'देव' शब्द भी संस्कृत में ऊँची श्रेणी के भृत्यों के प्रयोग के लिए नियत है।

तृतीय अंक में अनसूया राजा को 'वयस्य' कहकर सम्बोधन करती है। इसका

परन्तु सातवें अंक में शकुंतला का राजा को 'महाराज' कहना हमारे विचार से कुछ शोभन नहीं हुआ। दुष्यन्त उसके सामने पति के रूप में उपस्थित है। यदि 'आर्यपुत्र' न रखकर इसकी जगह 'प्राणपति' रख दिया जाता तो वह प्रसंगोचित होता, पर 'महाराज' शब्द जो सत्ता और ऐश्वर्य के प्रसंग में या अन्य पात्रों के मुख से उचित होता, पत्नी के मुख से ठीक नहीं मालूम होता। सच पूछिए तो वह व्यंग्यात्मक लगता है।

फिर भी, कुल मिलाकर अनुवादक ने आमन्त्रण शब्दों की मूल सामाजिक और वैयक्तिक भावना को पकड़कर उपयुक्त और सुबोध शब्द रखे हैं। दोनों में कहीं-कहीं जो असंगति है वह संस्कृतकालीन समाज की दृष्टि से चाहे जितने महत्त्व की हो हिन्दीकालीन समाज की दृष्टि से विशेष महत्त्व की नहीं।

रसव्यंजना

अनुवादक ने मूल रचना की ध्वनियों का पूरी तरह अनुभव करके उनका भाषान्तर किया है। भाषाशैली में कोमल शब्दों की अधिकता ने रस-व्यंजना को गहरा बनाने में योग दिया है। शृंगार रस बड़ी सुकुमार रचना की अपेक्षा करता है। राजा साहब का व्यंजना ग्रहण, शब्दचयन और रचना कौशल तीनों उच्चकोटि के हैं जिससे इनकी रचना में बड़ा मनोहर माधुर्य आ गया है।

इनकी रचना से तीन उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—तुलना की सुविधा के लिए पहले उनका संस्कृत रूप दिया गया है।

शृंगार रस

शिखरिणी

मूल— चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं।
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

—१२०

सवैया

अनुवाद— दृग चौंकत कोए चल चहुँघा अंग बारहिं बार लगावत तू।
लगि कानन गूंजत मंद कछू मनो मम की बात सुनावत तू।
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार उठावत तू।
हम सोचन जातिहि पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू॥

—१२४

यहाँ पूर्वराग विप्रलंभ शृंगाररस है। चिन्ता, विषाद और औत्सुक्य व्यभिचारी हैं। समासोक्ति के बल से, अर्थात् नायक के व्यवहार के समारोप से शृंगार रस की व्यंजना है। प्रथम वाक्य का अनुवाद सुंदर हुआ है। आलम्बन की चेष्टा और समारोपित नायक (आश्रय) का वर्णन यथावत् आया है। आलम्बन के भय तथा सात्त्विक भाव के सूचक 'वेपथुमती' शब्द का अनुवाद नहीं हो सका। यह अनुवाद की त्रुटि है जिसे न्यूनपदता

अस्त उद सिखरावत इनको। एक सग द्व तेज महन का॥
धीरज धम तजे नर नाहा। निजनिा मपनि विपतिन माही॥

यहा प्रथम वाक्य के अनुवाद म 'दिवरत' का बहुवचन अविवक्षित है। दूसरे वाक्य म मूल चित्र यह है कि आगे आग लाली और पीछे-पीछे उज्ज्वल सूयप्रभा दिखाई दे रही है। लाली और उज्ज्वल प्रभा का एक साथ फैलाव अरुणसहित कहकर प्रकट किया गया है। अरुण के आग आग चलने का अथ यहा न होने पर भी मूल चित्र की कोई विशेष क्षति नहा हुइ। तमवायक शब्द प्रकाश की चमक पर बल दता है। तीसरे वाक्य का अनुवाद करते हुए अनुवादक ने अन्तिम पंक्ति का अथ अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'धीरज धम०' आदि म अनुवादक को मानस की चौपाइ क धीरज, धरम मित्र अरु नारी। आपत काल परखिए चारा अश का ध्यान आ गया दीखता है। वस्तुत मपत्ति म धीरज और धम दिगपत धीरज न छोडने के लिए कहने म कोई सार्थकता नहीं है। यहा रूप और शाक म न फसने स तात्पय था।

कुल मिलाकर, अनुवाद मूल के प्रधान अथ के अनुरूप हुआ है।

गुण

साधारणतया अनुवादक ने भाव और रस क अनुरूप पदावली का प्रयोग किया है, विशेषत प्रसाद गुण की व्यजक पदावली का। माधुय यजक ततीय पचम वर्णाधार सयाग क लिए ब्रजभाषा म कम गुजाइश है। उसकी कमी लघु और कोमल पदावली से पूरी की गई है।

ऊपर रूपचित्रण म १ १८ के अनुवाद म प्रसाद गुणव्यजक पदावलि का उदाहरण है।

ओजव्यजक पदावलि अनुवाद म मिलनी कठिन है। मूल म कहीं-कहीं ओजव्यजक पदावलि का प्रयाग हुआ है, जस वीर रस व्यजक १ ? म। अनुवाद मे वहा भी कोमल पदावलि प्रयुक्त हुई है।

छद

नाटक म रसव्यजना मुख्य होती है और प्राण की लय और मात्रा रूप सामान्य तथा तालबद्ध चतुष्पाद छद रस यजना का सहायक होना है। शाकुतल म पच्चीस छदा का प्रयाग हुआ ह जिनम स्रग्धरा जस बडे छदा स लकर शालिनी जस छाटे छद तक शामिल हैं। कुल १६१ पद्या म आर्या (३३), अनुष्टुप और वसन्ततिलका (प्रत्यक ३०) शार्दूलविक्रीडित (२१) तथा वशस्थ (१३) को प्रमुखता मिली है। आगे की सारणी म प्रत्यक अक मे विभिन्न छदा की आवृत्ति दिखाइ गई है।

अनुवादक ने मुख्यतः दो छंदों, दोहा (१२४) और चौपाई (३१), का प्रयोग किया है। सवैया (१३) का तीसरा स्थान है। एक अनुष्टुप (५ १८) का अनुवाद गद्य में है और तीन गेयगीत हैं। इनके अतिरिक्त अन्य पद्य दोहा, छप्पय, सवैया, चौपाई, सोरठा, कुण्डलिया शिखरनी (शिखरिणी), कड़खा और घनाक्षरी इन नौ छन्दों में रखे गए हैं। इनमें से केवल एक छन्द शिखरिणी, संस्कृत का है शेष सब हिन्दी के छंद हैं। नीचे दी हुई सारिणी सं० २ में प्रत्येक अंक में विभिन्न छन्दों की आवृत्ति दिखाई गई है।

सारणी २

अंक	कुल पद्य	छंद प्रकार	दोहा	छप्पय	सवैया	चौपाई	सोरठा	गेय गीत	कुंड०	शिखरना	दोहा सो०	कड़खा	गद्य	घनाक्षरा (१०)
१	२०	६	१८	१	४	४	१	२	×	×	×	×	×	×
२	१८	४	८	×	३	५	१	×	१	×	×	×	×	×
३	२४	५	१७	×	२	×	३	×	×	२	२	×	×	×
४	२२	५	१०	×	२	८	२	×	×	१	×	×	×	×
५	३१	७	२१	१	१	४	१	१	×	×	×	१	१	×
६	३२	६	२६	×	१	२	२	×	×	१	×	×	×	१
७	३४	४	२४	×	×	८	×	×	×	१	×	×	×	१
			१२४	२	१३	३१	१०	३	१	५	२	१	१	२

अनुवाद में छन्दों की मूल जैसी विविधता न होने से दर्शक और पाठक को एकरसता अनुभव होती है और सम्पूर्ण नाटक में विद्यमान भावतरंग की अनुभूति शिथिल हो जाती है। परन्तु अनुवादक के पक्ष में यह कहना आवश्यक है कि वह रामलीला के अनुकरण पर यह नाटक खेले जाने की कल्पना कर रहा था। इसीलिए उसने तुलसी रामायण के लोकप्रिय छंदों दोहा और चौपाई, का इतना अधिक प्रयोग किया। वैसे भी मूल के आर्या छन्द के अवतरणीय का उसके ही सदृश दोहा छन्द में लाना उचित ही था। संस्कृत के बड़े छंदों का अनुवाद अनेक दोहों में किया गया है परन्तु कहीं कहीं आर्या (२ ८) का अनुवाद कुंड लिया जैसे बड़े छन्द में भी हुआ है। इसी प्रकार वसन्ततिलका (३ १८) का अनुवाद 'शिखरनी' में और शिखरिणी (१ २०, २ १० ३ ६) वसन्ततिलका (१ २३ २ ८), तथा मन्दाक्रान्ता (१ २६) का अनुवाद सवैया में हुआ है। आर्या (१ ४) मूल में गेयपद के रूप में है और उसका अनुवाद भी गेयपद के रूप में ही हुआ है। परन्तु आर्या (१ ३) मूल में गेयपद नहीं था—अनुवादक ने उसका भी गेयपद में अनुवाद किया है। इनमें से द्वितीय गेयपद नाटक की दृष्टि से गेयपद होने योग्य नहीं हैं। अनुवादक ने इन तीन गेयपदों पर राग संकेत करके इन्हें गेयपद बनाया है।

को खडी बोली हिन्दी के गद्य का जनक कहना उचित होगा।

नाटकों का अनुवाद करने के लिए अनुवादक में चार गुण अनिवार्य हैं १ मूल भाषा के साहित्य की ममज्ञता, २ अनुवाद भाषा की प्रकृति की परख और रचना का अभ्यास, ३ अनुवाद भाषा की साहित्यिक परम्परा से घनिष्ठ परिचय तथा ४ नाटकीय अपेक्षाओं का व्यावहारिक ज्ञान। भारतेन्दु में ये चारों गुण प्रचुर मात्रा में दिखाई देते हैं।

जहा तक संस्कृत साहित्य की ममज्ञता का प्रश्न है उन्होंने इसका गहरा अध्ययन किया था। संस्कृत नाटक के विधिविधान का भी सूक्ष्म अध्ययन मनन उन्होंने किया था, जैसा कि उनके नाटक शीर्षक निबन्ध से स्पष्ट होता है। भारतेन्दु की रचनाओं में कहीं कहीं संस्कृत भाषा के ज्ञान की त्रुटियां अवश्य मिलती हैं पर इनका कारण असावधानी और जल्दबाज़ी प्रतीत होता है। किन्तु इससे उनकी साहित्यिक ममज्ञता की विशेष हानि नहीं होती।

हिन्दी भाषा का जैसा सहज स्वाभाविक प्रवाह इनकी रचनाओं में मिलता है उससे पता चलता है कि हिन्दी भाषा की प्रकृति इनके आगे बिलकुल स्पष्ट थी। इनके अनुवादों में कहीं कृत्रिम भाषा पदाग्रह या काष्ठत्व नहीं मिलता। अनुवाद पढने पर मौलिक रचना पढने का आनन्द आता है। न तो मूल के संस्कृत शब्द इनकी रचना का पण्डिताऊ बनाते दिखाई देते हैं और न गवारू शब्द उसकी शोभा बिगाड रहे हैं। इनके अनुवाद इसीलिए हिन्दी की साहित्यिक परम्परा का अखण्ड भाग बन गए हैं और वे अन्य भाषा से अनूदित रचना नहीं लगते।

गद्य-लेखन और विशेषत पद्य रचना का इनका अभ्यास बहुत उच्चकोटि का था। इनके पद्य श्रेष्ठ मध्यकालीन कवियों के रचना-नैपुण्य की बराबरी में रखे जा सकते हैं। कृत्रिम तुकों, दूरान्वयदोष और कठिन अप्रचलित या तोडे मरोडे शब्दों का इनका रचना में प्राय अभाव है। इनकी कहने की भगी की सरलता और स्वाभाविकता रचना को विशेष आकर्षक बना देती हैं। दोहा सवैया आदि हिन्दी के प्रचलित छन्दों के साथ साथ इन्होंने अन्य नये प्रसगोचित छन्दों का भी कुशलता और विवेक से प्रयोग किया है।

भारतेन्दु की सबसे बडी विशेषता और देन इनका नाट्यबोध है। सच पूछिए तो भारतेन्दु जितने अच्छे कवि थे उतने ही अच्छे नाटकमर्मज्ञ भी थे। इन्होंने नाटकों के ही अनुवाद किए। इन अनुवादों को मौलिक नाटक का रूप देने के लिए इन्होंने अनुवाद में भी कुछ स्वतन्त्रता से काम लिया, पर सबसे बडी बात यह की कि सरल भाषा शैली, नाटकोचित सवाद रसानुकूल छन्द और प्रसगोपयोगी गीतों की योजना करके इन्होंने अनूदित नाटक को बिलकुल मौलिक नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। इनके लिए संस्कृत नाटकों का अनुवाद अपने संस्कृत साहित्य के ज्ञान का प्रदर्शन मात्र न था। इनका मुख्य लक्ष्य हिन्दी में नाटक रचनाए प्रस्तुत करना था। इसके लिए इन्होंने जहा एक ओर मौलिक नाटक लिखे, वहा दूसरी ओर संस्कृत और बगला से अनुवाद करके भी हिन्दी भाषी समाज को समयोपयोगी और सुन्दर नाटक भेंट किए। अपने नाटक प्रेम के ही कारण इन्होंने संस्कृत चण्डकौशिक के आधार पर, उसका शृगारिक अंश छोडकर, एक नये 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक की रचना की, जिसका अभिनय बहुत लोकप्रिय हुआ।

उनका वत्तान्त हम लोगों ने बहुत लोगों के मुह से सुना है पर अब तक उसकी लीला नहीं देखी।'

पद्यभाग व्रजभाषा में है। व्रजभाषा ही उस समय कविता की भाषा थी। प्रतीत होता है कि राजा लक्ष्मणसिंह के शाकुन्तल के अनुवाद को देखकर, जिसकी भारतेन्दु ने बड़ी प्रशंसा की है, उनके नाटक प्रेमी हृदय में यह बात उठी होगी कि पद्य का अनुवाद पद्य में करने पर ही नाटकीय सौन्दर्य की रक्षा हो सकती है। पद्य में उस समय तक खड़ी बोली का चलन नहीं था, इसलिए उन्होंने मूल के पद्यों का अनुवाद व्रजभाषा के पद्यों में किया।

मूल का भाषान्तर करते हुए भारतेन्दु ने मूल के सम्पूर्ण अर्थ को यथावत रखने का पूरा यत्न किया है। एक उदाहरण देखिए—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ।।

—रत्नावली १ ६

इसका अनुवाद यह है

जो विधिना अनुकूल तो दीपन सो सब लाय।
सागर मधि दिग अन्त सो तुरतहि देत मिलाय ।।

परन्तु अनुवाद में कहीं कहीं असावधानी भी दिखाई देती है जैसे सूत्रधार का नटी से यह कथन नेपथ्य गृह्यता अनुवाद में नेपथ्य के सब साजो को सभालो हो गया है—मूल का अर्थ था नाटक के लिए पात्रोचित वेष धारण करो।' इसी प्रकार प्रस्तावना के बाद यौगंधरायण का दूसरा वाक्य आठ पंक्तियों में है। अभिनय की दृष्टि से इतना लम्बा वाक्य प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

इस अनुवाद की भाषा की सशक्तता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसमें कहीं कहीं 'आइये' जैसे पुराने प्रयोग होने पर भी, भाषा का यही रूप परिमार्जित माना गया और पहले हिन्दी गद्य में तथा पीछे पद्य में भी स्वीकृत हुआ।

संक्षेप में, भारतेन्दु का यह अनुवाद अनुवाद की अपेक्षा, भाषा की दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजा लक्ष्मणसिंह वाली भाषा शैली और वाक्यों का परिमार्जित रूप सामने आता है, जो बाद में सर्वत्र अपनाया गया। इसमें अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं है, परन्तु स्थानबद्ध देशज शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग है। ऐसे तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है जो पढे लिखे लोग शिष्ट बातचीत में बरतते थे और भाषा को पंडिताऊ नहीं बनने दिया गया है। नाटक के चुनाव की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने राजा साहब की तरह संस्कृत के एक श्रेष्ठ नाटक पर ही हाथ लगाया। यद्यपि इसकी प्रामाणिक पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं होती, पर जो अंश प्राप्त है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने कसी भाषा चलाई जो सबके लिए अनुकरणीय बनी।

पाखण्डविडम्बन (१८७२)

यह रचना संस्कृत प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अंक का अनुवाद है। 'प्रबोधचन्द्रो-

दर्प' के साथ पहले अनुवादों का पूर्व भारतेन्दु काल में विवरण दिया जा चुका है। वहाँ इन समस्त नाटकों के अनुवाद की मूल प्रेरणा धार्मिक रही थी। भारतेन्दु ने सारे नाटक का अनुवाद न करके इसके केवल तीसरे अंक का अनुवाद किया है। यों तो इस मूल नाटक में विष्णुभक्ति की स्थापना की गई है इसलिए भारतेन्दु जैसे भक्त वैष्णव के लिए सारे नाटक का अनुवाद करना ही उचित होता। ऐसा न करके केवल तीसरे अंक का अनुवाद करने से यह प्रतीत होता है कि इसके अनुवाद की मूल प्रेरणा सामाजिक थी।

आर्यसमाज के प्रचार का तो यह युग था ही। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द के जीवन चरित्र में यह प्रसंग आता है कि उन्होंने १८६७ ई० में कुम्भ मेले पर हरिद्वार में एक 'पाखंड खंडिनी पताका' गाड़कर अपना प्रचार किया था। महर्षि की प्रसिद्ध रचना 'सत्यार्थप्रकाश' के ११वें समुल्लास में भारत में प्रचलित अनेक सम्प्रदायों और मतमतान्तरों के पाखंडों का खंडन मिलता है। प्रबोधचन्द्रोदय के तीसरे अंक में भी विभिन्न मतों के पाखंड अथवा बाह्याडम्बरों की भर्त्सना दिखाई गई है। सामाजिक सुधार के उत्साह में भरे उस युग में समाज पर छाए हुए धार्मिक पाखंडों का उपहास करना भारतेन्दु को उचित और आवश्यक लगा होगा। इस रचना के नामकरण 'पाखंड विडम्बन' से भी यही ध्वनि निकलती है।

परन्तु भारतेन्दु को अमुक मत या किसी मत का खंडन या निन्दा करना पसन्द न था। इसलिए उन्होंने भूमिका रूप में एक समर्पण लिखकर यह स्पष्ट किया कि "यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह अनुवाद किया है। क्योंकि मत तुम्हारा है, इस नाते तो सभी अच्छे हैं और तुमसे किसी से सम्बन्ध नहीं इस नाते सभी बुरे हैं। उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ईश्वर को विभिन्न रूपों में मानना बुरा नहीं, परन्तु केवल ऊपर दिखावा होना और ईश्वर पर श्रद्धा का जीवन और आचरण में न होना बुरा है, और यह पाखंड सभी धर्मों में प्रधान दिखाई देता है।

इस अंक की कथा संक्षेप में यह है — शान्ति अपनी सखी करुणा के साथ अपनी माता श्रद्धा की खोज में घूम रही है। सामने से एक दिगम्बर (जैन) साधु को देखकर शान्ति कहती है कि यह महामोह का भेजा हुआ दिगम्बर सिद्धान्त है। इसी दिगम्बर सिद्धान्त का सा वेष बनाए वहाँ श्रद्धा आती है—श्रद्धा का यह रूप देखकर शान्ति मूर्च्छा खाकर गिर जाती है। करुणा उसे बताती है कि पाखंडियों की भी तमोगुण की बेटी श्रद्धा है। यह तो तमोगुनी श्रद्धा है। इतने में भिक्षु के रूप में बुद्धागम (अर्थात् बौद्ध मत) आता है और उसके पास भी भिक्षुक वेष में तमोगुनी श्रद्धा आती है। ये दोनों पुरुष, जो अशिक्षित हैं, आपस में बहस करने लगते हैं।

इसके बाद कापालिक वेष में सोमसिद्धान्त आता है। जैन और बौद्ध के साथ उसका शास्त्रीय विवाद होता है, तो कापालिक मन में कहता है — अरे इनके चित्त में तनिक भी श्रद्धा नहीं है।" रजोगुणी श्रद्धा को बुलाकर वह उस बौद्ध भिक्षु से आलिंगन करने के लिए कहता है। भिक्षु उसके आलिंगन में बड़ा सुख अनुभव करता है और कहता है कि मैंने आज तक कितनी ही स्त्रियों का गाढ़ आलिंगन किया है, पर इतना सुख कभी नहीं मिला। इसके बाद यह कापालिकी दिगम्बर (जैन) साधु को आलिंगन में लपटती

उनका वृत्तांत हम लोगों ने बहुत लोगों के मुंह से सुना है पर अब तक उनकी लीला नहीं देखी।

पद्यभाग ब्रजभाषा में है। ब्रजभाषा ही उस समय कविता की भाषा थी। प्रतीत होता है कि राजा लक्ष्मणसिंह के शाकुंतल के अनुवाद को देखकर, जिसकी भारतेंदु ने बड़ी प्रशंसा की है उनके नाट्य प्रेमी हृदय में यह बात उठी होगी कि पद्य का अनुवाद पद्य में करने पर ही नाटकीय सौंदर्य की रक्षा हो सकती है। पद्य में उस समय तक खड़ी बोली का चलन नहीं था, इसलिए उन्होंने मूल के पद्यों का अनुवाद ब्रजभाषा के पद्यों में किया।

मूल का भाषांतर करते हुए भारतेंदु ने मूल के सम्पूर्ण अर्थ को यथावत रखने का पूरा यत्न किया है। एक उदाहरण देखिए—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥

—रत्नावली, १ ६

इसका अनुवाद यह है

जो विधिना अनुकूल तो दीपन सों सब लाय।
सागर मधि दिग अंत सों तुरतहि देत मिलाय॥

परन्तु अनुवाद में कहीं कहीं असावधानी भी दिखाई देती है जैसे सूत्रधार का नटी से यह कथन नेपथ्य गृह्यताम् अनुवाद में नेपथ्य के सब सामानों को सभाला हो गया है—मूल का अर्थ था 'नाटक के लिए पात्रोचित वेष धारण करो'। इसी प्रकार प्रस्तावना के बाद यौगंधरायण का दूसरा वाक्य आठ पंक्तियों में है। अभिनय की दृष्टि से इतना लम्बा वाक्य प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

इस अनुवाद की भाषा की सरसता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसमें कहीं कहीं 'आइया' जैसे पुराने प्रयोग होने पर भी भाषा का यही रूप परिमार्जित माना गया, और पहले हिंदी गद्य में तथा पीछे पद्य में भी स्वीकृत हुआ।

संक्षेप में भारतेंदु का यह अनुवाद अनुवाद की अपेक्षा, भाषा की दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजा लक्ष्मणसिंह वाली भाषा शैली और वाक्यों का परिमार्जित रूप सामने आता है जो बाद में सबने अपनाया गया। इसमें अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं है परन्तु स्थानबद्ध देशज शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग है। ऐसे तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है जो पढ़े लिखे लोग शिष्ट बातचीत में बरतते थे और भाषा को पंडिताऊ नहीं बनने दिया गया है। नाटक के चुनाव की दृष्टि से भी भारतेंदु ने राजा साहब की तरह संस्कृत के एक श्रेष्ठ नाटक को ही हाथ लगाया। यद्यपि इसकी प्रामाणिक पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं होती पर जो अंश प्राप्त है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु ने कैसी भाषा चलाई जो सबके लिए अनुकरणीय बनी।

पाखंडविडम्बन (१८७२)

यह रचना संस्कृत प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अंक का अनुवाद है। प्रबोधचन्द्रो

दर्श' में मान पहले अनुवाद था पूर्व भारतेन्दु काल में विवरण किया जा चुका है। यहां इस संस्कृत नाटक के अनुवाद की मूल प्रेरणा धार्मिक रही थी। भारतेन्दु ने सारे नाटक का अनुवाद न करके केवल तीसरे अंक का अनुवाद किया है। वैसे तो इस मूल नाटक में विष्णुभक्ति की स्थापना की गई है इसलिए भारतेन्दु जैसे भक्त वैष्णव के लिए सारे नाटक का अनुवाद करना ही उचित होता। ऐसा न करके केवल तीसरे अंक का अनुवाद करने से यह प्रतीत होता है कि इसके अनुवाद की मूल प्रेरणा सामाजिक थी।

आर्यसमाज के प्रचार का यह युग था ही। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द के जीवन चरित में यह प्रसंग आता है कि उन्होंने १८६७ ई० में कुम्भ मेले पर हरिद्वार में एक 'पाखंड खंडिनी पताका' गाड़कर अपना प्रचार किया था। महर्षि की प्रसिद्ध रचना सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में भारत में प्रचलित अनेक सम्प्रदायों और मतमतान्तरों के पाखंडों का खंडन मिलता है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तीसरे अंक में भी विभिन्न मतों के पाखंड अर्थात् बाहरी दिखावे की त्रुटियां दिखाई गई हैं। सामाजिक सुधार के उत्साह से भरे उस युग में समाज पर छाए हुए धार्मिक पाखंडों का उपहास करना भारतेन्दु को उचित और आवश्यक लगा होगा। इस रचना के नामकरण 'पाखंड विडम्बन' में भी यही ध्वनि निकलती है।

परन्तु भारतेन्दु के भावुक मन को किसी मत का खंडन या निन्दा करना पसंद न था। इसलिए उन्होंने भूमिका रूप में एक समर्पण लिखकर यह स्पष्ट किया कि "यह नाना न समझना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह अनुवाद किया है। क्योंकि सब तुम्हारा है, इस नाते तो सभी अच्छा है, और तुमसे किसीसे सम्बन्ध नहीं, इस नाते सभी बुरे हैं।' उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ईश्वर को विभिन्न रूपों में मानना बुरा नहीं, परन्तु केवल ऊपर दिखावा होना और ईश्वर पर श्रद्धा का जीवन और आचरण में न होना बुरा है और यह पाखंड सभी धर्मों में प्रधान दिखाई देता है।

इस अंक की कथा संक्षेप में यह है शान्ति अपनी सखी करुणा के साथ अपनी माता श्रद्धा की खोज में घूम रही है। सामने से एक दिगम्बर (जैन) साधु को देखकर शान्ति कहती है कि यह महामोह का भेजा हुआ दिगम्बर सिद्धान्त है। इसी दिगम्बर सिद्धान्त का सा वेष बनाए वहां श्रद्धा आती है—श्रद्धा का यह रूप देखकर शान्ति मूर्छा खाकर गिर जाती है। करुणा उसे बताती है कि 'पाखंडियों की भी तमोगुण की बेटी श्रद्धा है। यह तो तमोगुनी श्रद्धा है। इतने में भिक्षु के रूप में बुद्धागम (अर्थात् बौद्ध मत) आता है और उसके पास भी भिक्षुक वेष में तमोगुनी श्रद्धा आती है। ये दोनों पुरुष जो अशिक्षित हैं आपस में बहस करने लगते हैं।

इसके बाद कापालिक वेष में सोमसिद्धान्त आता है। जैन और बौद्ध के साथ उसका शास्त्रीय विवाद होता है तो कापालिक मन में कहता है, "अरे इनके चित्त में तनिक भी श्रद्धा नहीं है। रजोगुणी श्रद्धा को बुलाकर वह उस बौद्ध भिक्षु से आलिंगन करने के लिए कहता है। भिक्षु उसके आलिंगन से बड़ा सुख अनुभव करता है और कहता है कि मैंने आज तक कितनी ही स्त्रियों का गाढ़ आलिंगन किया है, पर इतना सुख कभी नहीं मिला। इसके बाद यह कापालिनी दिगम्बर (जैन) साधु को आलिंगन में लपेटती

है जिसपर प्रसन्न होकर वह कहता है 'अरी सुन्दरी, एक बार तो फेर गर सू लपटि जा।' इसके बाद बौद्ध और दिगम्बर कापालिक के साथ कापालिकी का जूठी मदिरा पीकर मस्त होते हैं और चारों नाचते हैं। अन्त में दिगम्बर कुछ स्वस्थ होकर कहता है "हम सब महामोह के किंकर है।" वह यह भी बताता है कि श्रद्धा अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा 'कृष्णभक्ति के संग वह बसत साधुचित माहिं' तथा धर्म भी कामदेव के डर से भागकर साधुओं के चित्तों में ही रहने लगा है।

ये चारों पाखंडी धर्म और श्रद्धा को पकड़ने चलते हैं और शान्ति तथा करुणा यह समाचार देने के लिए विष्णुभक्ति के पास रवाना होती हैं।

यह अनुवाद कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसके सामाजिक महत्त्व का उल्लेख ऊपर हो चुका है। नाटक की दृष्टि से इसमें भारतेन्दु ने प्रवृत्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में आवन्ती, मागधी आदि कुछ प्रवृत्तियाँ बताई हैं जिनका अभिप्राय है देश, पात्र आदि की लोक में दिखलाई देनेवाली विशेषताएँ। उदाहरण के लिए इसमें दिगम्बर की भाषा राजस्थानी रखी गई है और बौद्ध की भाषा तोतली रखी गई है। हमारे विचार में इनमें से प्रथम का कारण यह है कि जैन साधु राजस्थान में अधिक प्रबल थे। उनका स्वाभाविक रूप अभिनय में लाने के लिए यहाँ जैन दिगम्बर की उक्तियों का अनुवाद राजस्थानी में किया गया है। मूल में ये उक्तियाँ प्राकृत में थीं। बौद्ध भिक्षु की उक्तियाँ तोतली भाषा में रखने का प्रयोजन उसे उपहास्य बनाना प्रतीत होता है। आगे राजसी श्रद्धा या कापालिकी के आलिंगन से उसके रोमांचित होने आदि का प्रसंग शृंगार या शृंगाराभास का नहीं, हास्य रस का है। शृंगारानुकृतिर्हास्यम् नाट्यशास्त्रकार ने ऐसे ही अनुकरण के लिए लिखा है—दर्शक के लिए वह प्रसंग हास्यकर ही है।

इस अनुवाद में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बौद्ध भिक्षु सामान्यतया तोतला बोलता हुआ भी पद्य में हिन्दी (ब्रज) का आश्रय लेता है। यह उसी प्रकार की योजना है जैसी संस्कृत नाटकों में उत्तम स्त्रियों की उक्तियों के लिए की जाती है—वे सामान्यतया प्राकृत बोलते हुए भी प्रयोजनवशात् संस्कृत का आश्रय ले लेती हैं।

प्रवृत्ति के अनुरूप भाषा-शैलियों की यह योजना हिन्दी में लाना भारतेन्दुजी की अपनी सूझ है और इसका निर्वाह उन्होंने बड़ी सुन्दर रीति से किया है। इस योजना का उद्देश्य वाचिक अभिनय को सर्वथा स्वाभाविक और लोकानुसारी बनाना है। परन्तु इसमें ध्यान देने की बात यह होती है कि जिन भाषा-शैलियों में संवादों की उक्तियाँ कही जाएँ वे सब दर्शकों की समझ में आ सकें—यदि उक्तियों का समझ में आना अभीष्ट न हो, यदि किसी अज्ञता या पागलपन आदि सूचित करने के लिए, तो बात अलग है। परन्तु जो लोग हिन्दी नाटकों या उपन्यासों में अंग्रेजीदाँ बाबू के चित्रण में लम्बे-लम्बे अंग्रेजी वाक्य रख देते हैं और उनका हिन्दी अर्थ अभिनय के समय स्पष्ट करने का कोई उपाय नहीं होता वे नाट्यशास्त्र के प्रवृत्ति नामक नाटकीय तत्त्व का अर्थ बहुत गलत समझते हैं। इस योजना की सार्थकता और सौन्दर्य तब ही है जब दर्शकों की समझ में आने वाली और पात्रों की देशकालादिगत प्रवृत्ति को प्रदर्शित करनेवाली वह भाषा-शैलियाँ

प्रयोग में आए।

अनुवाद करते हुए भारतेन्दु ने श्लोक के सम्पूर्ण अर्थ को लेकर उसे अपने शब्दों में इस प्रकार रखा है कि वह मौलिक रचना मालूम होता है। उदाहरण के लिए

मूल—

भिक्षु—आवासाः शयनं मनोऽनुगमनिद्रायानुरूपा वणिङ्-
नार्यो बाह्यकराभिमर्षणमनःशय्या मसूरस्तरा।
श्रद्धापूर्वमुपासिता युवतिभिः कल्पाक्षमालाव
शीतांशुरिति विनयास्मामस्मीक्षवता रायय ॥

—अंक ३

इसका अनुवाद देखिए—बौद्ध भिक्षु (नागरी भाषा में)

रहन को मिला घर छुन्दरहु अनु भोगन को मिली छन्दन नारी।
सन्ध्य रानन भोजन को मिल, छन के रतए छज छगारी।
वें छाधा जुवती छर अगन लाजार तन पूजन रुयाली।
द गल म वद्या छग छा इमि वातर है नित रान उजारी॥

गद्य के अनुवाद में भारतेन्दु ने वैसी ही सरल और मुहावरेदार गद्य शैली का प्रयोग किया है जैसा रत्नावली में थी और अनेक स्थलों पर मूल का अर्थ लेकर स्वतन्त्र रूप से रचना की है। उदाहरण के लिए

करुणा—सखि, इधर देख यह शरीर में कीचड़ लगाकर अपने को मैला-कुचला बनाए नोचे-खसोटे बाल नंगा घिनौना गाड़े मैल दाँत माड़ी भयावनी सूरत राक्षस की मूरत हाथ मे झाड़ू का एक मोरछल लिए इधरी चला आता है।

इसका संस्कृत रूप यह है

'सखि, पश्य पश्य। य एष गलन्मलपिच्छिलबीभत्सदुष्प्रेक्ष्यच्छविः।
उल्लुञ्चितचिकुरमुक्तवसनदुर्दर्शनः शिखिशिखण्डपिच्छिकाहस्त इत एवाभिवर्तते॥

—श्लोक ४ के बाद

अनुवाद की सरलता बनाए रखने में छन्दों की विविधता भी सहायक हुई है। विविध छन्दों का प्रयोग करते हुए अनुवादक ने यह यत्न किया है कि एक ही छन्द साथ-साथ न आ सके। इससे रचना के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है और एकरसता नहीं आने पाई है। छन्दों के औचित्य का भी ध्यान रखा गया है। कापालिक के कथन का ओजव्यंजक स्रग्विणी (चार रगण ऽ।ऽ), और भुजंगप्रयात (चार यगण ।ऽऽ) में अनुवाद हुआ है और दिगम्बर के धर्मनिरूपण में दोहे का प्रयोग हुआ है।

मूल अर्थ को ठीक-ठीक समझने की दृष्टि से देखें तो भारतेन्दु के किए संस्कृत नाटकों के अनुवादों में बहुत स्थलों पर दुर्बलता दिखाई देती है। अनेक अनूदित वाक्य प्रसंग में असम्बद्ध और अशुद्ध हैं। पाखण्डविडम्बन में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जो प्रसंग में उचित नहीं होते क्योंकि संस्कृत भाषा के अर्थ को ठीक नहीं समझा गया। उदाहरण के लिए, अंक के आरम्भ में शान्ति अपनी माता श्रद्धा को खोजती हुई यह आशंका प्रकट करती है कि वह जीवित नहीं है। फिर इसे निश्चयात्मक रूप में कहती है—अथवाल

जीवितसंभावनया, अर्थात् श्रद्धा के जीवित होने की संभावना नहीं। इसका अनुवाद हुआ है—"अब मैं जी के क्या करूंगी?" इसके दो-तीन वाक्य बाद वह अपनी सखी से कहती है— तत्सखि करणे, मदर्थं चितामारचय—हे सखि करणे, मेरे लिए चिता बना दे। इस वाक्य का अनुवाद इस प्रकार हुआ है 'मेरा सोच मत कर'। प्रतीत होता है कि मदर्थं चिंता मा रचय जैसा अशुद्ध वाक्य मूल मानकर अनुवाद कर डाला गया है। इस प्रकार की अशुद्धियों का एक कारण यह हो सकता है कि संस्कृत की मूल प्रति अच्छी न हो। पर इस संभावित कारण से अनुवाद में विद्यमान अन्य दसियों अशुद्धियों का समाधान नहीं हो सकता।

अनुवाद में एक और त्रुटि यह है कि अनेक स्थलों पर मूल का वाच्य अर्थ अनुवाद में पूरा नहीं आया। उदाहरण के लिए मूल में श्लोक संख्या ८ (सर्वं क्षणं क्षयिण०) में बौद्ध धर्म का क्षणिकत्व आदि सिद्धान्त विस्तार से वर्णित था। अनुवाद में उसका बड़ा ही अस्पष्ट रूप आया है। 'पशुपाशसमुच्छेदकारण' में कापालिक धर्म के सिद्धान्त का जो उल्लेख था, वह 'इन दोनों का पशुत्व अब भी नहीं गया' में स्पष्ट नहीं होता। यह 'भिन्नावधारण' दोष है। इसी प्रकार जहां सुराया सौंदर्य का भाषान्तर कहीं दुदल दुधिया है ठीक नहीं प्रतीत होता। सुंदर सुरा लाल या श्वेत अर्थात् पानी की तरह नीरंग कही जा सकती है दूधिया यानी दूध के रंग की नहीं।

परन्तु कुल मिलाकर, भारतेन्दु का अनुवाद मूल नाटक खंड का पूरा रस देता है। दिगम्बर की प्रवृत्ति-सूचक, तथा भिक्षु की हास्य-जनक वचन शैली में रचना में इतनी स्वाभाविकता और सजीवता आ गई है कि भाषान्तरण के ये दोष दब गए हैं और पाठक पर रचना का अपेक्षित प्रभाव पूरी तरह पड़ता है।

धनंजय-विजय (१८७३)

संस्कृत के 'धनंजय विजय' व्यायोग का रचनाकाल संदिग्ध है। प्रस्तावना के अनुसार इसके लेखक काञ्चनाचार्य थे, जो प्रसिद्ध 'वागीश्वर अर्थात् शास्त्रार्थ महारथी नारायण उपाध्याय के पुत्र थे। इनका कुल कविमुनि का कुल कहलाता था। भारतेन्दु ने इसका १५३७ वि० की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया है, जिससे यह पता चलता है कि काञ्चनाचार्य १५वीं शती इस्वी में हो चुके थे।

श्री ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि भारतेन्दु के हिन्दी अनुवाद से पहले इस व्यायोग का एक अनुवाद पं० छन्नूलाल ने कश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह के आदेश से किया था। यह अनुवाद सं० १९३२ में लीथो में प्रकाशित हुआ जिसमें मूल पद्यानुवाद तथा गद्यानुवाद वार्तिक सभी सम्मिलित हैं। इसकी भाषा अत्यन्त भ्रष्ट तथा पद्य शिथिल है। स्यात् अनुवाद के कारण हुई मूल की इस दुर्दशा को देखकर ही भारतेन्दुजी ने इसका दूसरा अनुवाद तैयार किया होगा।

—भारतेन्दु नाटकावली, भाग १, द्वितीय संस्करण, भूमिका पृष्ठ २६

भारतेन्दु का अनुवाद पहले पहल 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' में सन् १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

इस व्यायोग का इतिवृत्त महाभारत के विराटपर्व से लिया गया है। जुए में हार जाने पर पांडवों को बारह वर्ष वन में रहना था और एक वर्ष अज्ञातवास करना था। अज्ञातवास में वे मत्स्य देश के राजा विराट के यहाँ रहे। वहाँ विराट के साले कीचक ने द्रौपदी से दुर्व्यवहार करना चाहा, जिस पर भीम ने उसे अंधेरे में मार डाला। इस पर त्रिगतराज सुशर्मा ने मत्स्यराज्य पर आक्रमण किया जिसके मुकाबले के लिए राजा विराट सेना लेकर आगे बढ़े। राजधानी में सैनिक शक्ति का अभाव देखकर कौरवों ने दूसरी ओर से आक्रमण कर दिया और राजा विराट की साठ हजार गौएँ भगाकर ले गए। उस समय राजधानी में केवल विराट का पुत्र कुमार उत्तर था। अंततः अर्जुन ने उत्तर को सारथी बनाकर कौरवों को हराया और विराट की गौएँ वापस लीं। राजा विराट ने पांडवों का बड़ा सम्मान किया और अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से करने का प्रस्ताव रखा जिसे अर्जुन ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। मूल कथा महाभारत के विराटपर्व में बहत्तर अध्यायों में वर्णित है।

यह रचना व्यायोग है। व्यायोग रूपक के उस भेद को कहते हैं जिसमें स्त्रीपात्र नहीं होते, कथावस्तु ऐतिहासिक होती है, युद्ध का निदर्शन होता है, एक दिन की कथा होती है और नायक कोई अवतार या वीर होता है। 'धनंजय विजय' पर ये सब बातें लागू होती हैं।

इस व्यायोग के अनुवाद में भारतेन्दु के अन्य अनुवादों से एक विशेषता है—इसमें मूल का अर्थ समझने की गलतियाँ अनेक और अनुवादों की अपेक्षा बहुत कम हैं।

व्यायोग के इतिवृत्त में महाभारत की कथावस्तु से कुछ अंतर है। यहाँ पहले नायक (अर्जुन) और अमात्य की बातचीत होती है जिससे पता चलता है कि अमात्य को अर्जुन के अर्जुन होने का पता है और वह विराटनगर से ही योद्धा बनकर निकला है, तथा कुमार उत्तर उसका सारथी बनकर चला है। महाभारत की कथा में अर्जुन बहन्नला के रूप में कुमार उत्तर का सारथी बनकर जाता है, उधर कौरव सेना को देखकर घबरा जाता है और भागने लगता है। तब बहन्नला अपना सच्चा परिचय देकर उसके साथ जाकर अपने गांडीव धनुष आदि शस्त्रास्त्र लाता है।

व्यायोग के इतिवृत्त में, इसके बाद अर्जुन और उत्तर युद्धभूमि की ओर पहुँचते हैं, जहाँ अर्जुन कौरव पक्ष के योद्धाओं का परिचय उत्तर को देता है, क्योंकि सारथी को परपक्ष के योद्धाओं का परिचय होना चाहिए। इस समय देवराज इन्द्र और उनके साथ विद्याधर तथा प्रतीहारी मंच पर आते हैं जो सम्भवतः दिखाई नहीं देते—केवल उनकी बातचीत दर्शकों को सुनाई पड़ती है या मंच के पिछले भाग पर आते हैं जो अलग है और दर्शकों को देखते हैं। इसके बाद रथ पर बैठा दुर्योधन आता है। अर्जुन के साथ उसकी कुछ मर्मांतक बातचीत होती है और वे दोनों युद्ध करने के लिए समतल भूमि पर जाने की इच्छा से मंच से चले जाते हैं। इसके बाद इन्द्र आदि मंच पर रह जाते हैं और दिखाई देते हैं। अब अर्जुन के रणकौशल का सारा वर्णन विद्याधर और प्रतीहारी इन्द्र को सुना रहे हैं। यह वर्णन वीररस का व्यंजक है। कौरवों के पराजित हो जाने पर फिर अर्जुन और उत्तर मंच पर आते हैं और इन्द्र चला जाता है (विद्याधर तथा प्रतीहारी के बाहर

जाने का उल्लेख नहीं है) । इसके बाद युधिष्ठिर और अन्य पाडव तथा राजा विराट का परिवार आते हैं। ये लोग अर्जुन की सफलता पर हर्ष प्रकट करते हैं और उत्तरा के विवाह की बात निश्चित की जाती है।

इस इतिवृत्त म बीज है गोरक्षण, दानुमानभग आदि जिसका कथन प्रस्तावना के बाद पहले श्लोक म अर्जुन करता है। इसी बीज का फल अन्त म मिलता है।

अनुवादक ने अपने समर्पण म लिखा है 'प्यारे! निश्चय इस ग्रन्थ से तुम बडे प्रसन्न होगे, क्योकि अच्छे लोग अपनी कीर्ति स बढकर अपने जान की कीर्ति स सन्तुष्ट होते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि इसका अनुवाद करने म भक्त भारतेन्दु क मन म यह विचार था कि भगवान जिसके मित्र है, उस अर्जुन की वीरता की गाथा का अनुवाद भगवान की सेवा ही होगी।

मूल म नान्दी के दो श्लोक हैं और तीसरा मगलाचरण है। इनम से पहला विष्णु के वाराहावतार की प्रशसा मे है और दूसरा चडिका देवी की प्रशसा म। अनुवाद मे पहला श्लोक ज्या का त्यो सस्कृत म रख दिया गया है और अगल दो श्लोक छोड दिए गए है। मूल के प्रथम दो नान्दी श्लोको म कार्याथ सूचन किया गया था। वाराहावतार अर्जुन दष्ट्रा-दड गाडीव और पृथ्वी गौआ की सूचक है पृथ्वी का उद्धार गोरक्षण का सूचक है। दूसरे श्लोक म चडिकापद प्रचड अर्जुन का महिषासुर वरी कौरवो का और नखराशु तीव्र बाणो का सूचक है। स्पष्ट है कि नान्दी के श्लोक दशको के हृदय को वीररसोपयोगी वातावरण म लाने म सहायक हैं। उनका अनुवाद न होने से अनुवाद की क्षति हुइ है। परन्तु सम्भव है १८३७ वि० वाली जो प्रति भारतेन्दु के पास थी उसम ये श्लोक न रहे हो।

भरतवाक्य म मूल म दो श्लोक हैं। अनुवादक न उनका अनुवाद नही किया। उसने अपनी ओर म भरतवाक्य रखा है, जो देश की अनुवाद कालीन परिस्थिति पर लागू होता है और इसके बाद मूल का दो म से एक श्लोक सस्कृत म दिया है। नये भरतवाक्य की पाचवी पक्ति के बारे म एक मनोरजक बात यह है कि इसम तो कवि ने लिखा है बजरी ठुमरिन सो मोरि मुख सत कविता सब कोउ कहै पर नान्दी के बाद सूत्रधार के कथन के दो पद्यो पर रागसकेत करते हुए पहले पर भरव और दूसरे पर 'भरव या ठुमरी लिखा है। अपने भरतवाक्य म भारतेन्दु ने यह कामना की है

> राजवर्ग मद छोडि निपुन विद्या म होई।
> आलस मूरखतादि तज भारत सब कोई॥
> *पडितगन पर कृति लखि क मति दोष लगावैं।*
> छुटै राजकर मघ सम प जल बरसावैं॥
> बजरी ठुमरिन सो मोरि मुख सत कविता सब कोउ कहै।
> हिय भागवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नितही बहै॥

देश को उन्नत और विद्या-सम्पन्न तथा ईश्वर भक्ति स पूर्ण देखने की व्याकुलता भारतेन्दु के इस भरतवाक्य स स्पष्ट प्रकट होती है। यही व्याकुलता उनकी अन्य रचनाओ म व्यक्त होती है।

अनुवाद म मूल अर्थ को अक्षुण्ण रखते हुए उसे उतना ही व्यजक बनाने की ओर

अनुवादक ने विशेष ध्यान दिया है। उदाहरण देखिए—

गायें छुड़ाने के लिए प्रस्थान करते हुए गोपालों को सम्बोधित करके अर्जुन कह रहा है

> सिचन्त करुणारसेन हृदयं धावन्न वत्सा अमी
> मातुर्मार्गविलोकनव्यसनिनो मुंचन्ति हम्बारवान्।
> यावन्न हि यावदेव शिशवः पातुं पयो नोन्मुखाः
> स्तावन्गा व इहत्यवेत भवता चेतोज्वरः शाम्यतु॥
>
> —ध० वि०, श्लोक २८

अनुवादक ने लिखा है

> जब लौं बछरा करुना करि महि तृन नहिं खैंहैं।
> जब लौं जननी बाट देखि कै नहिं डकरैहैं।
> जब लौं पय पीवन हित व नहिं व्याकुल ह्वैहैं।
> ताके पहिलहि गाय जीति कै हम लै एहैं॥

यद्यपि 'जब लौं' के अनेक बार प्रयोग में पन्गत अनवीकृतत्व दोष है पर मूल का अर्थ पूरी तरह बड़े सरल सीधे शब्दों में रख दिया गया है।

इसी प्रकार, मूल की टक्कर की एक और चुस्त रचना देखिए—

मूल—

> तूणं कर्ण धनुर्गृहाण समरे शारद्वतस्त्वग्रणी
> र्भारद्वाज भृगूद्वहादधिगता यस्त्राणि सन्निधय।
> द्रौणे नन्दय कौरवक्षितिपति पुत्रस्तथा शान्तनो।
> सधत्ते समरान्वितं पुररिपो निष्योऽयमास्तेऽग्रत॥
>
> —ध० वि०, श्लोक ३४

अनुवाद—

> करन! गहौ धनु बेग, जाहु कृप! आगे धाइ।
> द्रोन! अस्त्र भृगुनाथ-लह सब रहो बढ़ाई॥
> अश्वत्थामा! काज सब कुरुपति को साधहु।
> दुरमुख! दुस्सासन! विकर्ण! निज व्यूहन बाधहु॥
> गंगासुत शान्तनु-तनय वर भीष्म काय सो धनु गहत।
> लखि गिरिनिभित रिपु सामुहैं तानि बान छाडो चहत॥

इसमें की चौथी और छठी पंक्ति मूल में नहीं है, पर प्रसंग के अनुकूल हैं। यहां अधिकाधता दोष है।

संस्कृत भाषान्तरण की भूलें तो इस अनुवाद में भी हैं पर वे बहुत अधिक नहीं हैं। इनमें से कुछ भूलें या तो प्रमादवश और या मूल प्रति के दोष के कारण हैं। प्रस्तावना में पारिपार्श्विक के निष्क्रमण के बाद मूल में लिखा है, "सूत्रधार—(प्राचीमवलोक्य स्मित्वा)। अनुवाद में है, '(पश्चिम की ओर देखकर)।

इसी प्रकार, अर्जुन और दुर्योधन का सामना होने पर दुर्योधन ने अर्जुन से कहा

कि क्या वनवास की प्रतिज्ञा के कारण तुम्हें अपने जीवन से वैराग्य हो गया है जो इतने योद्धाओं से अकेला लड़ने निकल पड़ा है। अर्जुन ने करारा उत्तर देते हुए कहा कि मैंने अकेले ही (इन्द्र को त्रस्त करनेवाले) निवातकवचों का भस्म किया था, अकेले ही यदुराज कृष्ण की बहन का अपहरण किया था, अकेले ही खाण्डववन में आग लगाई थी। मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं। इस पर दुर्योधन बोला

पतमेतैरुपहासैः । उपस्थितो निकषपाषाणः समरः ॥

अर्थात् हमारा झगड़ा न बढ़ा। अब युद्ध कसौटी बनकर आ पहुँचा है।

अनुवादक ने इसका यह अनुवाद किया है   यह हँसने का समय नहीं है क्योंकि यथायुद्ध घोर संग्राम का समय है।

इस प्रकार की गलतियाँ कई स्थानों पर हुई हैं।

भारतेन्दु की भाषा सरल, चुस्त और व्यवस्थित है। मूल में अधिकतर पद्य होने के कारण ब्रजभाषा की रचना अधिक है। उसमें भारतेन्दु ने अपने रचना कौशल का अच्छा परिचय दिया है।

छंद के प्रयोग में मूल के अनुसार विविधता और रसानुकूलता का ध्यान रखा गया है। आवश्यक पदों का सम्बन्ध वीररसात्मक छंदों में अनुवाद हुआ है परन्तु आवश्यकतानुसार दोहे का प्रयोग भी किया गया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धनंजय विजय का अनुवाद रस और अभिनय का ध्यान रखकर किया गया है और भाषान्तरण की कुछ गलतियाँ होते हुए भी वह मौलिक नाटक का-सा आनन्द देता है। भाषा बड़ी मँजी हुई है और छंदों की विविधता के कारण अनुवाद में नीरसता नहीं आई है।

कर्पूरमंजरी (१८७६ ई०)

यह अनुवाद सं० १९३३ वि० (१८७६ ई०) में हुआ था और क्रमशः चैत्र शुक्ल ९ सं० १९३३ से आरम्भ होकर कविवचन सुधा पत्रिका में छपा था। इसका पुस्तकाकार तृतीय संस्करण बनारस आर्य यन्त्रालय से सं० १९३६ वि० में छपा था।

मूल कर्पूरमंजरी की रचना महाकवि राजशेखर ने की थी। इनका रचनाकाल ईसा की दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक माना जाता है। ये यायावरगोत्रीय महाराष्ट्रीय क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम दुर्दुक या दुहिक मंत्री और दादा का नाम अकालजलद था और माता का नाम शीलावती था। इनके पूर्वजों में कई कवि हो गए हैं। ये शैव मत को मानते थे। इनका विवाह चाहुमान वंश की राजकन्या अवन्तिसुन्दरी से हुआ था। कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में लिखा है

चाहुआणकुलमौलिमालिआ राअसेहरकइंदगेहिणी।
भत्तुणो किइमवन्तिसुंदरी सा पउंजइदुमेअमिच्छइ ॥

—श्लोक १२

संस्कृत-छाया—

चाहुवानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी।
भर्तु कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोजयितुमेतदिच्छति ॥

महाकवि राजशेखर की अन्य उपलब्ध रचनाएं बाल रामायण बालभारत (अपूर्ण) नाटक और विद्धशालभंजिका नाटिका हैं। बालरामायण नाटक में इन्होंने अपनी छह रचनाओं का उल्लेख किया है। विद्धशालभंजिका नाटिका इन्होंने त्रिपुरी नरेश युवराज देव केयूरवर्ष कलचुरि के लिए लिखी थी। 'कर्पूरमंजरी' में राजशेखर ने अपने आपको कान्यकुब्ज के प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल का गुरु बताया है।

यह रचना नाटिका नामक उपरूपक का एक भेद सट्टक है। भावप्रकाश के अनुसार

यत्र प्रवेशकनापि विष्कम्भेण विना कृता।
अङ्कस्थानीयविन्यस्तचतुर्जवनिकान्तरा।
प्रकृष्टप्राकृतमयी सट्टकं नामतो भवेत ॥

—अष्टमोऽधिकार

अर्थात नाटिका में जब प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते, अंकों के स्थान पर जवनिकान्तर रखे जाते हैं भाषा सारी प्राकृत होती है, तब वह रचना सट्टक कहलाती है।

प्रतीत होता है कि सट्टक लिखने का उस समय विशेष प्रचलन नहीं था। प्रस्तावना में स्वयं स्थापक यह प्रश्न करता है कि सट्टक क्या होता है (किं सट्टअ)। उसके उत्तर में पारिपार्श्विक स्मरण करने का अभिनय करके बताता है कधिद जेव छइल्लेहिं (कथितमेव विदग्धैः)।

सो सट्टओत्ति भण्णइ दूरं जो णाडिआए अणुहरइ।
किं उण पवेस विक्कंभकाइ केवलं ण दीसंति।
(तत्सट्टकमिति भण्यते दूरं यो नाटिकामिरनुहरति।
किं पुन प्रवेशकविष्कम्भकौ केवलं न दृश्यते) ॥

प्राकृत में रचना करने पर राजशेखर को और भी सफाई देने की आवश्यकता अनुभव हुई है। स्थापक के इस प्रश्न पर कि कवि ने संस्कृत भाषा को छोड़कर प्राकृत में रचना क्यों की, पारिपार्श्विक ने जो उत्तर दिया वह साहित्य के क्षेत्र में कहावत बन गया है

अत्यविसेसा त चिअ सद्दा त चेअ परिणमंता वि।
उत्तिविसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ ॥
(अर्थविशेषास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोपि।
उक्तिविशेष काव्यं, भाषा या भवति सा भवतु) ॥

राजशेखर ने आगे यह भी लिखा है कि संस्कृत भाषा की रचना कठोर होती है जबकि प्राकृत की सुकुमार होती है—इन दोनों में वही अन्तर है, जो पुरुष और स्त्री में।

कहने का अभिप्राय यह कि सारी रचना प्राकृत में करना एक नई चीज थी। इस प्राकृत रचना में रचना का नाम, कर्पूरमंजरी, संस्कृत में है—इस शब्द का प्राकृत-रूप 'कप्पूरमंजरी' है जैसा कि नायिका के नामोल्लेख में रचना में मिलता है। अभिनय और

मंच के संकेत, पात्रनिर्देश और जवनिकान्तर सूचना भी संस्कृत में ही दिए गए हैं।

कर्पूरमंजरी सट्टक अन्तःपुरीय जीवन से सम्बन्धित रचना है जिसमें वस्तु विन्यास की दृष्टि में कोई कौशल नहीं। अंगी रस इसमें शृंगार है और अंगरूप से हास्य तथा अद्भुत है। कथावस्तु यह है कि राजा चंडपाल (प्राकृत में चंडवाल) वसन्त के आरम्भ में अपनी रानी विदूषक और दासी विचक्षणा के साथ बैठा था। विदूषक और विचक्षणा में कविता की होड़ चल पड़ी और घटिया दर्जे की परिहासपूर्ण गालीगलौच होने लगी। इतने में भैरवानन्द नाम के एक चमत्कारी साधु वहां आए जिन्होंने राजा के कहने पर अपने मन्त्र बल से विदर्भ की अतीव सुन्दरी राजपुत्री कर्पूरमंजरी को वहां खींच बुलाया। यह कर्पूरमंजरी रानी की बहन निकली। दोनों बहनें राजमहल में एक साथ रहती हैं। दूसरे जवनिकान्तर में, राजा और कर्पूरमंजरी एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। दोनों में गुप्त रूप से पत्र चलते हैं। राजा कुंज में छिपकर हिंडालचतुर्थी पर झूले में झूलती हुई कर्पूरमंजरी के दर्शन करता है। फिर कर्पूरमंजरी दोहद देने वाटिका में आती है, जहां राजा फिर उसे देखता है। तीसरे जवनिकान्तर में राजा और कर्पूरमंजरी का गुप्त रूप से मिलन होता है पर रानी को पता चल जाने के कारण दोनों को भागना पड़ता है। चौथे जवनिकान्तर में, कर्पूरमंजरी को राजा से दूर रखने के लिए रानी ने कड़ा पहरा बठा दिया है। वट सावित्री का उत्सव देखने के लिए रानी के बुलावे पर राजा महल में गया। वहां रानी ने उसके विवाह का आयोजन कर रखा था। बात यह हुई थी कि रानी को भैरवानन्द ने बताया कि लाटदेश के राजा चंडसेन की पुत्री घनसारमंजरी जिसकी पत्नी होगी वह चक्रवर्ती राजा होगा। विवाह के दिन भैरवानन्द ने कर्पूरमंजरी को सुरंग के रास्ते निकाल मंगाया और उसे घनसारमंजरी कहकर विवाह मंडप में बैठा दिया। जब रानी ने देखा कि कर्पूरमंजरी यहां आ गई है तब वह बहाना बनाकर उसे तहखाने में देखने गई। भैरवानन्द ने कर्पूरमंजरी को सुरंग मार्ग से फिर तहखाने भेज दिया। रानी ने उसे वहां देखा तो कुछ निश्चिन्त हुई। पर लौटकर फिर उसे विवाह मंडप में देखा। इस प्रकार कई बार यह क्रम चला। अन्त में रानी पर तब भेद खुला, जब विवाह कराते हुए विदूषक ने राजा से कहा—कर्पूरमंजरी का हाथ अपने हाथ में लो। रानी ने चकित होकर पूछा कि कर्पूरमंजरी कहां है। तब भैरवानन्द ने कहा कि कर्पूरमंजरी का नाम ही घनसारमंजरी है।

यह कहानी अन्तःपुरीय विनोद, काव्यकला विषयक परिहासपूर्ण विवाद, और रूप वर्णन की दृष्टि से सुन्दर है।

प्रस्तावना में यह सूचित होता है कि यह सट्टक एक नृत्यपरक है। स्थापक आरम्भ में ही पूछता है कि नृत्य की तैयारियां हो रही दीखती हैं। उत्तर में पारिपार्श्विक कहता है—और क्या! सट्टक का नृत्य करना है न (अथ सट्टअं णच्चिदव्वं—अथ किम। सट्टकं नर्तितव्यम)। विदूषक और विचक्षणा की वाक्केलियां वाक्चातुर्यपूर्ण परिहासमय विवाद राजा और विचक्षणा के (द्वितीय जवनिकान्तर में) लम्बे प्रश्नोत्तर और विस्तृत रूपवर्णन नृत्यपरकता की दृष्टि से बड़े सार्थक मालूम होते हैं।

अनुवाद करते हुए भारतेन्दुजी ने वास्तव में पूरा अनुवाद नहीं किया है। कुछ

वाक्य तो बिलकुल छोड़ दिए हैं और कुछ का भाव व्यंजित करनेवाले नए स्वतन्त्र वाक्य बना दिए हैं जिनका वाच्यार्थ मूल प्राकृत के वाच्यार्थ से भिन्न है। कोई-कोई बात अपनी ओर से भी जोड़ दी है। कहीं पद्य का अनुवाद गद्य में कर दिया है। एक स्थान पर विदूषक के मुँह से हरिश्चन्द्र (स्वयं अनुवादक) और पद्माकर के नाम कहलवाए हैं जो काल विरुद्ध हैं। मूल में पूर्ववर्ती हरिचन्द्र आदि कवियों के नाम थे। अनुवाद में 'जवनिकान्तर' के स्थान पर 'अंक' शब्द रखा गया है।

यदि इस अनुवाद को मूल से मिलाकर न पढ़ा जाए तो इस रचना का आनन्द लिया जा सकता है। अनुवादक ने प्रायः सर्वत्र मूल के पदों को भूलकर उनके अर्थ के, अथवा प्रसंगोचित दूसरे अर्थ के वाचक व्यंजक पदों का प्रयोग करके रचना को मौलिक सा बना दिया है। प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए भैरवानन्द के वचनों का अनुवाद उस शैली और पदावलि में किया गया है जिसका प्रयोग इस तरह के चमत्कारों का दावा करनेवाले साधु आज भी करते हैं। उदाहरण देखिए—

भैरवा०—जंत्र न मंत्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद, पीने को मदिरा और खाने को मांस, साथ को स्त्री, मसान का वास फुरो मंत्र ईश्वरो वाच, दोहाई पशुपतिनाथ की, दोहाई कामाख्या की, दोहाई गोरखनाथ की।

—भारतेन्दु नाटकावली भाग २, पृ० १३७

इसी प्रकार

भैरवा०— सूरज बाधूं चंदर बाधूं बाधूं अगिन-पताल।
सम समुंदर इंदर बाधूं औ बाधूं जमकाल।
जच्छरच्छ दवन की कन्या, बल से लाऊं बाध।
राजा इंदर का राज डोलाऊं तो मैं सच्चा साधु।
नहीं तो जोगड़ा। और क्या।।

— भारतेन्दु नाटकावली भाग २, पृ० १३८

इस स्थल में मूल का अनुवाद करते हुए अनुवादक ने चौथा और पाँचवाँ चरण अपनी ओर से जोड़ दिया है। ऐसे और कितने ही वाक्य अनुवाद में भर पड़े हैं जिनके कारण कर्पूरमंजरी मूल से दूर हो गई है। वसन्त के वर्णन में पद्माकर का सवैया 'फूलेंगे पलास वन०' विचक्षणा की बनाई हुई कविता के रूप में कहलवाया गया है। पद्माकर के अन्य पद और देव के कुछ पद भी अनुवाद रचना में 'फिट' किए गए हैं।

इस अनुवाद में भारतेन्दु की जिन्दादिली और हासप्रियता के साथ-साथ हास्योपयोगी भाषा का प्रयोग करने में उनका असाधारण सामर्थ्य सामने आता है। गद्य की खड़ी बोली और पद्य की ब्रज दोनों का बड़ा सुन्दर और चहकता प्रयोग हुआ है। संस्कृत के अनुवादों में पंडिताऊपन आने का भय हमेशा रहता है। भारतेन्दु ने पंडिताऊपन को दूर रखने के लिए ही बहुत जगह मूल से स्वतन्त्र रचना कर डाली है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जिस रूप में 'कर्पूरमंजरी' को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है, वह रूप मूल का भाषान्तर न होकर रूपान्तर है। उसे संस्कृत के साथ रखकर पढ़ने पर अनेक त्रुटियाँ दिखाई देंगी, परन्तु स्वतन्त्र रचना की तरह पढ़ने

मच के सकेत, पात्रनिर्देश, और जवनिकान्तर सूचना भी संस्कृत में ही दिए गए हैं।

कर्पूरमंजरी सट्टक अन्तःपुरीय जीवन से सम्बन्धित रचना है जिसमें वस्तु विन्यास की दृष्टि से कोई कौशल नहीं। अंगी रस इसमें शृंगार है और अंगरूप से हास्य तथा अद्भुत हैं। कथावस्तु यह है कि राजा चण्डपाल (प्राकृत में चण्डवाल) वसन्त के प्रारम्भ में अपनी रानी विदूषक और दासी विचक्षणा के साथ बैठा था। विदूषक और विचक्षणा में कविता की होड़ चल पड़ी और घटिया दर्जे की परिहासपूर्ण गालीगलौच होने लगी। इतने में भैरवानन्द नाम के एक चमत्कारी साधु वहाँ आए जिन्होंने राजा के कहने पर अपने मन्त्र बल से विदर्भ की अतीव सुन्दरी राजपुत्री कर्पूरमंजरी को वहाँ खींच बुलाया। यह कर्पूरमंजरी रानी की बहन निकली। दोनों बहनें राजमहल में एक साथ रहती हैं। दूसरे जवनिकान्तर में राजा और कर्पूरमंजरी एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। दोनों में गुप्त रूप से प्रेम पलते हैं। राजा कुंज में छिपकर हिंडोलचतुर्थी पर झूले में झूलती हुई कर्पूरमंजरी के दर्शन करता है। फिर कर्पूरमंजरी दोहद देने वाटिका में जाती है, जहाँ राजा फिर उसे देखता है। तीसरे जवनिकान्तर में राजा और कर्पूरमंजरी का गुप्त रूप से मिलन होता है पर रानी को पता चल जाने के कारण दोनों को भागना पड़ता है। चौथे जवनिकान्तर में कर्पूरमंजरी को राजा से दूर रखने के लिए रानी ने कड़ा पहरा बैठा दिया है। वट सावित्री का उत्सव देखने के लिए रानी के बुलाने पर राजा महल में गया। वहाँ रानी ने उसके विवाह का आयोजन कर रखा था। बात यह हुई थी कि रानी को भैरवानन्द ने बताया कि लाटदेश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसारमंजरी जिसकी पत्नी होगी, वह चक्रवर्ती राजा होगा। विवाह के दिन भैरवानन्द ने कर्पूरमंजरी को सुरंग के रास्ते निकाल मँगाया और उसे घनसारमंजरी कहकर विवाह मंडप में बैठा दिया। जब रानी ने देखा कि कर्पूरमंजरी यहाँ आ गई है तब वह बहाना बनाकर उसे तहखाने में देखने गई। भैरवानन्द ने कर्पूरमंजरी को सुरंग मार्ग से फिर तहखाने भेज दिया। रानी ने उसे वहाँ देखा तो कुछ निश्चिन्त हुई। पर लौटकर फिर उसे विवाह मंडप में देखा। इस प्रकार कई बार यह क्रम चला। अन्त में रानी पर तब भेद खुला जब विवाह कराते हुए विदूषक ने राजा से कहा—कर्पूरमंजरी का हाथ अपने हाथ में लो। रानी ने चकित होकर पूछा कि कर्पूरमंजरी कहाँ है। तब भैरवानन्द ने कहा कि कर्पूरमंजरी का नाम ही घनसारमंजरी है।

यह कहानी अन्तःपुरीय विनोद काव्यकला विषयक परिहासपूर्ण विवाद, और रूप वर्णन की दृष्टि से सुन्दर है।

प्रस्तावना से यह सूचित होता है कि यह सट्टक एक नृत्यरूपक है। स्थापक प्रारम्भ में ही पूछता है कि नाट्य की तैयारियाँ हो रही दीखती हैं। उत्तर में पारिपार्श्विक कहता है—और क्या ! सट्टक का नृत्य करना है न (अथइ सट्टअं णच्चिदव्वं—अथ किम्। सट्टकं नर्तितव्यम्)। विदूषक और विचक्षणा की वाक्केलि या वाग्वातुर्यपूर्ण परिहासमय विवाद राजा और विचक्षणा के (द्वितीय जवनिकान्तर में) लम्बे प्रश्नोत्तर और विस्तृत रूपवर्णन नृत्यरूपक की दृष्टि से बड़े सार्थक मालूम होते हैं।

अनुवाद करते हुए भारतेन्दु जी ने वास्तव में पूरा अनुवाद नहीं किया है। कुछ

वाक्य तो बिलकुल छोड़ दिए हैं और कुछ का भाव व्यंजित करनेवाले नये स्वतन्त्र वाक्य बना दिए हैं जिनका वाच्यार्थ मूल प्राकृत के वाच्यार्थ से भिन्न है। कोई-कोई बात अपनी ओर से भी जोड़ दी है। कहीं पद्य का अनुवाद गद्य में कर लिया है। एक स्थान पर विदूषक के मुँह से हरिश्चन्द्र (स्वयं अनुवादक) और पद्माकर के नाम कहलवाए हैं जो काल विरुद्ध हैं। मूल में पूर्ववर्ती हरिचन्द्र आदि कवियों के नाम थे। अनुवाद में 'अवनिकान्तर' के स्थान पर 'जक' शब्द रखा गया है।

यदि इस अनुवाद को मूल से मिलाकर न पढ़ा जाए तो इस रचना का आनन्द लिया जा सकता है। अनुवादक ने प्रायः सर्वत्र मूल के पदों को भूलकर उनके अर्थ के, अथवा प्रसंगोचित दूसरे अर्थ के वाचक व्यंजक पदों का प्रयोग करके रचना को मौलिक सा बना दिया है। 'प्रवृत्ति' का ध्यान रखते हुए भैरवानन्द के वचनों का अनुवाद उस शैली और पदावलि में किया गया है, जिसका प्रयोग इस तरह के चमत्कारों का दावा करनेवाले साधु आज भी करते हैं। उदाहरण देखिए—

भैरवा०—जंत्र न मंत्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग केवल गुरु का प्रसाद पीने को मदिरा और खाने को मांस सोने को स्त्री मसान का वास फुरो मंत्र ईश्वरा-वाच, दोहाई पशुपतिनाथ की, दोहाई कामाक्षा की, दोहाई गोरखनाथ की।'

—भारतेन्दु नाटकावली भाग २, पृ० १३७

इसी प्रकार

भैरवा०—

> सूरज बाँधू चंदर बाँधू, बाँधू अगिन पताल।
> सात समुंदर इंदर बाँधू औ बाँधू जमकाल।
> जच्छरच्छ दवन की कन्या, बल से लाऊँ बाँध।
> राजा इंदर का राज डोलाऊँ तो मैं सच्चा साधु।
> नहीं तो जोगड़ा। और क्या॥

— भारतेन्दु-नाटकावली भाग २ पृ० १३८

इन स्थलों में मूल का अनुवाद करते हुए अनुवादक ने चौथा और पाँचवाँ चरण अपनी ओर से जोड़ दिया है। ऐसे और कितने ही वाक्य अनुवाद में भरे पड़े हैं जिनके कारण कर्पूरमंजरी मूल से दूर हो गई है। वसन्त के वर्णन में पद्माकर का सवैया 'फूलैंगे पलास बन०' विचक्षणा की बनाई हुई कविता के रूप में कहलवाया गया है। पद्माकर के अन्य पद और देव के कुछ पद भी अनुवाद रचना में 'फिट' किए गए हैं।

इस अनुवाद में भारतेन्दु की जिन्दादिली और हासप्रियता के साथ-साथ हास्योपयोगी भाषा का प्रयोग करने में उनका असाधारण सामर्थ्य सामने आता है। गद्य की खड़ी बोली और पद्य की ब्रज दोनों का बड़ा सुन्दर और चहकता प्रयोग हुआ है। संस्कृत के अनुवादों में पंडिताऊपन आने का भय हमेशा रहता है। भारतेन्दु ने पंडिताऊपन को दूर रखने के लिए ही बहुत जगह मूल से स्वतन्त्र रचना कर डाली है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जिस रूप में 'कर्पूरमंजरी' को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है, वह रूप मूल का भाषान्तर न होकर रूपान्तर है। उसे संस्कृत के साथ रखकर पढ़ने पर अनेक त्रुटियाँ दिखाई देंगी, परन्तु स्वतन्त्र रचना की तरह पढ़ने

पर उसका पूरा आनन्द लिया जा सकता । यहां रूपांतर का यह अर्थ है कि इतिवृत्त, कार्यावस्थाएं आदि और अन्य तत्त्व वही रखते हुए ऊपरी बातों में देश काल के अनुकूल हेर फेर कर देना ।

भारतेन्दु को इस नाटक का अनुवाद करने की प्रेरणा कहां से मिली, यह कहना कठिन है । अवध के अंतिम नवाबों के दरबारों में शायरों आदि में आपसी वाद विवाद, घटिया दर्जे की गाली गलौच दिल्लगी आदि प्रचलित थी, जिसमें नवाब भी आनन्द लिया करते थे । सम्भव है कि भारतेन्दु ने इस नाटक में उस जीवन का कुछ सादृश्य देखकर इसका अनुवाद करने का निश्चय किया हो ।

जो हो कर्पूरमंजरी के अनुवाद और रूपांतर में भारतेन्दु की नाट्य प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है और भाषा पर उनका असाधारण अधिकार दिखाई देता है । अपनी इस प्रतिभा और भाषा-सामर्थ्य के बल पर ही वे हिन्दी जगत् को एक ऐसी सुंदर रचना भेंट कर सके ।

मुद्राराक्षस (१८७४)

मुद्राराक्षस संस्कृत का बहुत प्रसिद्ध नाटक है । इसके रचनाकाल पर विद्वानों में मतभेद है—कुछ विद्वान इसे चौथी पांचवी शती वि० की रचना मानते हैं और कुछ इसका काल सातवीं-आठवीं शती वि० तक मानते हैं । जो हो, राजनैतिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया ऐसा नाटक संस्कृत में कोई और नहीं है । इसी लेखक का एक और नाटक देवीचन्द्रगुप्तम था जिसके उद्धरण नाट्यदर्पण और शृंगार प्रकाश में मिलते हैं । स्व० जयशंकर प्रसाद ने देवीचन्द्रगुप्तम के उपलब्ध अंश से प्रेरणा लेकर अपना 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक लिखा था ।

मुद्राराक्षस की प्रचलित प्रतियों में इसके लेखक का नाम विशाखदत्त लिखा है, पर अन्य उल्लेखों में यह विशाखदेव भी मिलता है ।[1] मुद्राराक्षस की प्रस्तावना के अनुसार ये सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे । अपना इससे अधिक परिचय इन्होंने नहीं दिया । इन जैसे विद्वान और महामनीषी के इससे अधिक परिचय की आवश्यकता भी क्या है ?

मुद्राराक्षस नाटक पढ़ने से पता चलता है कि ये राजनैतिक वातावरण में रहते थे और राजनीति के दाव पेंचों को बहुत अच्छी तरह समझते थे । साथ ही नाटक के विधान के बारे में इन्होंने जो बातें प्रसंगतः कही हैं, उनसे यह अनुमान करना असंगत नहीं कि इन्होंने कई नाटक लिखे होंगे । मुद्राराक्षस के चौथे अंक के तीसरे श्लोक की अन्तिम पंक्ति 'कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा' में 'नाटकानाम्' यह बहुवचन प्रयोग देखकर और क्या अनुमान किया जा सकता है ? ज्योतिष में इनका अच्छा परिचय होने की सूचना भी मुद्राराक्षस से मिलती है ।

इनकी रचना की प्रेरणा राष्ट्र कल्याण की भावना है, जो इनके नान्दी श्लोकों

[1] नाट्यदर्पण, (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़), संस्कृत भूमिका, पृ० ४८

से स्पष्ट होती है। इन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में हिमालय और गंगा से हिन्द महासागर तक एक सशक्त केन्द्रीय शासन की कल्पना की है। 'प्रसाद' पर इनके विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य का जो तटस्थ लोककल्याणकारी रूप चित्रित हुआ है, और भारतीय एकता का जो आग्रह निरूपित हुआ है उन दोनों की मूल प्रेरणा मुद्राराक्षस के नान्दी श्लोकों और सशक्त केन्द्रीय शासन के निरूपक श्लोकों से मिली प्रतीत होती है। मुद्राराक्षस नाटक के लेखक का मुख्य विषय है राज्य की दो महान प्रतिभाओं—चाणक्य और राक्षस—का संघर्ष समाप्त करके उन दोनों को लोककल्याण के लिए एक ही राज्य की शक्ति बढ़ाने में लगाना।

मुद्राराक्षस नाम का अर्थ है वह रचना जो मुद्रा के कारण पकड़े गए राक्षस के बारे में है। इस नाटक के इतिवृत्त में राक्षस की मुद्रा वाली अंगूठी कौटिल्य (चाणक्य) के हाथ में पड़ने से ही कौटिल्य के हाथ में तुरुपचाल आ जाती है।

'मुद्राराक्षस' का इतिवृत्त ईसा से लगभग सवा तीन शताब्दी पहले की ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध है। मगध (आधुनिक बिहार का एक भाग) में नन्दवंश के राज्यकाल में अधिपतित्व के लिए संघर्ष हुआ। इतिवृत्त की रूपरेखा यह है कि नन्दवंश से कुपित कौटिल्य नामक राजनीति विशारद ब्राह्मण ने नन्दवंशीय कुमार चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बठाया। इस संघर्ष में उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों के राजाओं से चन्द्रगुप्त को सहायता प्राप्त हुई थी। नन्द के परिवार का पूरी तरह नाश हो गया, परन्तु नन्द के राजभक्त मंत्री राक्षस ने चन्द्रगुप्त के विरुद्ध अपना विद्रोह जारी रखा। कौटिल्य का प्रयत्न यह था कि राक्षस चन्द्रगुप्त का सहायक बन जाए और अन्य सब राजा लोग जो पहले चन्द्रगुप्त के सहायक थे और अब उसके प्रतिद्वन्द्वी बन सकते थे नष्ट हो जाए। इन दोनों ध्येयों में कौटिल्य को सफलता मिली। यह सफलता प्राप्त करने के लिए कौटिल्य ने क्या-क्या खेल खेले, यही नाटक का मुख्य विषय है। यह इतिवृत्त इतिहास में इसी रूप में कहीं नहीं मिलता। इसके दो पात्र चन्द्रगुप्त और कौटिल्य ही निश्चित रूप से ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं। जहां तक घटनाक्रम का प्रश्न है, वह सारा संभाव्य है, पर शुद्ध इतिहास (आधुनिक अर्थ में) से इसपर कोई प्रकाश पड़ना कठिन है।

फिर भी, प्राचीन कथासाहित्य तथा पुराणों में वर्णित घटनाओं से इतिवृत्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कौटिल्य के विषय में एक कहानी आती है कि नन्दवंशीय राजा महानन्द ने उसे अपमानित किया था जिसपर उसने अपनी चोटी खोलकर यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मैं नन्द और उसके परिवार का नाश न कर लूंगा तब तक अपनी चोटी न बांधूंगा। मुद्राराक्षस नाटक में इस घटना का आदि और अन्त में उल्लेख किया गया है। नाटक के आरम्भ में ही (ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन् चाणक्यः) यह अभिनय संकेत दिया गया है। उसके एक श्लोक बाद १.९ में 'अद्यापि बध्यमानां वध्य का नेच्छति शिखां मे' चाणक्य का कथन है। नाटक के अन्त में चाणक्य स्वयं कहता है

सह वाहनहस्तिभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम्।
मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा॥

—मु० रा०, ७.१८

मुद्राराक्षस सात अंकों का नाटक है और इसमें स्त्रीपात्र केवल एक है, जो बहुत थोड़ी देर के लिए मंच पर आता है। सारा नाटक चाणक्य के बुद्धि-वैभव का और लोक-कल्याण के लिए उन्मुख निःस्पृह चरित्र का निदर्शन है। नायक चन्द्रगुप्त[1] बहुत कम आता है और उस संघर्ष में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं अदा करता।

मूल पाठ में एक महत्त्वपूर्ण असंगति

इस नाटक के मूल पाठ में एक बड़ी असंगति दिखाई देती है जिसको विद्वानों ने बिलकुल अनदेखा कर दिया है। जिनका ध्यान उस बात की ओर गया, उन्होंने जैसे-तैसे व्याख्या करके प्रश्न को टालने का यत्न किया है उसका कोई ठीक समाधान नहीं प्रस्तुत किया।

हम ऊपर दिखा आए हैं कि नाटक के आरम्भ में कवि ने मुक्तां शिखां परामृशन् चाणक्य लिखा है और अन्त में भरत वाक्य से पहले बध्नते शिखां लिखा है। स्पष्ट है *कि नाटक में वर्णित सारे काल में चाणक्य की शिखा खुली हुई है।* परन्तु खुली शिखा का इतना स्पष्ट उल्लेख करने वाले कवि ने तृतीय अंक में कृतक-कलह के प्रसंग में लिखा है कि चाणक्य की शिखा बंधी हुई है

चाणक्य (सक्रोधम्) वृषल। वृषल! भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि?—
शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः।
(भूमौ पादप्रहारं कृत्वा)

---

[1] डा० सत्यव्रतसिंह ने मुद्राराक्षस की टीका (चौखम्बा १९५४) करते हुए भूमिका में यह मन्तव्य रखा है कि इस नाटक का नायक चाणक्य है। यह बात ठीक नहीं जचती। नाट्यकला सम्बन्धी बातों का ध्यान रखनेवाला कवि चाणक्य को नायक क्यों बनाएगा? नाटक का नायक राजा होता है। फिर नाटक का फल क्या है और वह किसे मिलता है? अवरूप फल है जो चन्द्रगुप्त को मिलता है

राजा किमन्न परं प्रियमस्ति?

राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम्।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्तव्यमतः परम्॥

—७ १७

हमारे विचार में नायक चन्द्रगुप्त ही है। हां, वह अमात्यायत्तसिद्धि नायक अर्थात् ऐसा नायक है, जिसे फलसिद्धि अमात्य चाणक्य के प्रयत्न से होती है अपने प्रयत्न से नहीं।

चाणक्य नाटक के मंचाभिनय का प्रधानतम पात्र अवश्य है नायक नहीं। चाणक्य अपने लिए कोई फल पाने को यत्नशील नहीं। वह चन्द्रगुप्त को अर्थ यानी निष्कंटक राज्य प्राप्त कराने के लिए यत्न कर रहा है। प्रस्तावना में इतिवृत्त का बीज भी यही है 'आः। क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात्?"

अंग्रेजी नाटकों का 'हीरो' और संस्कृत नाटकों का नायक सदा अभिन्न नहीं होते। यदि नायक चाणक्य है तो चन्द्रगुप्त एक साधारण पात्र हुआ, और एक साधारण पात्र नायक को मंच के पर्दे से एकदम हटा देता है। वस्तुतः मंचाभिनय में प्रधानपात्र कोई हो, कथावस्तु का नायक वह होता है जिसे नाटक के व्यापार समाप्ति का अन्तिम फल मिलता है।

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना–
परीतं कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥

—३ २६

इसकी टीका करते हुए श्री ढुण्ढिराज यज्वा ने 'बद्धा' का अर्थ 'बद्धुमिष्टा' किया है। यही अर्थ डा० सत्यव्रतसिंह ने लिया है—

बद्धुमिष्टामपि पुनर्मोक्तुं त्वत्कृतमदवमानप्रतिशोधनायेति शेषः ।

पर 'बद्धा' का अर्थ 'बद्धुमिष्टा' कैसे हो सकता है? दूसरे, जो 'बद्धुमिष्टा' है, बँधी नहीं, उसका पुनर्मोचन कैसे होगा। तीसरे, आगे और पीछे आप उसे 'मुक्ता' कह रहे हैं तो बीच में वह 'बद्धा' कैसे हो गई?

हमारे विचार से यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ होगा—

शिखां मोक्तुं मुक्तामपि पुनरयं धावति करः ।

अर्थात् तूने मुझे इतना अपमानित और क्रुद्ध कर दिया है कि नन्द द्वारा किए गए एक अपमान से क्रोधित होने पर खोली गई शिखा को खुला होने पर भी आवेशवशात् मेरा हाथ फिर से खोलने के लिए तेजी से ऊपर जा रहा है।

हमारा सुझाया हुआ पाठ रखने पर ही 'अपि' शब्द की सार्थकता होती है। अन्यथा, बँधी वस्तु को तो खोला ही जाता है, उसके लिए 'बँधी हुई भी शिखा को' कहना निरर्थक है। महाकवि विशाखदत्त जैसे लेखक से ऐसी भद्दी भूल होने की कोई भी संभावना नहीं है। श्री तैलंग के सम्पादित संस्करण में दिए पाठभेदों में इसका कोई पाठभेद नहीं दिया गया। सम्भव है किसी समय किसी प्रतिलिपिकार ने अपनी 'सूझ' से इस 'मुक्ता' पाठ को यह सोचकर शुद्ध कर दिया हो कि खोला बँधे हुए को ही जा सकता है। भारतेन्दु का ध्यान इस असंगति की ओर गया था, और उन्होंने अनुवाद करते हुए इसका कुछ समाधान भी करने की चेष्टा की पर वह समाधान उपलब्ध मूलपाठ से भी अधिक बेतुका हो गया है। भारतेन्दु ने लिखा है

खुली सिखा हू बाँधिबे

अर्थात् खुली शिखा को भी बाँधने के लिए। न तो इस उपवाक्य में अन्विति है और न वाक्य में ही इस उपवाक्य की अन्विति बनती है। उपवाक्य में तो 'हू' (भी) बिलकुल निरर्थक रहता है, और वाक्य में, यह मतलब निकलता है कि क्रोध आने पर शिखा बाँधी जाती है, या चाणक्य उस क्रोध के कारण बाँधने को प्रेरित होता है। ये दोनों ही बातें असंगत हैं।

हमारे सुझाए पाठ के पक्ष में एक और युक्ति है। श्लोक का दूसरा, तीसरा और चौथा चरण, जो शिखा खुलने का अर्थ स्पष्ट कर रहे हैं और पूर्व इतिहास स्मरण करा रहे हैं—शिखा खुलने का अर्थ है अपमान करनेवाले के पूर्ण नाश की प्रतिज्ञा करना। चाणक्य कह रहा है कि फिर से वही प्रतिज्ञा करने के लिए मेरा हाथ खुली शिखा को भी खोलने के लिए बढ़ रहा है। उसने प्रतिज्ञा शिखा खोलकर ही की थी इसलिए भारतेन्दु का 'खुली सिखा हू बाँधिबे' बिलकुल ही बेतुका हो गया—पाठ बदला भी पर बात न बन सकी—गुनाह बेलज्जत रहा।

अनुवाद

भारतेंदु ने मुद्राराक्षस का यह अनुवाद भारत की राजनतिक स्थिति का दख कर किया प्रतीत होता है। यद्यपि भूमिका मे इसका कोई सकेत नही है पर अनुवाद के पीछे उपसहार (क) म यथावसर गाने के लिए जो गीत भारतेन्दु ने रचे है, उनसे यह स्पष्ट पता चलता है। इन गीता का प्रधान स्वर 'जग म घर की फूट बुरी, अरि सो छल किए दोष नहिं, छलियन सा रहो सावधान 'कनक-दृष्टि म्लेच्छन हू निमि किन अब लौ मारि नसायो और 'लहो सुख सब विधि भारतवासी जसी पदावलियो से प्रकट है। उस राजनीतिक चेतना के वातावरण म भारतेन्दु जसे सजग नेता का ध्यान मुद्राराक्षस के अनुवाद की ओर न जाता तो और किसका जाता? सम्भवत यही व्यजना इस तथ्य से होती है कि अनुवाद राजा शिवप्रसाद को समर्पित किया गया है जो शिक्षा विभाग में रह कर हिन्दी को राजनतिक प्रश्रय दिला रहे थे।

मुद्राराक्षस का अनुवाद करते हुए भारतेन्दु के मन म यह कल्पना भी रही प्रतीत होती है कि इस रगमच पर खेला जाएगा। गीत देन का यही उद्देश्य हो सकता है। परन्तु इसम सत्य हरिश्चन्द्र की तरह पात्रो के आहाय (वेप आदि) सकेत नहीं दिए गए हैं। मुद्राराक्षस को छोडकर और किसी अनुवाद म गातो की यह व्यवस्था भारतेन्दु न नहीं की।

अनुवाद के आरम्भ म नाटक के इतिवत्त स सम्बद्ध पूवकथा पुराणो आदि के आधार पर दी गई है और अन्त म दो उपसहार दिए गए हैं जिनम स प्रथम म गीत और द्वितीय में चन्द्रगुप्त के इतिहास विषयक सामग्री का सकलन है। यह सामग्री इस समय इतिहास की दृष्टि से कोई महत्त्व नही रखती, परन्तु इसम भारतेन्दु की शोधप्रियता का अवश्य पता चलता है। उपसहार (क) म ११ गीत दिए गए हैं जो नाटक खेलते हुए जहाँ-तहाँ गाने के लिए अभिप्रेत हैं।

नाटयविधान

नान्दी संस्कृत नाटक नान्दी श्लोक स आरम्भ हुआ करता है। उसम नाटकीय दृश्य और व्यापार के स्थान आदि का निर्देश नही किया जाता। अनुवादक ने राजा लक्ष्मणसिंह के सदश, नान्दी स पहले स्थान रगभूमि और रगशाला म नान्दीपाठ' लिख कर स्थान और व्यापार का निर्देश किया है।

इसके बाद मूल नाटक के नान्दी श्लोको स पहले अपना एक मगलाचरण का पद दिया है। इसे अनुवाद की निर्विघ्न समाप्ति आदि के लिए किया गया मगलाचरण सम *झना चाहिए क्योंकि इसम नाटकीय इतिवत्त या पात्रो की कोई व्यजना नहीं है। इसम* श्लेप म घन तथा कृष्ण की विजय-कामना की गई है।

भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर॥

यहा शब्द श्लेप और अर्थ श्लेप दोनो हैं—श्लेप स निकलनेवाले दोनो अर्थ वाच्य हैं।

मूल के नान्दी श्लोकों के अनुवाद में भारतेन्दु के परिश्रम और चातुर्य पर विशेष ध्यान जाता है। प्रथम श्लोक में कविनिष्ठ शिवरति अंगी व्यंग्य है और व्यंजक वस्तु है शिव और भवानी का वार्तालाप। इसमें सन्दर्भ पदों का प्रयोग जिस चतुराई से हुआ है, वही अनुवाद में भी दिखाई देता है।

मूल श्लोक इस प्रकार है

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला। किन्तु नामैतदस्या ?
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥ (१ १)

इस श्लोक में यह प्रसंग है कि शिवजी ने पृथ्वी को रसातल में जाने से रोकने के लिए वैकुण्ठलोक से गिरती हुई गंगा को अपने सिर पर ले लिया। गंगा स्त्री हुई—अतएव उसको शिवजी के सिर पर विराजमान देखकर पार्वती ने व्यंग्य करते हुए पूछा 'यह कौन धन्य (सौभाग्यशालिनी) नारी आपके सिर पर विराजमान है ?' शिवजी ने, शठनायक की तरह बातों का रुख बदलने की चेष्टा की, और पार्वती के प्रश्न को अपने मस्तक पर विराजमान चन्द्र के बारे में मानकर चन्द्र के लिए स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग करते हुए उत्तर दिया 'यह शशिकला है ?' पार्वती ने पूछा, 'क्या इस (नवागता नारी) का नाम शशिकला है ?' शिव बोले, हाँ, हाँ, यही नाम है। तुम तो इस (चन्द्र) से बहुत समय से परिचित हो। इसका नाम भूल कैसे गई ?' तब पार्वती ने साफ साफ कहा 'मैं नारी को पूछती हूँ इन्दु को नहीं, अर्थात् मैं आपके सिर पर मौजूद नारी के विषय में पूछ रही हूँ, चन्द्र के विषय में नहीं।' पर शिवजी ने सब कुछ समझते हुए भी उस वाक्य का दूसरा सम्भव अर्थ लगाया—'मैं नारी से पूछती हूँ, चन्द्र से नहीं' और उत्तर दिया 'चन्द्र से नहीं पूछना चाहती, नारी से ही पूछना चाहती हो तो अपनी सखी विजया से पूछ लो। वह बता देगी कि मेरे सिर पर चन्द्र ही है।'

इस सारी वस्तु को अब अनुवादक के शब्दों में देखिए

कौन है सीस पै' ? 'चन्द्रकला', 'कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी ?'
'हाँ, यही नाम है, भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान पियारी।'
'नारिहि पूछत चन्द्रहि नाहिं' 'कहै विजया जदि चन्द्र लबारी।'
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी ॥

मूल के प्रश्न और उत्तर अपने पूरे अर्थ के साथ बड़ी सफाई से रखे गए हैं। 'नारीं पृच्छामि नेन्दुं' वाली द्व्यर्थकता भी 'नारिहि पूछत चन्द्रहि नाहिं' में बड़े कौशल से लायी गई है। मूल लेखक ने पहले 'शशिकला', और फिर 'इन्दु' शब्दों का प्रयोग किया था। अनुवादक ने पहले 'चन्द्रकला' और फिर 'चन्द्र' शब्द रखा है जो अधिक संगत मालूम होता है—जो पहले स्त्रीलिंग था, वही पुल्लिंग में है जबकि मूल में स्त्रीलिंग शब्द और पुल्लिंग शब्द भिन्न भिन्न होने से भग्न प्रक्रमता दोष आ गया है।

मूल का 'धन्या' शब्द, जो बड़ा ईर्ष्या-व्यंजक था, अनुवाद में नहीं आ सका। इसी प्रकार मूल में 'शठ' का प्रयोग नाटक के इतिवृत्त आदि की व्यंजना का ध्यान रखते हुए

अनुवाद

भारतेन्दु ने मुद्राराक्षस का यह अनुवाद भारत की राजनतिक स्थिति को देख कर किया प्रतीत होता है। यद्यपि भूमिका में इसका कोई संकेत नहीं है, पर अनुवाद के पीछे उपसंहार (क) में यथावसर गान के लिए जो गीत भारतेन्दु ने रचे हैं उनसे यह स्पष्ट पता चलता है। इन गीतों का प्रधान स्वर 'जग में घर की फूट बुरी', 'अरि सों छल किए दोष नहिं छलियन सों रहो सावधान', 'कनक-दृष्टि म्लेच्छन हू तिमि किन अब लौं मारि नसायो' और 'लहो सुख सब विधि भारतवासी' जैसी पदावलियों से प्रकट है। उस राजनीतिक चेतना के वातावरण में भारतेन्दु जैसे सजग नेता का ध्यान मुद्राराक्षस के अनुवाद की ओर न जाता तो और किसका जाता? सम्भवतः यही व्यंजना इस तथ्य से होती है कि अनुवाद राजा शिवप्रसाद को समर्पित किया गया है जो शिक्षा विभाग में रह कर हिन्दी को राजनतिक प्रश्रय दिला रहे थे।

मुद्राराक्षस का अनुवाद करते हुए भारतेन्दु के मन में यह कल्पना भी रही प्रतीत होती है कि इस रंगमंच पर खेला जाएगा। गीत देने का यही उद्देश्य हो सकता है। परन्तु इसमें सत्य-हरिश्चन्द्र की तरह पात्रों के आहार्य (वेष आदि) संकेत नहीं दिए गए हैं। मुद्राराक्षस को छोड़कर और किसी अनुवाद में गीतों की यह व्यवस्था भारतेन्दु ने नहीं की।

अनुवाद के आरम्भ में नाटक के इतिवृत्त से सम्बद्ध पूर्वकथा पुराणों आदि के आधार पर दी गई है और अन्त में दो उपसंहार दिए गए हैं जिनमें से प्रथम में गीत और द्वितीय में चन्द्रगुप्त के इतिहास विषयक सामग्री का संकलन है। यह सामग्री इस समय इतिहास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती परन्तु इससे भारतेन्दु की शोधप्रियता का अवश्य पता चलता है। उपसंहार (क) में ११ गीत दिए गए हैं जो नाटक खेलते हुए जहाँ-तहाँ गाने के लिए अभिप्रेत हैं।

नाट्यविधान

नान्दी संस्कृत नाटक नान्दी श्लोक से आरम्भ हुआ करता है। उसमें नाटकीय दृश्य और व्यापार के स्थान आदि का निर्देश नहीं किया जाता। अनुवादक ने राजा लक्ष्मणसिंह के सदृश नान्दी से पहले स्थान रंगभूमि और 'रंगशाला में नान्दीपाठ' लिख कर स्थान और व्यापार का निर्देश किया है।

इसके बाद मूल नाटक के नान्दी श्लोकों से पहले अपना एक मंगलाचरण का पद दिया है। इसे अनुवाद की निर्विघ्न समाप्ति आदि के लिए किया गया मंगलाचरण समझना चाहिए क्योंकि इसमें नाटकीय इतिवृत्त या पात्रों की कोई व्यंजना नहीं है। इसमें श्लेष से घन तथा कृष्ण की विजय-कामना की गई है।

भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर॥

यहाँ शब्द-श्लेष और अर्थ श्लेष दोनों हैं—श्लेष से निकलनेवाले दोनों अर्थ वाच्य हैं।

मूल के नान्दी श्लोकों के अनुवाद में भारतेन्दु के परिश्रम और चातुर्य पर विशेष ध्यान जाता है। प्रथम श्लोक में कविनिष्ठ शिवरति अंगी व्यंग्य है और व्यंजक वस्तु है शिव और भवानी का वार्तालाप। इसमें संस्कृत पदों का प्रयोग जिस चतुराई से हुआ है, वही अनुवाद में भी दिखाई देती है।

मूल श्लोक इस प्रकार है

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला किं नु नामैतदस्या ?
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥ (१ १)

इस श्लोक में यह प्रसंग है कि शिवजी ने पृथ्वी को रसातल में जाने से रोकने के लिए वैकुण्ठलोक से गिरती हुई गंगा को अपने सिर पर ले लिया। गंगा स्त्री हुई—अन्य स्त्री को शिवजी के सिर पर विराजमान देखकर पार्वती ने व्यंग्य करते हुए पूछा यह कौन धन्य (सौभाग्यशालिनी) नारी आपके सिर पर विराजमान है? शिवजी ने शठनायक की तरह पार्वती को मूर्ख बनाने की चेष्टा की, और पार्वती के प्रश्न को अपने मस्तक पर विराजमान चन्द्र के बारे में मानकर चन्द्र के लिए स्त्रीलिंग रूप का प्रयोग करते हुए उत्तर दिया 'यह शशिकला है?' पार्वती ने पूछा 'क्या इस (नवागना नारी) का नाम शशि कला है?' शिव बोले, हाँ हाँ, यही नाम है। तुम तो इस (चन्द्र) से बहुत समय से परिचित हो। इसका नाम भूल कैसे गई? तब पार्वती ने साफ साफ कहा मैं नारी को पूछती हूँ इन्दु को नहीं अर्थात् मैं आपके सिर पर मौजूद नारी के विषय में पूछ रही हूँ, चन्द्र के विषय में नहीं। पर शिवजी ने सब कुछ समझते हुए भी उस वाक्य का दूसरा सम्भव अर्थ लगाया— मैं नारी से पूछती हूँ चन्द्र से नहीं और उत्तर दिया, चन्द्र से नहीं पूछना चाहती, नारी से ही पूछना चाहती हो तो अपनी सखी विजया से पूछ लो। वह बता देगी कि मेरे सिर पर चन्द्र ही है।

इस सारी वस्तु को अब अनुवादक के शब्दों में देखिए

कौन है सीस पै? 'चन्द्रकला' 'कहा याको है नाम यहा त्रिपुरारी?'
हाँ, यही नाम है, भूल गई किमि जानत हू तुम प्रान पियारी।
नारिहिं पूछत चन्द्रहिं नाहिं' कहै विजया जदि चन्द्र लबारी।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥

मूल के प्रश्न और उत्तर अपने पूरे अर्थ के साथ बड़ी सफाई से रखे गए हैं। नारीं पृच्छामि नेन्दुं वाली द्वयर्थकता भी 'नारिहिं पूछत चन्द्रहिं नाहिं' में बड़े कौशल से लायी गई है। मूल लेखक ने पहले शशिकला, और फिर इन्दु शब्दों का प्रयोग किया था। अनुवादक ने पहले 'चन्द्रकला और फिर 'चन्द्र शब्द रखा है जो अधिक संगत मालूम होता है—जो पहले स्त्रीलिंग था, वही पुंलिंग में है जबकि मूल में स्त्रीलिंग शब्द और पुंल्लिंग शब्द भिन्न भिन्न होने से भग्न प्रक्रमता दोष आ गया है।

मूल का 'धन्या शब्द', जो बड़ा ईर्ष्या व्यंजक था, अनुवाद में नहीं आ सका। इसी प्रकार मूल में शब्दों का प्रयोग नाटक के इतिवृत्त आदि की व्यंजना का ध्यान रखते हुए

किया गया था। पार्वती के लिए देवी शब्द दिव्य गुण-सम्पन्न सत्यप्रधान ऋजुनीति के लिए सुरसरित कुटिल गामिनी किन्तु मंगलकारिणी नीति के लिए, और विभु शब्द व्यापक प्रभाव या अदभुत बुद्धि वाले चाणक्य के सूचन के लिए रखे गए थे। अनुवाद में गिरिजा गंगा और ईस शब्दों का प्रयोग वह व्यंजना करने में असमर्थ है।

इस श्लोक से चाणक्य का अपने स्वार्थ से रहित होकर लोकमंगल के लिए नीति संचालन करना भी व्यंजित है। वीतराग शिव में दिखाया गया प्रेम और छल वीतराग चाणक्य में धर्मनीति और कूटनीति का संयोग सूचित करता है।

मूल के स्रग्धरा छंद का अनुवाद मत्तगयन्द (सात भकार गुरु युग हो जब मत्तगयन्द कहै तब ताको) में हुआ है। स्रग्धरा २१ वर्णों का छन्द है और मत्तगयन्द २३ वर्णों का। केवल आठ वर्ण अधिक लेकर पूरा अर्थ प्रस्तुत करने में अनुवादक ने सचमुच प्रशंसनीय कार्य किया है। मत्तगयन्द वर्णवृत्त है—इसमें लघुगुरु भार उच्चारण द्वारा नियन्त्रित है।

इसी प्रकार 'नान्दी' के दूसरे श्लोक का अनुवाद भी सुन्दर हुआ है। उसमें भी वाच्य वस्तु से शिव प्रीति व्यंग्य है। नाट्यार्थसूचन के लिए शिव की उग्रता प्रचंडता और त्रिपुरविजयिता का उल्लेख किया गया है। लोकमंगल के लिए कष्टपूर्वक संयत रहने वाले त्रिपुरविजयी शिव से चाणक्य का चरित्र ध्वनित होता है।

यहाँ अष्टपदा नान्दी थी—अनुवादक ने भी आठ ही वाक्य रखे हैं।

स्थापना यहाँ सूत्रधार ने पात्रसूचक कथन द्वारा रूपक की स्थापना की है। इसके लिए पहले एक श्लिष्टार्थक श्लोक रखा है, जिसके अनुवाद में बड़ा कौशल अपेक्षित था। भारतेन्दु ने मूल का स्पष्ट रीति से समझकर अनुवाद भी श्लिष्टार्थक ही रखा है और उसके ठीक अर्थ के बारे में विद्वानों के विचार पादटिप्पणी में दिए हैं।

मूल श्लोक यह है

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः॥

इसका अनुवाद देखिए

चन्द्र बिम्ब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करिहैं ग्रास कस जेहि बुध रच्छत आप॥

उपर्युक्त श्लिष्ट श्लोक के तीन चरणों के बाद पात्र चाणक्य की नेपथ्य से आवाज आती है और उसके प्रवेश से ही रूपक आरम्भ होता है।

आमुख यहाँ आमुख का कथोद्घात नामक भेद है। इसमें, जैसा कि पिछले अनुच्छेद में दिखाया गया है चाणक्य सूत्रधार के वाक्य का अर्थ पकड़कर प्रवेश करता है। मूल की श्लिष्टार्थकता अनुवाद में वर्तमान है।

वीथ्यंग नालिका पहले अंक के आरम्भ में निपुणक और शाङ्गरव के बीच हुई नाक झोंक नालिका है। उसके अनुवाद में भी अनुवादक ने बड़ी सुन्दरता और कुशलता से मूल में निहित द्वयर्थकता को अक्षुण्ण रखा है और गूढ़ वचन का अनुवाद गूढ़वचन के रूप में ही किया है। मूल में कस्स चन्दो अणभिप्पदो त्ति (कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति)

था, अनुवाद में 'चन्द्र जिसको अच्छा नहीं लगता' रखा है। यहाँ चन्द्र शब्द के स्थान पर और कोई शब्द ठीक नहीं रहता—क्योंकि चन्द्रगुप्त और चन्द्रमा ये दोनों अर्थ निकलते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत और हिन्दी भाषा के पारिवारिक सम्बन्ध और हिन्दी की संस्कृत तत्सम शब्दों को अपना लेने की प्रवृत्ति के कारण ही ये शब्दमूलक विशेषताएँ अनुवाद में आ सकी हैं।

प्रकृति पात्रों का भाषाभेद मुद्राराक्षस के अनुवाद में नहीं रखा गया। मूल में संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

फिर भी कहीं कहीं पात्र की प्रवृत्ति के सूचक शब्दप्रयोग मिलते हैं। द्वितीय अंक के आरम्भ में मदारी का वचन देखिए। मूल में उसका कथन 'जानन्ति तन्त्रयुक्तिं०' (२ १) से आरम्भ होता है जिसका अनुवाद तन्त्रयुक्ति सब० आदि है। पर अनुवादक ने इससे पहले अपनी ओर से इतना और जोड़ दिया है, 'अललल लललल, नाग लाए साँप लाए। ऐसे वचन मदारी डमरू बजाते हुए भीड़ जमा करने के लिए कहा करते हैं।

आमन्त्रण शब्दों के अनुवाद में इस रचना में अधिकतर मूल का अनुकरण ही मिलता है। पर कहीं-कहीं कुछ अन्तर किया गया है, जैसे 'बाबा' जी शब्द साधु को बुलाने में प्रयोग किया है (अंक १)। और शाङ्गरव जैसे बोलने में कठिन शब्द में स्वरभक्ति करके शारंगरव कर दिया है। यही रूप लक्ष्मणसिंह के शकुन्तला में भी मिलता है।

पताका स्थानक पताका-स्थानक में अनुवादक के कौशल की अच्छी परीक्षा हुआ करती है। मुद्राराक्षस के प्रथम अंक में २०वें श्लोक के बाद थोड़े थोड़े अन्तर से तीन पताका-स्थानकों का प्रयोग हुआ है। इनमें से पहला और दूसरा तो प्रथम प्रकार का पताका स्थानक है, और तीसरा तृतीय प्रकार का। इस तीसरे के अनुवाद में भारतेन्दु को सफलता नहीं मिली।

पहला प्रसंग—प्रथम अंक में गुप्तचर से बातचीत के बाद चाणक्य मन में कहते हैं

> किमत्र निरूपामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्य ।
> प्रतिहारी—(प्रविश्य) जेदु जेदु अज्जो (जयतु जयत्वार्य)
> चाणक्य —(सहर्षमात्मगतम्) गृहीतास्य जयशब्द ।
> इसके अनुवाद में अनुवादक को कोई कठिनाई नहीं हुई।
> दूसरा प्रसंग—ऊपर वाले वचन से कुछ आगे चलकर—
> चाणक्य —(स्वगतम्) हन्त। जितो मलयकेतु ।
> सिद्धार्थक —(लेखहस्त प्रविश्य) जयतु जयत्वार्य ।
> दूसरा अनुवाद भी पहले की तरह ठीक है।

तीसरा प्रसंग—ऊपर वाले प्रसंग से कुछ और आगे चलकर शिष्य के बाहर चले जाने पर चाणक्य आप ही चिन्ता कर रहा है कि क्या किसी तरह दुष्ट राक्षस पकड़ा जाएगा। इससे पहले वह सिद्धार्थक को कुछ समझा रहा था। मूल पदावलि यह है

> चाणक्य —(चिन्तां नाटयित्वा स्वगतम्) अपि नाम दुरात्मा राक्षसः गृहीत ?
> सिद्धार्थक —आर्य। गृहीत (अज्ज गहीदो)

प्रयोग हुआ भी रस के अनुरूप है जैसे अमर्ष की व्यंजना में भुजगप्रयात (चार यगण) छंद है, गम्भीर कथन में मत्तगयन्द, साधारण कथन में दोहा आदि।

गीत

मुद्राराक्षस के अनुवाद में चार अनूदित गेय गीत और दस अनुवादक द्वारा रचित मौलिक गीत दिए गए हैं। इन गीतों के ऊपर भारतेन्दु ने चाल या तर्ज अथवा राग-ताल का नाम दिया है। चाल या तर्ज का संकेत उस समय पारसी थियेटरों में प्रसिद्ध गीतों की तर्जों से किया गया है। इन गीतों के गान का अवसर भी बताया गया है। इनमें आठवें प्रासादिक निष्क्रम—तीनों प्रकार के ध्रुवागान हैं।

अनूदित गीतों में से तीन तीसरे अंक में वैतालिकों के गाए हुए हैं। इनमें से पहले वैतालिक के दो गीत ध्रुवागान मात्र के लिए हैं और तीसरा जो कड़खे की चाल में गाने के लिए है इतिवृत्त से सम्बद्ध है। चौथा अनूदित गीत मूल के भरतवाक्य वाले श्लोक का जो अनूदित नाटक के अंत में संस्कृत में दिया गया है, स्वतन्त्र अनुवाद है और राग विहाग में रखा गया है।

मौलिक गीतों में से एक मंगलाचरण के लिए, सात गीत प्रत्येक अंक के आरम्भ में गान के लिए और दो भरतवाक्य के ध्रुवागान के बाद गाने के लिए रख गए हैं।

मंगलाचरण, भरतवाक्य और पहले वैतालिक के दो आशीर्वाद के गीतों को छोड़ कर शेष गीत नीतिपरक हैं। इनमें लोकनीति के अनुसार चलने का प्रेरणा है और जगत के व्यापार की हलकी ध्वनि है।

मौलिक गानों का पदरचना बड़ी मधुर और सार्थक हुई। सम्भवतः समकालीन राजा की स्तुति करने की कविपरम्परा का निर्वाह करने के लिए भारतेन्दु ने भरतवाक्य के बाद 'चिरजीओ सदा विक्टोरिया रानी' वाला गीत लिखा है। परन्तु इसके बाद वाले ध्रुपद में उनके हृदय की सच्ची ध्वनि सुनाई देती है

जागो मुख सब विधि भारतवासी।

विद्याकला जगत की सीखो तजि आलस की फासी।

अपना धर्म परम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।।

अनन्तर गान देने का आरम्भ राजा लक्ष्मणसिंह ने अपने अनुवाद शकुन्तला नाटक में किया था। परन्तु भारतेन्दु ने बीच में गान के लिए जो मौलिक गीत बनाए, वे नाट्यशास्त्र में वर्णित ध्रुवागान से प्रेरणा लेकर बनाए हैं। इससे यह भी पता चलता है कि भारतेन्दु ने नाटकों का, विशेषकर इस नाटक का, अनुवाद मंच पर खेलने के लिए किया था केवल साहित्य के रसास्वादन के लिए या बालकों के पढ़ने के लिए नहीं।

अनुवाद के दोष

मूल संस्कृत के शुद्ध अनुवाद की दृष्टि से देखें तो भारतेन्दु के अन्य अनुवादों से मुद्राराक्षस में सबसे अधिक अशुद्धियाँ हैं। मूल से मिलान करने पर पता चलता है कि संस्कृत को ठीक तरह नहीं समझा गया जिससे कई स्थानों पर अनुवाद में

और प्रसग से असगत हो गया। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक अशुद्धिया मूल सस्कृत प्रति के शुद्ध न होने स भी हानी सम्भव है।

कुछ महत्त्वपूण अशुद्धियो का यहा उल्लेख किया जाता है।

१ तीसरे अक मे राजा और चाणक्य के कृतक-कलह म श्लाक २८ क बाद क मूल सवाद इस प्रकार हैं

राजा—अयेनवेदमनुष्ठितम।

चाणक्य —आ, केन ?

राजा—नदकुलविद्वषिणा दवेन।

चाणक्य —दैवमविद्वास प्रमाणयन्ति।

राजा—विद्वासोऽप्यविकत्थना भवन्ति।

इनमे से राजा का प्रथम वचन चाणक्य के यह कहने के बाद आता है कि मैंने कसे कसे भारी काम किए हैं (श्लोक २७, २८)

अब उपर के सवाद का अनुवाद देखिए

"च द्र०—यह सब किसी दूसरे ने किया।

चाणक्य—किसने ?

च द्र०—न दकुल के द्वेषी दव न।

चाणक्य —दव तो मूख लाग मानते हैं।

च द्र०—और विद्वान लोग भी यद्वा-तद्वा करते हैं।'

यहा च द्रगुप्त के अतिम कथन का अनुवाद न केवल बिलकुल गलत है, असगत भी है। मूल म चाणक्य के दूसर कथन 'दैवमविद्वास ०' से यह वस्तु ध्वनित थी कि 'दैव की दुहाई देनेवाले तुम विद्याशू य मूख हो। यह कडी बात सुनकर च द्रगुप्त ने व्यजना से ही गहरी चोट की—उसन कहा कि 'विद्वान लोग अपने मुह मिया मिट्ठू नही बना करते।' ध्वनि यह हुइ कि आप भी विद्वान नही हैं, क्योंकि आप स्वय अपनी प्रशसा कर रहे हैं।

अनुवाद मे च द्रगुप्त का अतिम कथन है—'और विद्वान लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।' ध्वनि यह हुई कि 'विद्वान लाग भी दव के अस्तित्व का स्पष्ट निषेध नही करते।" इससे ऐसा लगता है जस दव के अस्तित्व के बारे मे बहस करना उन दोना का मुख्य विधेय हो। वस्तुत उनका मुख्य विधेय एक दूसर को जली-कटी बातें सुनाकर क्रोध प्रकट करना है। चाणक्य के अगल कथन से यह बात बडी स्पष्ट हो जाती है

चाणक्य—(क्रोध नाटय करक) अरे वपल, क्या नौकरा की तरह मुझपर आज्ञा चलाता है। इत्यादि।

२ द्वितीय अक मे श्लाक १५ क बाद वाले राक्षस—विराधगुप्त सवाद म,

राक्षस —किमतिमष्ट पवतश्वरभ्रात्रे वरोचकाय पूवप्रतिश्रुत राज्याधम् ?

विराधगुप्त —अथ किम ?

राक्षस —(आत्मगतम) नियतमतिधूतवटुना तस्यापि तपस्विन कमप्युपाशु वधमाकलय्य पवतश्वरविनाशजनितस्यायशस परिहारायमपा लाकप्रतिपत्तिरुपचरिता।

(प्रकाशम) ततस्तत ?

इसका अनुवाद यह है

राक्षस—क्या पर्वतेश्वर के भाई वरोधक[१] को आधा राज मिला यह पहले ही उसने सुना दिया ?

विराधगुप्त—हा तो इससे क्या हुआ ?

राक्षस—(आप ही आप) निश्चय यह ब्राह्मण बडा धूर्त है कि इसने उस सीधे तपस्वी से इधर उधर की चार बात बनाकर पर्वतेश्वर के मारने के अपयश निवारण के हेतु यह उपाय सोचा। (प्रकाश) अच्छा कहो—तब ?

यहा राक्षस के प्रथम कथन पूर्वप्रतिश्रुतम पद का असली अर्थ था पहले प्रतिज्ञात या जाने का पहले वचन दिया था, वह। इसके बाद विराध के 'अथ किम' का अर्थ है—और क्या अथवा हा। परन्तु राक्षस के प्रथम वचन का अनुवाद गलत करने के कारण विराध के इस कथन का भी गलत अनुवाद करके संगति बठाने का विफल प्रयत्न किया गया है। इसके बाद राक्षस के आत्मगत कथन म उपांशुवधमाकनय्य का अनुवाद नहीं किया। इसके स्थान पर अपनी ओर से इधर-उधर की दो चार बातें बनाकर पद्य बना रख दी गई है। अनुवाद की यह पदावली मूल का शुद्ध अनुवाद तो किसी भी प्रकार नहीं है।

३ तृतीय अंक के आरम्भ म राजा प्रवेश करने के बाद स्वगत कहता है

राजा—(स्वगतम्) राज्य हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरतन्त्रस्य भूरतेमहदप्रीति स्थानम। यत —(श्लोक ५)

अपि च दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभि। कुत ?—

(श्लोक ५)

अथवा शश्वदार्योपदेशसंस्क्रियमाणमतय मन्वास्वतन्त्रा वयम। कुत ?—

इसका अनुवाद देखिए

राजा—(आप ही आप) राज उसीका नाम है जिसम अपनी आज्ञा चले। दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है।

(पद्य)

और राज्य पाकर भी दुष्ट राजलक्ष्मी का सभालना बहुत कठिन है।

(पद्य)

अथवा गुरुजन के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतन्त्र हैं।

इस सदर्भ म राजा के प्रथम वचन का अनुवाद गलत भी है और असगत भी। मूल के अनुसार चन्द्रगुप्त यह कह रहा है कि राजा को राजनियमो के अधीन चलना पडता है अत उसे राज्य दुःखदायी होता है। वह सामान्य रूप से यह बात कह रहा है जो अप्रस्तुतप्रशसा से उसके अपने विषय म भी लागू होती है। परन्तु वह वस्तुत चाणक्य के अधिकार से विद्रोह नहीं कर रहा। वह तो बनावटी झगडा करने वाला है और आगे स्वयं कहता है परतन्त्रमन स्वातन्त्र्यम्या वय हि पराङ मुखा (३ ६)। अनुवाद से ऐसा

[१] वैरोचक और वैरोधक, ये संस्कृत में पाठभेद हैं।

प्रतीत होता है कि जैसे वह अपने राजत्व को सचमुच ही दुःखदायी समझता है।

अगले वाक्य में 'आत्मवदभि' का अनुवाद छोड़ दिया है। इस अनुवादवाक्य से भी यही प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त अपने-आपको लक्ष्य करके यह बात कह रहा है। वस्तुत उसका कथन सामान्य रूप में ही है।

तीसरे वाक्य में मूल से बिलकुल उल्टा और असगत अनुवाद हुआ है। मूल है अस्वतन्त्रा वयम अनुवाद है हम स्वतन्त्र हैं। यह अनुवाद प्रसग में ठीक भी नहीं बैठता। अगले श्लोक में वह स्वय अपनी स्वतन्त्रता का क्षेत्र निर्दिष्ट करता है और कहता है कि इससे अधिक स्वतन्त्रता हम चाहिए भी नहीं।

इस प्रकार की भाषान्तरण सम्बन्धी अशुद्धियों के और भी कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं।

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक पर टिप्पणी

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक १८७६ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। उससे पहले यह 'काशी पत्रिका' नामक पाक्षिक पत्र में क्रमश प्रकाशित हो चुका था।

शुक्लजी ने इसे भारतेन्दु के अनुवादों में गिनाया है और किसी बगला नाटक का अनुवाद बताया है (इतिहास पृष्ठ ४६१)। पर किसी परवर्ती लेखक ने शुक्लजी के इस कथन को स्वीकार नहीं किया।

डा० सोमनाथ गुप्त इसे चडकौशिक का अशत अनुवाद और अशत मौलिक होने के कारण रूपान्तर मानते हैं (हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ४८)।

हम इस समस्या पर विचार को स्पष्ट रीति से प्रस्तुत करने के लिए निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देने का यत्न करेंगे—

१ क्या 'सत्यहरिश्चन्द्र' किसी बगला नाटक का अनुवाद है?
२ क्या यह 'चडकौशिक' या अन्य किसी सस्कृत नाटक का अनुवाद है?
३ क्या यह 'चण्डकौशिक' का रूपान्तर है?
४ क्या यह मौलिक है?

१ बगला से अनुवाद?

हमारे विचार से यह किसी बगला नाटक का अनुवाद नहीं है। प्रथम तो स्वय शुक्लजी ने किसी बगला नाटक का नाम नहीं दिया और न किसी बाद के लेखक ने ही ऐसा कोई बगला नाटक देखा, जिसका इसे अनुवाद कहा जा सके। दूसरे, इसकी प्रस्तावना स्पष्टत अनुवाद नहीं हो सकती। तीसरे, नाटक में काशी वर्णन आदि अनेक स्थल अनुवाद नहीं हो सकते। चौथे पिछले दो अकों में चडकौशिक का बहुत सारा अश मौलिक या अनूदित रूप में लिया गया है—यदि 'सत्यहरिश्चन्द्र' को बगला का अनुवाद मानें तो यह स्वीकार करना होगा कि यह सारा अश चडकौशिक से बगला में गया और फिर उससे हिन्दी में आया—अर्थात् बगला नाटक भी अशत चडकौशिक का अनुवाद था। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए तो फिर इन अशों का बगला का अनुवाद कहने की अपेक्षा चड

कौशिक का अनुवाद कहना कहा अधिक संगत है, विपरीत तब जबकि अनेक श्लोक संस्कृत से ही लिए गए हैं। स्वयं भारतेन्दु ने इस नाटक की भूमिका में चंडकौशिक का उल्लेख किया है।

निष्कर्ष यह कि इसके बंगला का अनुवाद होने में शुक्लजी के कथन को छोड़कर और कोई भी गवाही नहीं है।

श्री रुद्र काशिकेय की खोज के अनुसार, बंगला में एक नाटक काशीनाथ भट्टाचार्य का 'कुपितकौशिक' है जो चण्डकौशिक के आधार पर लिखा गया है। प्रतीत होता है कि शुक्लजी ने जो बंगला नाटक देखा था, वह यही है। दोनों रचनाओं का मिलान करने से स्पष्ट है कि इन दोनों में समानता इसी कारण है कि दोनों ने चंडकौशिक का आश्रय लिया है। पर भारतेन्दु की रचना बंगला रचना से दो वर्ष पहले प्रकाशित हो चुकी थी। कुपितकौशिक का रचनाकाल १८७८ ई० (२५ वैशाख संवत् १९३५) है और सत्यहरिश्चन्द्र का १८७६ ई०। (देखिए शिवप्रसाद मिश्र रुद्र काशिकेय द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सत्य हरिश्चंद्र, पृष्ठ ७०–७६)

२ चंडकौशिक का अनुवाद ?

सत्यहरिश्चन्द्र की प्रस्तावना, पहला अंक और दूसरा अंक चंडकौशिक से भिन्न हैं। तीसरा चौथा अंक बहुत कुछ चंडकौशिक से संक्षिप्त करके लिए गए हैं। कोई कोई अंश सीधे अनुवाद भी हैं। पर, इस आधार पर सारे सत्यहरिश्चन्द्र को चंडकौशिक का अनुवाद कह देना असंगत है।

रामचंद्र सूरि के सत्यहरिश्चन्द्र नाटक से भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' में कोई सामग्री अनूदित की हुई नहीं है।

३ रूपांतर ?

डा० सोमनाथ गुप्त ने पहले दो अंकों की सामग्री चंडकौशिक से भिन्न और शेष दो को चंडकौशिक के आधार पर लिखी गई होने से इसे उसका रूपान्तर मान लिया था।

हम बता चुके हैं (भूमिका, खण्ड ५) कि 'रूपान्तर' केवल वह रचना कहला सकती है जिसमें मूल रचना में मामूली ऊपरी हेर फेर किया गया हो। जहां इतिवृत्त भिन्न हो और रस भिन्न हो वहां रूपांतर का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

रूप नाटक के शरीर और आत्मा को नहीं कहा जा सकता उसका ऊपरी विशेष ताओं को ही कहा जा सकता है। नाटक का शरीर उसका इतिवृत्त है और आत्मा रस। यही किसी नाटक का निजी व्यक्तित्व है। तभी दशरूपककार ने कहा है वस्तु नेता रस रूपाणां भेदकः अर्थात् वस्तु, पात्र और रस एक नाटक को दूसरे नाटक से भेद करने की कसौटी हैं। तो, कोई रचना किसी नाटकरचना का रूपान्तर तब ही कही जा सकती है जबकि मूल और निजी रचना में वस्तु, पात्र तथा रस की अभिन्नता बनी रहे और दोनों रचनाओं के कालभेद आदि के कारण मूल रचना में केवल बाह्य रूप में हेर फेर किया गया हो। रूप का मुख्य सम्बन्ध शरीर से ही है आत्मा से नहीं, इसलिए

शरीर को बिना बदले रूप को जो अन्तर किया जाए उसे ही रूपान्तर कहा जा सकता है। यदि शरीर बदल गया तो नाटक ही दूसरा हो गया। यो समझिए जैसे मनुष्य का समय की आवश्यकता के अनुसार दाढ़ी, मूछ या रंग, वेष आदि द्वारा अपना रूप बदल लेना। रूपान्तर शब्द अंग्रेजी एडैप्टेशन का अनुवाद किया गया है। एडप्टेशन शब्द का अर्थ किसी स्थितिविशेष के लिए अनुकूल बनाना है। यह नाटक के इतिवृत्त आदि को बिना बदले मंच आदि की अपेक्षा से किया जाता है।

यदि उपर्युक्त आधार पर 'चंडकौशिक' से 'सत्यहरिश्चन्द्र' की तुलना की जाए, तो पता चलेगा कि 'सत्यहरिश्चन्द्र' को किसी भी प्रकार 'चंडकौशिक' का रूपान्तर नहीं कहा जा सकता।

अर्थप्रकृति आदि पर विचार करें तो चंडकौशिक में बीज है पुत्र और पत्नी का विक्रय करके भी प्रतिज्ञा का पालन (प्रस्तावना)। दूसरी ओर 'सत्यहरिश्चन्द्र' में नारद का यह कथन (प्रथम अंक) बीज है

क्या आपने उसका यह सहज साभिमान वचन नहीं सुना है?

चंद टरै सूरज टरै टरै जगत व्यौहार।

पै दृढ़ श्री हरिचंद को टरै न सत्य विचार॥

दोनों की तुलना करने पर, और दोनों नाटकों के शेष इतिवृत्त पर विचार करने पर, एक बात स्पष्ट दिखाई देती है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' का नायक सत्यप्रतिज्ञता का अभिमान रखता है और इस अभिमान की रक्षा के लिए कटिबद्ध है। उधर चंडकौशिक का नायक इस प्रकार के अभिमान से सर्वथा मुक्त है। वह पहले ही जानता है कि उसपर कष्ट आने वाले हैं। (महोत्पातसूचितानामापदां कुशलपरिणामाय—प्रस्तावना) और अपने सारे कष्टों के लिए भाग्य को बार बार दोष देता है। सारे नाटक में २७ बार भाग्य या काल का उल्लेख हुआ है। इनमें से १८ बार राजा ने भाग्य के कारण कष्ट पाने की बात कही है।

इसी प्रकार दोनों का फल भी भिन्न है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' का फल है धर्म अर्थात् यश की प्राप्ति जो नाटक के अंत में आए हरिश्चन्द्र के इस कथन से प्रकट होता है "अपने दासों का यश बढ़ाने वाला और कौन है?" 'चंडकौशिक' का फल है मोक्ष, जो यश की इच्छा न रखते हुए धर्म करने से होता है।

चंडकौशिक का अंगी रस शान्त करुण है। सत्यहरिश्चन्द्र में लेखक ने अंगी रस करुण को माना है। ब्रजरत्नदास ने इसमें वीर रस अंगी बताया है और 'रुद्र' काशिकेय इसमें रौद्र रस मानते हैं।

भारतेन्दु ने तीव्रता की दृष्टि से करुण को अंगी रस लिखा प्रतीत होता है। हमारे विचार में इसमें वीर रस अंगी है। हरिश्चन्द्र के सत्यप्रतिज्ञता के अभिमान और उत्साह को देखते हुए जो सारे नाटक में व्याप्त है केवल इस कारण करुण को अंगी नहीं माना जा सकता कि लेखक ने इसे अंगी लिखा है। अंगी रस आरम्भ मध्य और अंत तीनों जगह होना चाहिए। सम्भवत करुण को अंगी रस लिखते समय भारतेन्दु के मन में यह बात नहीं थी। पहले दो अंकों में करुण का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें हरिश्चन्द्र का सत्यप्रतिज्ञता का उत्साह स्थायीभाव है कठिनाइयाँ पैदा करने वाली परिस्थितियाँ उद्दीपन

और व्यक्ति (विश्वामित्र) आलम्बन हैं। यह वीर रस पिछले तीन अंकों में तो स्पष्ट ही है पहले अंक में भी हरिश्चन्द्र की सत्यप्रतिज्ञता के उत्साह की चर्चा है।

निष्कर्ष यह हुआ कि सत्यहरिश्चन्द्र चंडकौशिक का रूपांतर नहीं है क्योंकि सत्यहरिश्चन्द्र के इतिवृत्त का बीज और फल तथा रस चंडकौशिक के बीज और फल तथा रस से भिन्न हैं। ये दोनों दो पृथक् रचनाएं हैं।

४ मौलिक ?

तो क्या सत्यहरिश्चन्द्र को मौलिक रचना माना जाए।

रूपांतर के प्रसंग में बताए गए कारणों से सत्यहरिश्चन्द्र निःसन्देह मौलिक रचना ठहरती है। पर इसके तीसरे चौथे अंक की रचना में चंडकौशिक की सामग्री अनुवाद करके प्रयोग में लाई गई है। इस कारण इसे पूर्णतया मौलिक कहना संगत नहीं।

दूसरे नाटकों की सामग्री का उपयोग करके हिन्दी में अनेक नाटकों की रचना हुई है। वर्तमान काल में पं० बदरीनाथ भट्ट का कुरुवनदहन (संस्कृत) वेणीसंहार की सामग्री लेकर लिखा गया है। ऐसी ही कई रचनाएं कैलाशनाथ भटनागर ने की हैं जैसे मुद्राराक्षस की सामग्री से चाणक्य प्रतिज्ञा और वेणीसंहार की सामग्री से भीम प्रतिज्ञा। ऐसी रचनाओं को मौलिक के स्थान पर मौलिक पराश्रयी कहना अधिक संगत होगा। पराश्रयी उन वनस्पतियों (और जीवों) को भी कहते हैं जो अपना पोषण दूसरी वनस्पतियों (और जीवों) से प्राप्त करती हैं सीधे धरती से नहीं।

सत्यहरिश्चन्द्र में कुछ असंगतियां

सत्यहरिश्चन्द्र के कथानक में कई असंगतियां दिखाई देती हैं। चंडकौशिक का कथानक भाग्य की विडम्बना दिखाता है जिसमें हरिश्चन्द्र स्त्रियों का आर्तनाद सुनकर उनकी रक्षा के लिए जाते हैं और विश्वामित्र के कोप के शिकार बनते हैं। ये स्त्रियां महाविद्याएं थीं—हरिश्चन्द्र के बाधा डालने से विश्वामित्र को महाविद्याएं प्राप्त न हो सकीं और इसलिए उनका हरिश्चन्द्र पर क्रुद्ध होना स्वाभाविक है।

भारतेन्दु ने विश्वामित्र का क्रोध प्राय अकारण दिखाया है। केवल यह सुनकर कि नारद राजा हरिश्चन्द्र के सत्य और दान के गुणों की प्रशंसा कर रहे थे, वे इतने क्रोध में आ जाते हैं और कहते हैं

मैं अभी देखता हूं न ! जो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया, तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं। भला मेरे सामने वह क्या सत्यवादी बनेगा और क्या दानीपन का अभिमान करेगा ? (क्रोधपूर्वक उठकर चलना चाहते हैं कि परदा गिरता है) —भारतेन्दु नाटकावली, भाग १ पृ० ४७ ४८।

यहां व्यंग्य भाव क्रोध नहीं अमर्ष संचारी है, पर एकाएक इतने गुस्से का कारण क्या है ?

किन्तु आगे चलकर लेखक को यह ध्यान नहीं रहा कि संस्कृत का महाविद्याओं वाला प्रसंग उन्होंने नहीं लिया है। तीसरे अंक में जब विश्वामित्र आते हैं तब उनका कथन है

वि०—(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुल इन्द्र के कहने ही पर नहीं हमारा इसपर स्वतः भी क्रोध है। (भारतेन्दु नाटकावली, भाग १, पृ० ६६)

यहा पहला वाक्य चडकौशिक के निम्न श्लोक का अनुवाद है

प्रणामाद्विद्याना करतलगतानामुपचिता।
निरुद्धा दुर्बुद्धेर्विनयमसणस्सस्य चरितै।
निखी वगादतज्ज्वलितघनगुप्ते धनगता।
बहिर्विरामिक्त विपिनमिव म युदहति माम्॥
—च० कौ० २ १२

फिर चौथ अक म विमान पर बठी तीनो महाविद्याए आती हैं और कहती है, 'देवताओ ने माया स आपको स्वप्न मे हमारा रोना सुनाकर हमारा प्राण बचाया।' यह उस असगति को दूर करने का यत्न किया गया है पर स्वप्न म रोना सुनकर भी हरिश्चन्द्र ने उन्हें बचाया कब? स्वप्न देखन के बाद हरिश्चन्द्र के उन्हें बचान जान की कोई घटना नाटक म नही है।

वस्तुत भारतेन्दु इस घटना विन्यास म सफल नही रहे क्योकि 'चडकौशिक' के घटना विन्यास म मुक्त होने का यत्न करत हुए भी व उससे मुक्त न हो सके।

इसी प्रकार की एक और असगति चाडाल वेषधारी धर्म के कथन म है। तीसरे ही अक म धर्म 'हम चौधरी डाम सरदार०' आदि पद्य म चाडाला को फूलमती देवी के दास' कहता है (पृ० ७५)। भारतेन्दु ने यहा पाद टिप्पणी म बताया है कि "प्राचीन काल म चाडाला की कुलदेवी चडकात्यायनी थी परन्तु इस काल म फूलमती इन लोगो की कुलदेवी है।' लेकिन आगे चौथे अक म श्मशान म हरिश्चन्द्र कह रहे है

(आगे देखकर) अरे, यह श्मशानदेवी है। अहा, कात्यायनी का भी कैसा बीभत्स उपचार प्यारा है।—पृ० ८२

यह अतिम वाक्य चडकौशिक के इस वाक्य का अनुवाद है

अहो बीभत्सोपचारप्रियत्व कात्यायिन्या।

ऐसी असगतियो से यह सकेत मिलता है कि चडकौशिक का अनु॰ करते हुए भारतेन्दु उसके साथ बह गए हैं।

सत्यहरिश्चन्द्र मे अनूदित अश

सत्यहरिश्चन्द्र के तीसरे और चौथे अको की बहुत सी सामग्री चडकौशिक स सीधे अनुवाद करके ली गई है। भारतेन्दु के किए अन्य अनुवादो की तरह यह अनुवाद भी बड़ा सुन्दर हुआ है। मूल म जो वातावरण मिलता है वही वातावरण अनुवादक ने पैदा कर दिया है। अनुवाद पढ़कर यह नहीं अनुभव होता कि वह अनुवाद है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा

भोग असन कम्बल बसन रहिबो दूर निवास।
जो प्रभुआज्ञा होइ है करिहो सब ह्व दास॥

इसका मूल रूप यह है

भक्ष्याशी दूरतस्तिष्ठन रथ्याम्बरपरिच्छद ।
यद्यदादिशति स्वामी तत्करोम्यविचारितम ।।

अवधवासी लाला सीताराम 'भूप'

लाला सीताराम भूप ने संस्कृत से महावीर चरित उत्तररामचरित मृच्छकटिक, मालती माधव, मालविकाग्निमित्र और नागानन्द का अनुवाद किया है। संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा पर भी आपका अच्छा अधिकार होने से आपने शेक्सपीयर के कई नाटकों का अनुवाद भी किया है जिनमें मैकबेथ मुख्य है।

लालाजी के पिता अयोध्या के थे पर लालाजी प्रयाग में बस गए थे, किंतु अपने आपको अवधवासी सीताराम 'भूप' लिखते थे। 'भूप' कविता में इनका उपनाम था।

लाला सीताराम के अनुवादों की सबसे बडी विशेषता उनकी भाषा शैली की सरलता है। इन्होंने तदभव शब्दों के प्रयोग को प्रधानता दी है। संस्कृत के इतने विद्वान होते हुए भी वे कठिन संस्कृत शब्दों के प्रयोग के प्रलोभन से बचकर चले हैं। रसव्यंजना और मूल रचना के अर्थ की सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति में भी इन्हें अच्छी सफलता मिली है। हिन्दी भाषा की प्रकृति की परख इन्हें अच्छी थी। गद्य में खडी बोली का प्रयोग साफ सुथरा है। इनके पद्यों में उतनी सफाई नहीं आ सकी जितनी राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु के पद्यों में मिलती है। पूरबी शब्दों का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर खटकता है।

इन्होंने संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटकों का अनुवाद करने का यत्न किया। महाकवि भवभूति के तीनों नाटकों के अनुवाद आपने प्रस्तुत किए। मृच्छकटिक और नागानन्द भी सबसे पहले आपने ही अनूदित किए। हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिए आपने बडा प्रयत्न किया और संस्कृत के अलावा अंग्रेजी के भी कई नाटक अनुवाद करके हिन्दी साहित्य को भेंट किए।

भारतेन्दु के बाद के अनुवादकों में लालाजी का नाम सदा आदर के साथ लिया जाएगा।

आपकी विद्वत्ता के अतिरिक्त आपकी लगन और निष्ठा भी अनुकरणीय थी। सारी आयु आप हिन्दी की सेवा में लगे रहे और आपने अनेक रचनाएं हिन्दी के उच्चस्तर के पाठकों के लिए प्रस्तुत कीं। अंग्रेजी में आपने श्रेष्ठ हिन्दी साहित्य का परिचय देने वाली पुस्तकें भी लिखी थीं।

महावीरचरित

इनका पहला अनुवाद भवभूति कृत महावीरचरित का है जो इन्होंने १८८६ में काशी में किया था पर इसका प्रकाशन १८९८ में हुआ। १८८६ के बाद इसमें संशोधन नहीं हुआ। इस अनुवाद की भूमिका पहले अंग्रेजी में है और फिर अवधी में छन्दबद्ध है। आपने यह अनुवाद करने के उद्देश्य 'उचित विनोद, निज धर्महु जाना मैं यहि विधि

हरिक्रिया बखानी, २ 'पढि नहिं सक्त सस्कृत जोई, लहै जु ग्रन्थ अमिय रस ताई ३ कै जो मोहवश रहा भुलाने, पढें दगि यह ग्र थ पुराने, समझ सुन राम गुन ग्रामा बताए हैं।

नाटक की प्रस्तावना का अनुवाद करत हुए इन्हाने अनुवाद की 'भाषा यथाशक्ति सरल रखने की जो प्रतिज्ञा की है, उसका अन्त तक निवाह किया है। राछस कुवरजी जसे तद्भव शब्दा का प्रयाग अनुवाद मे यत्र तत्र दिखाई देता है।

महावीरचरित नाटक म राम के जन्म से राज्याभिषेक तक की कथा दी गई है। कथा साधारणतया वाल्मीकीय रामायण के अनुसार चलती है। अनुवादक न अपनी धार्मिक भावना क कारण राम को ईश्वर के रूप म ग्रहण किया है। इसलिए महावीरचरितम्' को 'श्री महावीरचरितभाषा का रूप दिया है। भूमिका म भी उन्होंने अपनी यह धार्मिक भावना प्रकट की है। परन्तु मूल लेखक ने नाटक के कथानक को मानवीय और लौकिक रूप देने का यत्न किया था। इसके लिए उसने इस नाटक मे और राम के बाद के जीवन मे सम्बन्धित अपने अन्य नाटक 'उत्तररामचरित म भी रामायण की कुछ महत्त्वपूण घटनाओं को मानवोचित और तर्कसगत बनाने के लिए कुछ उदभावनाए की हैं।

महावीरचरित म राम और रावण के विरोध का मूल मानवोचित बनाने के लिए यह घटना रखी गई है कि रावण ने अपना पुरोहित जनक के पास भेजकर सीता से विवाह करने की इच्छा प्रकट की थी। उस पुरोहित की आखो के आगे ही विश्वामित्र न राम को विशेष अस्त्र दिए राम न धनुष तोडा और सीता का उससे विवाह निश्चित हुआ। नाटक क अनुसार इस अपमान की सूचना मिलने पर रावण के नाना और मत्री माल्यवान न राम के नाश के लिए परशुराम को भडकाया। परन्तु जनकपुरी म शतानन्द विश्वामित्र, जनक, वसिष्ठ, दशरथ आदि ने पहले शान्तिपूवक और फिर परशुराम के साथ गाली गलौच करक मामला निपटाना चाहा। जब फिर भी परशुराम न माने तो उनका राम से युद्ध हुआ जिसमे परशुराम पराजित हुए। युद्ध सूचित किया गया है, नाटक म नहीं दिखाया गया।

इसके बाद फिर शूपणखा और माल्यवान न राम को दण्डक चित्रकूट आदि म लाने का षडयन्त्र बनाया और इसके लिए शूपणखा मन्थरा का रूप बनाकर जनकपुरी पहुची जहा उसन ककेयी की आर से दो वर मागने का पत्र दिया। परिणामत राम आदि वहीं स वन चले गए।[1] वन मे माल्यवान के भेजे राक्षसो न राम आदि को तग करने की कोशिश की। उनके पराजित हो जाने पर रावण सीता को ले भागा और उसन अपनी पुरानी मित्रता की दुहाई देकर बाली स राम का नाश करने के लिए कहा। राम और बाली म खुला युद्ध हुआ जिसम बाली मारा गया। मरने से पहले उसने सुग्रीव का राम के हाथो म सौंप दिया। बाद म आचार भ्रष्ट रावण की राम क हाथो पराजय हुई।

इस प्रकार भवभूति ने प्रचलित कथा का राजनीतिक और मानवीय रूप देकर नाटक क इतिवृत्त की रचना की है और अनेक मुख्य घटनाओं का मानव के प्रकृतिगत

[1] मिथिला स वनगमन करने के बाद चतुथ अक, श्लोक ८७ में अयोध्यावासी पुरुषों और स्त्रियों को राम क पीछे चलता दिखाया है।

दोष, ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारणों की भित्ति पर खड़ा किया है। यही तर्कसंगति उत्तर रामचरित में भी देखने को मिलता है।

भवभूति की भाषा में लम्बे लम्बे समासों और वाक्यों में रूप और प्रकृति के बड़े सुन्दर वर्णन मिलते हैं। वीर रस का नाटक होने से इनमें ओजस्विनी पदावली का प्रयोग उचित ही था। परन्तु लम्बे समास नाटक में ठीक नहीं रहते। अनुवादक ने इन लम्बे समासों और वाक्यों को छोटे छोटे वाक्यों का रूप दिया है और कवि के अर्थ को यथाशक्ति यथावत रखते हुए हिन्दी पाठक के लिए सुबोध बना दिया है। अभिनयता की दृष्टि से भवभूति की भाषा उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। अनुवाद इस मामले में मूल से अधिक प्रशंसनीय है। पर वाक्यरचना में अनुवादक ने भी अभिनेयता का ध्यान नहीं रखा। वाक्यों में शिथिलता जहां तहां दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अनुवादक नाटक का अनुवाद लोकहित के लिए मनुज शरीर धारण करने वाले प्रभु की कथा प्रस्तुत करने के लिए कर रहा है। इसके विपरीत, भारतेन्दुजी का ध्यान हिन्दी नाटक की वृद्धि करने की ओर था।

परन्तु अनुवाद की भाषा को बहुत अधिक चलती या बोलचाल की भाषा बनाने से कहीं कहीं बड़े खटकने वाले प्रयोग भी आ जाते हैं। इस अनुवाद में तीसरे अंक में परशुराम का जनक के प्रति यह कथन देखिए

अरे पाजी की पूछ, तू हमें बरुआ कहता है खड़ा तो रह। इसका मूल रूप यह है जा दुरात्मन क्षत्रियापसद मामेव बटुरित्यधिक्षिपसि। ऐसी पदावली रचना में हलकापन लाती है।

इस अनुवाद में नाट्यविधान की बारीकियों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। नान्दी के अनुवाद में न तो पदसंख्या पर ध्यान दिया गया है और न ही नान्दीपद द्वारा वस्तुसूचन पर। श्रोताओं की प्रशंसा करने वाला वाक्य भी अनुवादक ने छोड़ दिया है।

प्रस्तावना में रचयिता कवि के उस परिचय के बाद जो मूल में दिया गया है, अनुवादक ने अपना परिचय भी जोड़ दिया है। भारतेन्दु ने भी किसी किसी अनुवाद में ऐसा किया है और यह पद्धति संस्कृत नाट्यविधान के अनुरूप है। एक स्थल पर लाला सीताराम ने समकालीन सामाजिक भावनाओं का ध्यान रखकर मूल से कुछ भिन्न अनुवाद किया है—ऐसे अंश को रूपान्तरित अंश कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए तृतीय अंक के श्लोक २ का अनुवाद से मिलान कीजिए

सम्पद्यते वत्सतरी सर्पिष्मन्नं च पच्यते।
श्रोत्रियः श्रोत्रियगृहानागतोऽसि जुषस्व नः॥

—३ २

प्रसंग यह है कि वसिष्ठ और विश्वामित्र परशुराम से कह रहे हैं कि भगवान घर। तू वेद का विद्वान है और जनक जैसे वेदज्ञ के यहां आया है। इसलिए तेरा उत्तम आतिथ्य करने के लिए बछिया मारकर और घी में भोजन पकाकर तुझे खिलाएंगे। आतिथ्य को स्वीकार करके तू हमें कृतार्थ कर।

बछिया अर्थात जवान गाय मारकर आतिथ्य करने की बात भवभूति ने उत्तर

रामचरित्र में भी कही है, पर यह विचार वर्तमान हिन्दू भावना के सर्वथा विरुद्ध है। इस लिए अनुवादक ने इसे बदल दिया है।

अनुवाद देखिए

> रचा जाय मधुपर्क घी में पावें अन्न।
> माना आया मातिथर कर हम सब प्रसन्न ॥

यहाँ 'मधुपर्क रचन' की बात रखकर अनुवादक ने अपनी सूझ-बूझ और भाषा शिष्ट मर्यादाशीलता का सुन्दर परिचय दिया है।

चतुर्थ अंक में विष्कम्भक के बाद दो दृश्यों का क्रम अनुवाद में पलट गया है। मूल में पहले दशरथ जनक, वसिष्ठ, विश्वामित्र वाला दृश्य था और पीछे राम तथा परशुराम वाला। यही क्रम संगत और सुन्दर है। अनुवाद में पहला दृश्य पीछे भूल से हो गया दीखता है, क्योंकि इससे असंगति ही पैदा हुई है।

इस अनुवाद में भाषान्तरण की भूलें बहुत हैं, शायद इस कारण कि यह लालाजी का प्रथम अनुवाद है। भूलें गद्य और पद्य दोनों के भाषान्तरण में दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय अंक के सातवें श्लोक में 'अर्घ्यो विरोध' का अनुवाद ठीक नहीं हुआ। ऐसे और बहुत से स्थलों पर अनुवादक का प्रमाद दिखाई देता है।

लालाजी की भाषा परिमार्जित और शिष्ट है और तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग होते हुए भी तद्भव शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। भाषा में प्रवाह और सरलता है और क्लिष्टता का कहीं दर्शन नहीं होता। पर तद्भव शब्दों के कुछ प्रयोग आज खटकते हैं। कुमार के लिए कुँवरजी, बड़े भाई के लिए आर्य की जगह 'प्रभु' या 'दादा' भी कुछ अटपट मालूम होते हैं। कहीं कहीं राछस (राक्षस) जोग (योग्य) रौला, हौरा (हल्ला) जैसे गवारू और सोच के (सोचकर) जैसे पंडिताऊ प्रयोग भी किए गए हैं। 'ब्रह्माण्ड' का 'भमंड' शायद पृथ्वीराज रासो की प्रतिध्वनि है।

छन्द प्रयोग में लालाजी ने विविधता बरती है जिससे पन्ने हुए लय परिवर्तन होता रहता है और नीरसता नहीं अनुभव होती।

यों तो सुन्दर अनुवाद के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर छठे अंक में लंका दहन और युद्ध का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लंकादहन का एक पद देखिए

> घूमि लगैं लपटैं चहुँ ओर लखु जनु सातहु सी बढ़ी ज्वाला।
> जानि परै नहिं बीरन के कब धाय धरैं हुन भौन विशाला।
> जानि के माना प्रलै कर कान भज क्रूर से भट हाय बेहाला।
> सिन्धु तरंग समान चहूँ दिसि लसहिं शीलन अग्नि कराला ॥

इसका मूल रूप यह है

> भ्रान्तो सप्ताधिकानां प्रविदधदुदयं रंचिपां चक्रवाल
> द्राग्वीराणामरण्यप्रमनिरनिसमुत्लप्तरोवपालमेषु।
> अधप्तुष्टापसपद्रजनिचरभटोगादकल्पान्ततङ्क।
> लङ्का प्रौढो दुराशा सह परिगलितोऽभ्रिवदूदेन लीढे ॥

मृच्छकटिक

लाला सीताराम का किया हुआ यह चौथा अनुवाद है जो १८९९ म प्रकाशित हुआ था। मूल नाटक को ईस्वी सन से पहले की रचना माना जाता है और उपलब्ध संस्कृत नाटका म यह प्राचीनतम समझा जाता है यद्यपि इसस पहले की दो रचनाओ का भी पता चला है। इसका लखक राजा शूद्रक को बताया जाता है। पर इसकी प्रस्तावना का वह अश पीछे जोडा गया दीखता है जिसम 'शूद्रकोऽग्नि प्रविष्ट (१४) लिखा है।

मृच्छकटिक रूपक का 'प्रकरण' नामक भेद है जिसम दस अक है। कथा का नायक चारुदत्त एक धनाढ्य सेठ है जो अधिक दान के कारण गरीब हो गया है। नायिका वसन्तसेना स्वच्छन्द प्रणय की परम्परा म रहने वाली और वेश्या कहलाने वाली एक चरित्रनिष्ठ युवती है। कहानी का मुख्य विधेय यह है कि ससार म धन और सत्ता का महान चरित्र और सत्यनिष्ठा के सामने कुछ भी महत्त्व नहीं। वसन्तसेना धन और सत्ता के प्रलोभनो को लात मारकर चरित्रनिष्ठ परन्तु निधन चारुदत्त की वधू बनने क लिए अपने प्राणो का खतरा भी मोल लती है और अन्त म उसे सफलता मिलती है।

इस नाटक का ऐतिहासिक दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण गिना जाता है। संस्कृत के नाटक नामक रूपको म नायक आदि बधे बधाए ढर्रे के होते हैं। यह प्रकरण उस बधे ढर्रे पर नहीं है और इसम भारत के तत्कालीन सामान्य सामाजिक जीवन की एक झाकी मिलती है। इसके पात्र आदर्श या टाइप पात्र नहीं हैं। अच्छे पात्रो म भी बुराइया हैं और बुरे पात्रो म भी अच्छाइया हैं। जुआ खेलने और खिलाने वाले भी इनम हैं तथा वेश्या चोर बौद्धभिक्षु क्रान्तिकारी और राजसत्ता से सुरक्षित दुश्चरित्र लोग भी है।

इतिवृत्त मनोरजक और कुतूहलजनक है और घटना विन्यास कौशलपूर्ण है। सारे नाटक म वातावरण हलका और परिहासमय रहता है और भारी गम्भीरता नहीं अनुभव होती। शृगार रस और हास्यरस के बडे सुन्दर प्रसग नाटक म आते हैं।

अनुवाद गद्य और पद्य म है और मूल क अनुसार चलता है। गद्य म खडी बोली और पद्य म सामान्यतया ब्रजभाषा है पर कही कही अवधी दिखाई देती है। मूल नाटक म संस्कृत के अतिरिक्त चार प्रदेशो की प्राकृत—शौरसेनी, आवन्ती, प्राच्या, और मागधी—तथा चार म से तीन प्रकार की अपभ्रश—शकारी, चाण्डाली और ढक्की—का प्रयोग हुआ है।

अनुवादक ने दृश्यो का स्थान सकेत कर दिया है और प्रस्तावना की प्रारोचना म संस्कृत नाट्यविधान का अनुसरण करते हुए अपना भी उल्लेख किया है। किसी किसी पद्य म इन्होंने अपनी छाप भूप भी रखी है जसे ३ ३ और भरतवाक्य के अन्तिम पद्य म।

अनुवाद पढते हुए मौलिक रचना जसा लगता है। जहा अनुवाद करने म विशेष कौशल की अपेक्षा थी, वहा प्राय कौशल दिखाई देता है पर कही-कही चूक भी हो गई है। चौथे अक म वसन्तसेना की माता वाला प्रसग परिहास की दृष्टि से सुन्दर बना है। ५ ६ म वन शब्द का प्रयोग करके जल और जगल इन दोनो अर्थों का श्लेषनिर्वाह अनु

पादक की कुशलता प्रकट करता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन्होंने पद या वाक्य का यथावत् अनुवाद करने के स्थान पर सम्पूर्ण नाटक की भावना ध्यान में रखकर मूल के अर्थ को शब्दबद्ध किया है। हीन पात्रों के कथनों में लुगाई, पतुरिया, बाई, सरकार जैसे शब्दों का प्रयोग उन पात्रों की सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति की सूक्ष्म व्यंजना करता है। अदालत के प्रसंग में भाषाशैली उर्दू शब्दों में रंगी हुई दिखाई देती है—यह अनुवादक के वक्त की अदालती भाषा का नमूना समझना चाहिए।

भाषा सरल और सुबोध नाटकोपयोगी तथा प्रसंगोचित रखी गई है। कहीं-कहीं पूरबीपन की झलक भी मिलती है जैसे सोनार (सुनार) सेवना (सेवा करना)। गद्य रचना पद्य की अपेक्षा अधिक ममत्व और सफल हुई है। तुकारना (तू कहकर पुकारना) जैसे प्रयोग इनकी सूझ के परिचायक हैं। पद्य में छन्दों की विविधता सीमित है और दोहा चौपाई का प्रयोग बहुत है जो हर जगह नहीं जंचता।

कहीं-कहीं संस्कृत की व्यंजना या अभिप्राय की उपेक्षा हो गई है। ५/२ में अनुवाद संगीतशास्त्र के अनुरूप नहीं बना। ६/ में दीपक अलंकार नष्ट हो गया। ३ १६ से पहले 'विक्रीतपण्य' दूकान बेचकर बन गया है चाहिए सामान बेचकर। १ २६ के बाद 'प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषा' का अनुवाद भी ठीक नहीं हुआ—रात की बेर सड़क पर रंडी, बटमार, राजा के लगू भगू सब' 'बटमार' मूल में नहीं है। 'बटमार' का अर्थ है राहज़नी करने वाला। यहाँ तो वेश्याओं और राजाओं के विलास सहायकों के लिए विट और चेट शब्द थे। आठवें अंक में जहाँ शकार वसन्तसेना को मारना चाहता है वहाँ (नाट्येन कण्ठे निपीडयन् मारयति वसन्तसेना निश्चेष्टा मूर्छिता पतति) का अनुवाद किया है 'गला घोटकर मार डालता है। वस्तुतः ठीक अनुवाद यह होता—गला घोटता है वह मूर्छित होकर गिर पड़ती है।

इसके अनुवाद के दो नमूने नीचे दिए जाते हैं। अंक दो के आरम्भ में—

(क) मदनिका—आर्ये स्नेह पृच्छति न पुराभागिता, तत्किमिदम् ?

अनुवाद—मदनिका—बाई जी, कसूर माफ हो, जो नहीं मानता, एक बात पूछती हूँ—आजकल आपका क्या हाल है ?

(ख) एतत्राऽतमालपत्रमलिनरापीतसूर्य प्रभा।
वल्मीका शरताडिता इव गजा सीदन्ति धाराहता।
विद्युत्काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसञ्चारिणी।
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्साय मघहृता॥

—५ २०

अनुवाद—

भीग तमाल के पातन से घन छाय सगो रवि तेज निवारी।
दीमक के घुस बैठत हैं शरधार पर गज की छवि धारी।
कंचन दीपक सा बिजरी जनु घूमत है पुर ऊंची अटारी।
सघन दलो जुन्हाइ हरी जिमि नीरस की जबर मिलि नारी॥

चौथा अध्याय

वर्तमान काल (१९०१-१९६४) के अनुवाद

ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से आज तक संस्कृत नाटकों के जो हिन्दी अनुवाद हुए वे संख्या और विविधता दोनों की दृष्टि से पहले से आगे निकल गए। सत्रह नाटक तो पहली बार इसी काल में अनूदित हुए जिनमें से ग्यारह नाटक महाकवि भास के थे। भास के नाटक पहली बार १९१२ में प्रकाश में आए थे। इस काल में अनुवादों की कुल संख्या सत्ताइस थी। इनमें से सबसे अधिक अनुवाद मध्यम व्यायोग के हुए—इनकी संख्या सात थी। इसके बाद अभिज्ञानशाकुन्तल मृच्छकटिक और स्वप्नवासवदत्ता का नम्बर रहा—इन तीनों के पांच पांच अनुवाद निकले। मालविकाग्निमित्र, उत्तर रामचरित दूतवाक्य, पंचरात्र और प्रतिमा के चार चार तथा प्रबोधचन्द्रोदय प्रतिज्ञा, मुद्राराक्षस और कुन्दमाला के तीन तीन अनुवाद हुए। मालतीमाधव, रत्नावली, वेणी संहार नागानन्द, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और ऊरुभंग के दो दो और पार्वतीपरिणय भर्तृहरिनिर्वेद अभिषेक, कर्णभार चारुदत्त प्रियदर्शिका, दूतघटोत्कच और दूतांगद का एक एक भाषान्तर हुआ। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की धारा इस काल में और बलवती हुई।

रचनाशैली की दृष्टि से इस काल का आरम्भिक भाग 'संक्रमण का काल' दिखाई देता है। इसमें भारतेन्दुकाल की परिपाटी पर खड़ी बोली गद्य और ब्रजभाषा पद्य में भी रचनाएं हुई पद्य में खड़ी बोली का भी प्रयोग हुआ तथा सम्पूर्ण गद्य में भी अनुवाद किए गए। ब्रजभाषा पद्य में किया गया एक अनुवाद तो १९३६ में प्रकाशित हुआ—यह 'वेणी संहार' का हरदयालुसिंह का अनुवाद है। पर १९२५ के बाद के अधिकतर अनुवादकों ने खड़ी बोली को ही अपने अनुवादों का माध्यम बनाया चाहे वे गद्य में हुए या पद्य में।

अनुवादकों का उद्देश्य साहित्यिक और सांस्कृतिक रहा। आरम्भिक वर्षों में हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि का लक्ष्य भी था पर बाद में, जब हिन्दी में मौलिक रचनाओं की कमी न रहा अनुवादक संस्कृत नाटकों के सांस्कृतिक महत्त्व और काव्यचेतना की विशेषता के कारण अनुवाद करते रहे। मंच की दृष्टि रखने वालों में बचनेश मिश्र (भर्तृहरि निर्वेद) और वागीश्वर विद्यालंकार (कुन्दमाला) के नाम उल्लेखनीय हैं। वेणीसंहार के आधार पर बद्रीनाथ भट्ट ने 'कुरुवनदहन' की रचना की। सत्यव्रतसिंह ने मृच्छकटिक के राम राघव कृत अनुवाद को आधार बनाकर एक मंचोपयोगी रचना तैयार की।

अधिकतर अनुवाद भाषान्तर वाली म हुए। किसी किसी न मूल नाटक क रूप म
ी हेर फेर भी किए, पर य रचनाए अधिक महत्त्व न पा सकी।

रसव्यजना, अलकार, नाटयविधान आदि की दृष्टि स अधिकतर रचनाए अच्छे
ादो म गिनने योग्य हैं। भाषा ली समय क साथ कुछ अधिक तत्सम हो गई पर
य रचना भारतेन्दुकाल स अधिक व्यवस्थित चुस्त और परिमाजित हो गई। पद्य
ा भी बहुत हुई और उसमे परम्परागत छन्दो स बाहर नाटक नई सम्भावनाओ की
ता भी हुई।

देश की राजनीतिक स्वाधीनता के परिणामस्वरूप देशवासियो म जो नई चेतना
ा, उसका प्रभाव अनुवादो पर भी पडा। प्रकाशको न अच्छे सस्कृत नाटको क अनु
करान का यत्न किया और पिछले १० ११ वष म अभिज्ञान शाकुतल क तीन अनु
प्रकाशित हुए, और मृच्छकटिक क दो अनुवाद निकले।

इस काल म उल्लेखनीय अनुवादको म बचनेश मिश्र विजयानद त्रिपाठी,
नारायण रविरत्न, वागीश्वर विद्यालकार बलदेव शास्त्री, विराज, राघव राघव,
बनारण उपाध्याय और इन्दुशेखर हैं। मथिलीशरण गुप्त क भी स्वप्नवासवदत्ता
९२९) और दूतघटोत्कच (१९५८) के अनुवाद इस काल म प्रकाशित हुए। हरदयानु
ह न कई अनुवाद किए। हाल म मृच्छकटिक का मोहन राकेश का किया अनुवाद भी
कला है जिसम पद्य के स्थान पर गद्य, अनेक छोटा छोटी पक्तिया म रखकर नया
ाा किया गया है। इन्होन मच की सुविधा का ध्यान रखन का यत्न किया है।

सक्षेप म यह काल अनुवादो की सख्यावृद्धि और विविधता की दृष्टि स भारतेन्दु
ल स आग बढा है। जो भी अनुवाद हुए उनकी मच पर परीक्षा क अवसर अधिक न
ए। पर मच प्रबन्धको और अनुवादको का ध्यान इस ओर आकर्षित अवश्य हुआ है।
न काल वर्षों म इस दिशा म और अधिक प्रगति होन की आशा करनी चाहिए।

आग कुछ अनुवादको और उनके अनुवादो पर टिप्पणिया दी गई हैं।

बाबूलाल मायाशकर दुबे

स्वप्नवासवदत्ता (१९१३)

बाबूलाल मायाशकर दुबे राजनदगाव (विदर्भ) क रहन वाले थे, जो अब महा
ाष्ट्र राज्य के अतगत है और उनक समय म मध्यप्रदेश क अतगत था। इन्होन महाकवि
ास के स्वप्नवासवदत्तम् का अनुवाद मूल सस्कृत नाम रखकर माघ शुक्ला चतुर्दशी,
क्रम सवत् १९७० (ईसवी १९१३) म प्रकाशित किया था। इस अनुवाद के बारे मे एक
ल्लेखनीय बात यह है कि भास के तेरह नाटक १९१२ मे ही प्रकाश म आए थे। एक वर्ष
उसका अनुवाद हिन्दी म प्रस्तुत कर देना उनकी तत्परता का सूचक है। आज पचास
ष बाद भी अन्य भाषाओ की उत्कृष्ट रचनाए हिन्दी मे इतनी जल्दी नहा आ पाती।

अनुवाद से पहले एक सक्षिप्त परिचयात्मक भूमिका म भास के नाटको क प्रथम
ाता और सम्पादक श्री गणपति शास्त्री क लेखो क आधार पर भास क काल
णय का निरूपण किया गया है। भास की रचनाओ का कालिदास आदि पर प्रभाव

दिखाने का यत्न भी किया गया है, और भास की रचनाओं में आनेवाली संस्कृत सूक्तियाँ विस्तार से दी गई हैं। ये सूक्तियाँ बड़ी सुंदर और हृदयग्राहिणी हैं। भूमिका के बाद नाटक के छहों अंकों का कथासार हिंदी में दिया गया है।

अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। गद्य में तो सर्वत्र खड़ी बोली हिंदी का परिमार्जित रूप प्रयुक्त हुआ है, पर पद्य में कहीं ब्रज, कहीं खड़ी और कहीं दोनों के मिश्रण का प्रयोग किया है। यह अव्यवस्था जल्दबाजी के कारण हुई दीखती है और इससे रचना के सौंदर्य की क्षति हुई है। अन्यथा इनका छंद रचना प्रायः निर्दोष और सुंदर है।

मूल रचना के मंगलश्लोक का अनुवाद इन्होंने इसलिए नहीं किया कि उसमें कथा के नायक, तथा नायिकाओं का जो नामोल्लेख है वह अनुवाद में जस का तस नहीं आ सकता था।

भाषा तत्सम प्रधान है और मुहावरा शिष्ट तथा प्रौढ़ है। पर कई जगह पंडिताऊ प्रयोग हो गए हैं। मूल संस्कृत शब्दों को अनुवाद में रखते हुए इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि इन शब्दों का हिंदी में भिन्न अर्थ तो नहीं है। सखियों के लिए संस्कृत में परिवार शब्द का प्रयोग होता है पर हिंदी में परिवार शब्द पत्नी, बच्चों आदि के समूह के लिए होता है। अनुवादक ने हिंदी में भी इसका प्रयोग सखियों के लिए किया है। इसी प्रकार 'क्या मुझे भी सापमान हटना होगा', 'दवि अर्थात् दैवत का तिरस्कार इसीको कहते हैं' जैसे वाक्य बहुत मिलते हैं। शायद मराठी प्रभाव में 'हम' के अर्थ में 'अपन' शब्द का प्रयोग किया है। कहीं कहीं छंद की आवश्यकता पूर्ति के लिए शब्दों की तोड़ मरोड़ भी की है, जैसे उगत के स्थान पर ऊगते, भाइ। अनुवाद सुंदर हुआ है पर कहीं कहीं स्वतंत्रता भी बरती गई है। ब्रज में रचे गए गीत बड़े मनोहारी हैं। छंदों में दोहा चौपाई भी हैं और संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग भी। छंद रचना में इन्हें अच्छी सफलता मिली है। छठे अंक में इनके एक गान का एक अंश देखिए

> श्रवण सुखदायी शब्द तिहारो।
> छाँडि जघन कुच-युगल प्रिया के जहँ सुख शयन सवारो।
> खग रज बिखरत भयंकर वन में तहँ कत बदन बिगारो।
> भज भरि भेंटि बार बहु तोही गुर नितंब पर धारो।
> द्रुह कुच बीच स्वेद कर सुमिरत सुख मुखहास पियारो।
> वाजन बीच विरह दुख में मुहिं कह कै बार पुकारो।
> नहु होन अति सुमरसि जो नहिं तपसिन परम दुलारो॥

इसका मूल रूप यह है

> श्रुतिसुखनिनदे! कथं नु देव्या
> स्तनयुगलं जघनस्थले च सुप्ता।
> विहगगणरजोविकीर्णदण्डा ,
> प्रतिभयमध्युषितास्यरण्यवासम्॥

अपि च, अस्निग्धासि घोषवति! या तपस्विन्या न स्मरसि

> श्रोणीसमुद्वहनपार्श्वनिपीडितानि।

खेदस्तना तरमुखा युपगूहितानि ।
उद्दिश्य मा च विरहे परिदेवितानि ।
वाचा तरेषु कथितानि च सस्मितानि ॥

प० विजयानन्द त्रिपाठी 'श्रीकवि'

प० विजयानन्द त्रिपाठी श्रीकवि विद्यारत्न के दो अनुवाद एक रत्नावली नाटिका का और दूसरा 'मालविकाग्निमित्र' का प्रकाशित हुए हैं। इनमें से पहला खड्ग विलास प्रेस से और दूसरा ग्राम बबुरा जिला आरा से प्रकाशित हुआ था। मालविकाग्निमित्र के अनुवाद की भूमिका से पता चलता है कि इन्होंने प्रियदर्शिका प्रबोधचन्द्रोदय आदि कुछ अन्य संस्कृत नाटको का भी अनुवाद किया था जो लगता है साधनाभाव से प्रकाशित न हो सके।

त्रिपाठीजी बिहार के निवासी थे और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इनकी छाप या उपनाम श्रीकवि था। प० रामचन्द्र शुक्ल ने इतिहास में इन्हें रामकृष्ण मडली के कवियो में बताया है। इनके दोनो अनुवाद देखने से पता चलता है कि संस्कृतभाषा का इन्हें अच्छा ज्ञान था। मूल में जहा जान-बूझकर श्लेप द्वारा दो अर्थ रखे गए हैं वहा सर्वत्र इन्होने अनुवाद में भी सुन्दर रीति से श्लेप का निर्वाह किया है। इनके अनुवादो में गद्य खडी बोली मे और पद्य अधिकतर ब्रजभाषा में है—मालविकाग्निमित्र के अनुवाद में पद्यो मे खडी बोली भी मिलती है और कई पद्यो में खडी बोली और ब्रजभाषा का मिला जुला प्रयोग हुआ है। इन्होने गद्य में स्थानिक शब्दो का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है जिनमे से कुछ ये हैं कभी, डटिया, बलया बायन, खुदुक्काकर टिहुक्नी बायली जगलगी, नहिए।

अनुवाद में कही-कही कुछ वाक्य, जो मूल में नही थे अपनी ओर से भी जोड गए हैं। ये अश प्रसग के प्रतिकूल तो नही हैं पर इन्हें जोडने के लिए न तो कोई उचित कारण है और न इनसे मूल के सौन्दर्य में कोई वृद्धि हुई है। अनुवादक की इस प्रवृत्ति का प्रशसा नही की जा सकती।

इनकी भाषा शिष्ट और प्रौढ है पर पडिताऊपन की झलक भी जहा-तहा मिलती है। निगूढकोपानुबध, तसवीर लिखना, पासवर्ती कुशली है न? जैसे प्रयोगो से भाषा की सफाई मे कुछ कमी का पता चलता है। कहीं-कही प्रिय प्रवास जसी संस्कृत पदावली का प्रयोग हुआ है। शब्दो का परिवेश शिष्ट या प्रसगोचित है। स्त्रियो के मुख से निगोडा, भक्कूदास, पेटूदास, भुक्खडदास, बभना (बाम्हन या ब्राह्मण), मुस्सा कुट्टन जसे शब्द प्रयोग भाषा-वालो के मामले में इनके पात्रगत औचित्य के बोध के परिचायक हैं।

इनका शब्दो के लिंगो का प्रयोग कई जगह खटकने वाला है। उदाहरण के लिए, मेल और दद शब्द इन्होने स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किए हैं और ऐंठ तथा शपथ पुल्लिंग में। इसी प्रकार दिखाना के स्थान पर देखाना, 'ठकुरसुहाती' के स्थान पर 'ठकुरसोहाती' जसे प्रयोग किए गए हैं। इन दोनो बातो से भी स्थानीय प्रभाव लक्षित होता है।

एक और शृंगार लीजिए

मद्गुलालकृता भाति कौशिकी यतिवल्लया ।
यथा विप्रद्वत्वत समनस्का भविष्यति ॥

—१।१८

अनुवाद—

मदु यतिवल्ला कौशिकी मालमयी विभाति ।
सदनु ब्रह्मविद्या मंडित यथा संगिम मम भाति ॥

५० वचनेश मिश्र

पंडित वचनेश मिश्र ने भर्तृहरिनिर्वेद का अनुवाद १९१२ ई० (१९६९ वि०) में किया, जो कालाकांकर से प्रकाशित हुआ था।

मूल नाटक मिथिला के हरिहर उपाध्याय द्वारा रचा गया है जिनका समय १५वीं शताब्दी का अंतिम भाग समझा जाता है। यह पांच अंकों का छोटा-सा नाटक है जिसे कवि ने शांत रस का नाटक कहा है। इसमें राजा भर्तृहरि को वैराग्य होने की प्रसिद्ध कहानी है जो लोकवार्ताओं में इतनी प्रचलित है। कहानी संक्षेप में यह है कि राजा भर्तृहरि से उसकी रानी अत्यधिक प्रेम रखती थी। एक बार राजा ने उसके प्रेम की परीक्षा करनी चाही। उसने नगर से जहां वह शिकार खेलने गया था यह झूठी खबर राजधानी भिजवाई कि राजा को बाघ ने मार डाला। यह सुनकर रानी ने शोक से प्राण छोड़ दिए। यह पता चलने पर राजा रानी के वियोग में पागल हो गया। उस समय एक योगी राजा को दिखाई दिया जो अपनी तुम्बी फूट जाने के कारण विलाप कर रहा था। राजा ने उस वस्तु की क्षणभंगुरता समझाने का यत्न किया जिसपर योगी ने जो गोरखनाथ थे हँसकर राजा को 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' कहा। अब राजा को तत्त्वज्ञान हो गया। इसके बाद गोरखनाथ ने रानी को योगबल से जीवित कर दिया। राजा को आकृष्ट करने के रानी के अनेक प्रयत्न विफल हो जाने पर रानी के लड़के का राजतिलक कर दिया गया और राजा विरक्त होकर चला गया।

पंडित वचनेश मिश्र ने इस नाटक का अनुवाद अपने परममित्र और स्वामी राजा रमेशसिंह का, जिनकी अकाल मृत्यु से वे बहुत दुःखी हुए थे, संकल्प पूरा करने के लिए किया। प्ररोचना और भरतवाक्य में कवि के नाम के साथ इन्होंने अपना नाम भी अनुवादक के रूप में रखा है।

अनुवाद पूरा तथा गद्य और पद्य में है। किसी किसी श्लोक को छोड़कर शेष सब श्लोक पद्य में हैं। गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की भाषा कहीं खड़ी बोली तथा कहीं मिश्रित मिलती है।

नाट्यविधान की दृष्टि से देखें तो इन्होंने प्राकृतभाषी पात्रों योगी और दासी की भाषा शिष्ट भाषा से भिन्न रखी है। दासी की भाषा में करो, गजब हु गया, देखब आदि पूरबी प्रयोग किए हैं। योगी का कथन भी कहानी शैली में रखा गया है 'तुम याके गुना को नहीं जानो हो।'

इनका अनुवाद सुन्दर है। प्राय सार अनुवाद म भाषा इनकी ओर शिष्ट है। पद्य भी अधिकतर अच्छे बन हैं। इनकी भाषा शली और पद्य रचना पर इस बात का स्पष्ट प्रभाव है कि इन्होने यह अनुवाद कालाकाकर की नाज थियेटिकल कम्पनी के खेलने के लिए किया था। इसलिए उर्दू शब्दा का प्रयाग तो है ही कइ श्लोको को थियेटिकल ढग के गाना म बदल दिया गया है। एक गान की टेक है, 'गुलाम मरी प्यारी, मैं ता हू तेरा गुलाम'। कुछ पद्य भी उर्दू म प्रचलित तर्जों पर हैं और देहाती गीता का टरा भी ह।

'यारा दिल दीवाने की तष्णा नही जाती,
नहा जाता नही जाती।

—जसे गाना से अमानत की 'इन्दरसभा' का ध्यान आ जाता ह। एक गीत पर राग सकत भी किया ह।

गद्य क अनुवाद मे कही कही मूल के शब्दा का अथ ठीक नही समझा गया, जसे ब्राह्मण परतन्त्रतया—ब्राह्मणा की परतन्त्रता स। मूल का मतलब था 'ब्राह्मणा द्वारा बताए गए अनुष्ठान म लगे होन की विवशता के कारण।'

कुल मिलाकर अनुवाद तत्कालीन मच की आवश्यकताओ के अनुरूप और सुन्दर हुआ ह। खलने के लिए हान क कारण भाषा सरल और नाटकोपयोगी है और मूल का निष्ठापूर्वक अनुसरण करने पर भी अनुवाद न ता कही बाझिल हुआ न अस्पष्ट ही। प्राकृतभाषी पात्रो के कथनो का शिष्ट स्तर से भिन्न स्तर पर रखकर अनुवादक ने नाट्य-कला के प्रति अपनी सजगता का परिचय दिया ह। इनका एक पद्य और उसका मूल नीचे दिया जाता है

मूल— कान्ति क्लाम्यति कुङ्कुमादपि परिग्लान्ति सजाप्यूढया।
दृष्टा ताम्यति शशिरादपि रवेस्त्यास्तवेय तनु।
सव त्व भमिताचिता वत चितादुन्हारुभिदारुर्ण-
रकाना गहनोन्तरह्निदहनोन्मादे कथ स्थास्यसि॥

—२६

अनुवाद— कुकुम की चोट हू ते हाति जो मलीन कान्ति,
हार हू के भार श्रम पाय सिथिलात री।
सिसिर के सूर हू को आतप लगते अहो,
तरी जो य दह सुकुमारी मुरझात री।
हाय हाय सोई चिता भमिताचिता पै जौन,
दारुन महान दुरदाह भरी खात री।
दहन गहन जार ज्वालन के जाल बीच
राखत न कोई यह काह धरी जात री॥

पण्डित सत्यनारायण 'कविरत्न'

सत्यनारायण 'कविरत्न' न 'उत्तररामचरित' और 'मालतामाधव' क अनुवाद किए हैं। कविरत्न जी आगरे से ढढ कोस पर ताजगज के पास धाधूपुर नाम गाव के रहने

थाने थे और ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। आपका अंग्रेजी और संस्कृत के साहित्यों से अच्छा परिचय था और आपने मैकाले के अंग्रेजी खंडकाव्य 'होरेशस' का भी पद्यबद्ध अनुवाद किया था।

कविरत्नजी स्वयं कवि तो थे ही, नाट्य विधान की बारीकियों से भी परिचित थे। इसलिए इनके अनुवादों में मूल रचना की नाट्यविधान संबंधी विशिष्टताओं का यथोचित समावेश प्राय दिखाई देता है। गद्य हो, या आमन्त्रण शब्द—इन्होंने मूल की विशेषताओं का भरसक ध्यान रखा है, यद्यपि आमन्त्रण शब्दों में कहीं कहीं चूक दिखाई देती है।

इनकी पद्य की ब्रजभाषा गद्य की खड़ी बोली की अपेक्षा अधिक सरल मधुर और चलती हुई है। गद्य में कहीं कहीं दुरूहता आ गई है पर फिर भी मूल लेखक भवभूति के गद्य की क्लिष्टता को देखते हुए यह कहीं सरल है। ब्रजभाषा के स्थानिक शब्दों का प्रयोग कुछ खटकता है विशेषरूप से आजकल जबकि खड़ी बोली हिन्दी का पाठकवर्ग बहुत विस्तृत हो गया है। साधारणतया ब्रजभाषा के कवि—चाहे वे ब्रजमंडल के ही निवासी हों—काव्यपरम्परा में प्रचलित ब्रज शब्दों का ही प्रयोग करते रहे हैं, ब्रज के केवल स्थानबद्ध शब्दों का नहीं। इनकी भाषा में लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु और सीताराम 'भूप' की भाषा से अधिक ब्रजपना झलकता है।

इनके भाषान्तरण में यहाँ-कहीं संस्कृत को ठीक ठीक न समझने की भूलें मिलती हैं पर अपेक्षया कम। एक गलती की ओर विशेषरूप से ध्यान जाता है जिसका सम्बन्ध मूल लेखक की भावना से है। मूल लेखक ने अपने दोनों नाटकों 'महावीर चरित' (जिसमें राम के लंका से अयोध्या लौटने तक का कथानक है) और 'उत्तररामचरित' में राम के जीवन को वाल्मीकीय रामायण के अनुसार लौकिक पुरुष के जीवन के रूप में चित्रित किया है। अनुवादक ने राम को भगवान राम' कहकर वाल्मीकि और भवभूति के प्रेरणाप्रद मानव चरित पर अपनी अवतारवादी आस्था का आरोप कर दिया है। जो राम अपनी पत्नी के प्रेम में पूरी तरह लिप्त है उसके वियोग में फूट फूटकर रोता है पर फिर भी अपने राजकर्तव्य को निभाता है वह धीरोदात्त मानव 'राम' है, लीलामय कल्पित 'राम' नहीं। वह वाल्मीकि का 'आर्य' राम है, तुलसी का 'साहब' राम नहीं। कविरत्नजी से पहले सीतारामजी 'भूप' ने भी अपने महावीरचरित के अनुवाद में भवभूति के राम को तुलसी के राम बनाने की भूल की थी। महावीरचरित के सातवें अंक में दो श्लोक (७ २ और ७ ३३) राम के अवतार होने का संकेत से करते प्रतीत होते हैं पर नाटक की सारी भावना को देखते हुए इनमें से पहले में 'माणात्पुरुष पुराण' और 'अवतीर्णा' शब्द ही वास्तव में यहाँ यह अर्थ देते हैं। ७ ३३ तो पूरी तरह राजा पर लागू होता है। ७ २ को तथ्य कथन के स्थान पर भावना की अभिव्यक्ति मानना अधिक प्रसंगसंगत है।

अनुवाद में अनेक श्लोकों को गीतों का रूप दे दिया गया है—नाटक खेलने की दृष्टि से यह योजना बड़ी सुन्दर है। ये गीत बड़े मधुर हैं और इनसे नाटक में जान पड़ गई है। संस्कृत नाटकों में, जो भावुकतापूर्ण कथन गेय पद बनकर अच्छे लगते हैं उन्हें सामान्य श्लोकों में ही रखा जाता है और गेय पद संगीत का हिस्सा समझे जाते हैं, जिन

प्रस्तुत करने का दायित्व नाटक लेखक का नहीं होता। कविरत्नजी की गीत रचने की पद्धति आधुनिक हिन्दी फिल्मों की पद्धति की पूर्वज है। यह पद्धति राजा लक्ष्मणसिंह ने प्रचलित की थी जिन्होंने राग संकेत भी किया था। बाद में भारतेन्दु ने भी इसे अपनाया और कुछ अंश में सीताराम ने भी।

कविरत्नजी ने अपने दोनों अनुवादों में छन्द की बड़ी विविधता रखी है और सबमें अच्छी सफलता पाई है। संस्कृत में प्रचलित छन्दों में रचना करने में भी आप उतने ही कुशल हैं जितने हिन्दी में प्रचलित छन्दों में।

अपने दोनों अनुवादों से पहले आपने भूमिकाएं दी हैं जिनमें मूल लेखक और नाटक का कुछ परिचय दिया गया है। कविरत्नजी ने नाटक में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे उनके आलेपन के ही परिचायक हैं। 'उत्तररामचरित भूमिका' में पृष्ठ ६ (प्रथम संस्करण भारती भवन १९७०) पर आप लिखते हैं "इनके ग्रन्थों से विदित होता है कि तब तक स्त्रीशिक्षा पाप नहीं मानी गई थी और न पर्दे का ही प्रचार था।" वस्तुतः भवभूति रामायण की कथा प्रस्तुत कर रहे थे। उस कथा के समय की सामाजिक परिस्थितियों के बारे में उनकी जो धारणा थी, वही उनके नाटकों में वर्णित है। स्त्री शिक्षा और पर्दे को ही ले लीजिए। अरुन्धती सीता आदि स्त्रियों को भवभूति अपने युग की नारी के रूप में नहीं रख रहे—इसलिए इनकी शिक्षा से यह अनुमान लगाना संगत नहीं कि भवभूति के समय नारियों का शिक्षा पाना सामान्य बात थी। जहाँ तक पर्दे का सम्बन्ध है वह तो भवभूति क्या, कालिदास के समय भी कुछ न कुछ प्रचलित था। शाकुन्तल में गौतमी आदि के साथ शकुन्तला जब दुष्यन्त के दरबार में गई, तब वह पर्दा ही किए हुए थी। भवभूति ने भी महावीर चरित में स्पष्ट लिखा है (अंक २ के शुरू में परशुराम के आने पर राम का सीता से कथन) 'एतऽपि गुरव। अवगुंठयात्मानम्।"

इनके दोनों अनुवाद मूलतः महाकवि भवभूति की रचनाएँ हैं। महाकवि भवभूति का जन्म आठवीं शताब्दी में विदर्भप्रदेश (वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के अन्तर्गत) हुआ था। इन्होंने अपने माता पिता का कुछ परिचय अपने नाटकों की प्रस्तावना में दिया है। संस्कृत साहित्य में इनकी गणना कविकुलगुरु कालिदास के साथ ही की जाती है। इससे इनके महत्त्व का कुछ अनुमान हो सकता है। इनके उत्तररामचरित को कालिदास की रचनाओं से भी बढ़कर मानने वाले रसिक भी हुए हैं।

रामायण के कथानक को लेकर इन्होंने महावीरचरित और उत्तररामचरित इन दो नाटकों की रचना की है। प्रतीत होता है कि पहले इन्होंने वीररस में महावीर चरित की रचना की पर विद्वानों ने उसकी विशेष प्रशंसा न की। इसके बाद शृंगाररस में मालतीमाधव की रचना की और उसमें एक स्थान में यह कहा कि जो लोग हमारी रचना का आदर नहीं करते उनके लिए हम नहीं लिख रहे लेकिन इस विस्तृत धरती के किसी कोने में कभी न कभी हमारी रचनाओं का आदर करने वाले अवश्य पैदा होंगे। काल ने उनके इस आत्मविश्वास को अक्षरशः सच्चा प्रमाणित किया है। भवभूति ने अपने आपको व्याकरण मीमांसा और न्याय का पण्डित (पदवाक्यप्रमाणज्ञ) बताया है। वस्तुतः

य विद्वान ही नही, बडे विचारक भी थे। इनके दोनो नाटको के इतिवृत्त से पता चलता है कि रामायण की कहानी की कुछ स्पष्ट असगतियो की ओर इनका ध्यान गया और इन्होने नई उदभावनाओ द्वारा उन्हे तर्कसगत बनाने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए, राम और रावण के विरोध का मूल क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर इन्होने इस रूप मे ढूढा है कि रावण ने सीता के पाणिग्रहण के लिए प्रार्थना की थी जिसे जनक ने बुरी तरह ठुकरा दिया।

इसी प्रकार उत्तररामचरित म इन्होने इस समस्या को हल किया है कि यह कैसे सम्भव हुआ कि राजमहल म माता कौशल्या के विद्यमान होते हुए राम ने सीता को घर से निकाल दिया, और सारे राजमहल म किसी वृद्ध महिला ने इसका विरोध न किया। इसके लिए इन्होने एक ऐसे तथ्य का उपयोग किया है जिसका ध्यान बचपन से रामायण पढने वालो को भी नही रहता। राजा दशरथ के चार पुत्रो के साथ-साथ एक कन्या भी थी जिसका नाम शान्ता था। वह राजा रोमपाद को गोद दे दी गई थी और उसका विवाह ऋष्यशृंग ऋषि से हुआ था। इन्ही जामाता के यहा बारह वर्ष तक चलने वाले यज्ञ म भाग लेने सब रानिया गई हुई है—पूर्णगर्भा होने के कारण सीता वहा नही जा सकी और सीता के मनोविनोद के लिए ही राम को भी वहा छोड दिया गया है। उन वृद्ध माताओ के घर न होने से ही राम ऐसा अनर्थकारी काम कर सके !

कैसी सुन्दर और पारिवारिक दृष्टि से जचने वाली उद्भावना है !

भवभूति ने मानव रूप और प्रकृति—वन, पर्वत नदी आदि—के बडे सुन्दर और हृदयग्राही चित्रण किए हैं। उनकी भाषा समासबहुल न होती तो ये चित्र और भी मनोहारी बन जाते।

उत्तररामचरित म करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है और भवभूति के इस काव्यकौशल को अनेक रसिको ने अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत म लिखा है

> करुणे तू क्या रोती है ? उत्तर म और अधिक तू रोई।
> मेरी विभूति है जो उसको भवभूति क्यो कहे कोई ?

भवभूति ने सीता और राम के दाम्पत्य जीवन की विडम्बना और परवशता को जितनी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है उसने उनका नाम साहित्य म अमर कर दिया है। हजार वर्ष से अधिक गुजर जाने पर भी उनकी कीर्ति पताका जैसी की तैसी फहरा रही है।

उत्तररामचरित

इस नाटक का संस्कृत नाम 'उत्तररामचरितम्' है। यह सात अको का नाटक है और इसका इतिवृत्त सीता के निर्वासन के विषय मे है। यह अनुवाद १९१३ ई० (१९७० वि०) म भारतीभवन फीरोजाबाद, आगरा से प्रकाशित हुआ था और अब दुर्लभ है। अनुवाद खडी बोली गद्य और ब्रजभाषा पद्य म हुआ है।

नाट्यविधान की दृष्टि से देखें तो अनुवादक ने नान्दी के शास्त्रीय रूप की उपेक्षा की है, शायद अनुपयोगी समझकर पर एक गर्भाङ्क का बडी चतुराई से निर्वाह किया है।

इस गद्य का प्रसंग यह है

१ ३८ में राम सोई हुई सीता को देखकर उसके प्रति अपने प्रेम की बात करते हुए कह रहे हैं

> इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो
>
> रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
>
> अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
>
> किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥
>
> —१ ३८

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—देव । उवट्ठिओ (देव ! उपस्थितः)

राम —अयि क ?

प्रतीहारी—आसण्णपरिआरओ देवस्स दुम्मुहो (आसन्नपरिचारको देवस्य दुर्मुखः)

यहाँ श्लोक के अंतिम पद 'विरह ' का सम्बन्ध अनायास ही प्रतीहारी के कथन के साथ जुड जाता है और 'विरह देव उपस्थित ' बनकर कुछ ही समय बाद होने वाली घटना—सीता वियोग का—संकेत कर जाता है, यद्यपि 'उपस्थित ' का सम्बन्ध बाद वाले दुर्मुख शब्द से था। अनुवादक ने इस बारीकी को समझा और श्लोक का अनुवाद करते हुए ऐसी रचना की जिसमें 'वियोग' शब्द अन्त में आया।

> गेह को यहि गेहलच्छिमी पूरन सुखमा-साज।
>
> अमृत सराई सुभग यहि इन नयनन के काज।
>
> तन परसन एरी लगे जनु चन्दन रसधार।
>
> यहि भुज सीतल मसृन गल मानहु मुतियन हार।
>
> कछु न जाको लगत अस जहाँ न सुख-सजोग।
>
> किंतु दुसह दुख को भर्यौ केवल यासु वियोग ॥
>
> (प्रतिहारी का प्रवेश)

प्र०—उपस्थित है महाराज।

रा०—अरे कौन ?

प्र०—दुर्मुख, आपका गुप्तचर।

यहाँ प्रतीहारी (जिसे कविरत्नजी ने पुल्लिंग में माना है) के प्रथम कथन में 'महाराज उपस्थित है' के स्थान पर 'उपस्थित है महाराज' इसीलिए रखा गया है कि पद्य में अंतिम पद 'वियोग' से यह जुड सके—'वियोग उपस्थित है, महाराज।' शिष्टाचार की दृष्टि से 'महाराज' पद का पहले प्रयोग ही उचित होता।

नान्दी का अनुवाद इन्होंने बिलकुल स्वतन्त्र और विस्तृत किया है—उसे मूल का भाष्य कह सकते हैं। आमन्त्रण शब्दों के प्रयोग में इन्होंने अधिकतर स्थानों पर औचित्य का ध्यान रखा है पर कहीं-कहीं चूक गए हैं। कंचुकी के 'राम भद्र' के लिए 'भैया रामचन्द्र', 'भगवति !' के लिए 'माता', 'देव' के लिए 'महाराज' तो ठीक जँचते ही हैं,

प्राणप्यारी, नाथ आदि भी नही खटकते। पर बडे भाइ के लिए 'आय' के बदले 'महाराज' देव के लिए 'भगवान रामचन्द्र' जैसे प्रयोग मूल की भावना के बिलकुल प्रतिकूल हैं। प्रथम अक के आरम्भ म एक स्थान पर अनुवादक से आमन्त्रण शब्दों के प्रयोग का कौशल अपेक्षित था पर वहा उसे सफलता नही मिली।

प्रसग यह है कि सीता और राम उठे थे। कचुकी ने अष्टावक्र के आगमन की सूचना देने के लिए प्रवेश किया। कचुकी पुराना सेवक है जो बचपन से राम को उसका नाम लेकर पुकारता रहा है। अब भी उसे यह ध्यान नहीं कि वह बालक राम अब राजा है और उसे पुकारते हुए पदोचित आदर देने की आवश्यकता है। पर वह अनुभवी राज-कर्मचारी नाम पुकार लेने पर तुरन्त सभल जाता है और बडी चतुराई से एक नया सम्बोधन करता है। विनीत राम उसे नाम लेकर पुकारने की छूट देता है पर चतुर राजपुरुष बडी सुन्दरता से तीसरा रास्ता निकालता है

(प्रविश्य)

कचुकी—रामभद्र ! (इत्यर्धोक्ते साशकम) महाराज !

राम —(सस्मितम) आय ! ननु 'रामभद्र' इत्येव मा प्रत्युपचार शोभते तातपरिजनस्य तद यथाभ्यस्तमभिधीयताम।

कचुकी—देव ! ऋष्यशृङ्गाश्रमादष्टावक्र सप्राप्त।

अनुवादक ने इस तीसरे सम्बोधन को लाने की सुन्दरता पर ध्यान नही दिया—कचुकी ने फिर 'महाराज' तो नहीं कहा, पर राम की दी हुई छूट का भी उपयोग नही किया—उसने एक तीसरे शब्द 'देव' का प्रयोग किया।

इसका अनुवाद देखिए—

(कचुकी का प्रवेश)

कचुकी—भैया रामचन्द्र (इतना कहकर दातो के नीचे जीभ काटकर) महाराज !

राम—(मुसकराकर) आय तुम पिताजी के पुराने सेवक हो तुम्हारे मुख से 'भैया रामचन्द्र' ही सम्बोधन अच्छा लगता है इसलिए तुम्हे जैसा अभ्यास पड रहा है वैसा ही कहा करो।

कचुकी—महाराज शृङ्गी ऋषि के यहा से अष्टावक्रजी आए हैं।

इसी प्रकार ६ ८ के अनुवाद मे, राम अपने भतीजे चन्द्रकेतु को 'प्रियतम' कहते रहे हैं। ऐसा कहना संस्कृत व्याकरण के नियम से ठीक हो सकता है पर हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग स्त्री अपने पति या प्रेमी के लिए करती है। लक्ष्मण का सीता को श्रीमती या महारानी कहना भी ऐसे ही अटपटे प्रयोग हैं।

रस व्यजना, रूपचित्रण और प्रकृतिवर्णन के प्रसगों मे भवभूति की मार्मिकता को कविरत्नजी ने बडे कौशल से अनुवाद मे उतारा है। कुछ उदाहरण देखिए—

सयोग शृङ्गार

मूल— अलसमुलितमुग्धान्यध्वसपातखेदा-

दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसवाहनानि ।

परिमर्दितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि ।
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥
—१ २४

अनुवाद—
जब मारग के श्रम व्यापनसों, सियलाइ के आलस भाइ गई।
मिसिली मुरझाई मनालिनि सी, बलहीन पसीनन् माइ गई।
कछु मर तव परिरम्भन सों मृठि अग-हराहरि खाइ गई।
सुख मानि प्रिया यह वाही परी हियरा लगि मर तू माई गई ॥

विप्रलम्भ शृंगार

मूल— दलति हृदय गाढोद्वेगादद्विधा तु न भिद्यते
वहति विकल कायो मोह न मुचति चेतनाम।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाह करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम ॥
—३ ३१

अनुवाद— प्रिय वियोग छाती फटै, आवनि प न दरार।
काया तज न चेतनहि वसुधि विकल अपार।
जरति करति प भसम ना, दौ लागी तन माहि।
हृदय विदारत निरत विधि निरदय मारत नाहि ॥

रूप-चित्रण

(संस्कृत) सीता—अहा, दलन्नवनीलोत्पलश्यामस्निग्धमसृणशोभमानमांसलदेह सौभाग्यैन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसुन्दरश्रीरनादरत्रुटितशंकरशरासन शिखण्डमुग्ध मुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखित । १ १५—१ १६ के बीच मे।

हिन्दी

सीता—अहा ! यह तो आर्यपुत्र का चित्र कढा हुआ है, काकपक्षों से श्रीमुख-मडल की छवि और भी अनोखी हो गई है प्रफुल्लनवलनील कमल सा श्याम इनका सुदर सुकुमार पुष्ट शरीर कैसा शोभाभिराम है वह देखो, पिताजी बड आश्चय के साथ सहज ही म शकर का शरासन तोडने वाले इन महाराज के मृदुल मजुल स्वरूप को एकटक निहार रह हैं।

प्रकृति-चित्रण

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा—
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीपनिचुलानि सरित्तटानि ॥
—२ २३

ये गिरि सोइ जहा मधुरी मदमत्त मयूरनि की धुनि छाइ।
या वन मे कमनीय मृगानि की लाल कलोलनि डोलनि माई।

सोहै सरित्तट धारि घनी, जलवच्छन की नवनील निकाई।
वजुल मजु लतानि की चारु, चुभीली जहा सुखमा सरसाई।।

गीत

अनुवादक ने प्रथम अक के अन्त म एक गीत अपनी ओर से जोड दिया है। नाटकीय कथानक की दृष्टि म यह अनावश्यक लगता है। इसम सीता वन विहार के लिए जाने म पहले मेरा हाथ जोरि परनाम, ऋषि मुनियन को आदि गीत गाता है। फिर भी इस गीत का वस्तु का सीता क भावी जीवन से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। अक के अन्त मे होने से निष्काम ध्रुवागान के रूप म इसका सौन्दय और उपयोगिता हो सकती है। इसी प्रकार के गीत भारतेन्दु ने 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद म लिखे है पर उन्हे कथानक का हिस्सा नही बनाया गया यद्यपि उनम अगले अक के कथानक की कुछ व्यजना अवश्य है। हमारे विचार से भारतेन्दु की पद्धति इससे अच्छी है और निष्काम ध्रुवागान को कथानक का अश बनाना उचित नही। कविरत्नजी ने इसके अतिरिक्त और किसी अक के अन्त म ऐसा गीत नही रखा। *भरतवाक्य को गेय पद बनाया है और २ १३ का अनुवाद आरती* की तर्ज मे है।

उत्तररामचरित के इस अनुवाद की भाषा—खडी बोली और ब्रज—दोनो साधारणतया शिष्ट स्तर की हैं, पर कही कही बोलचाल के प्रयोग भी मिलते है। सस्कृत तत्सम शब्दो का प्रयोग प्रचुर मात्रा म हुआ है। ब्रज के पद्यो म ठेठ ब्रज के प्रयोग की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है जबकि भारतेन्दु म तत्सम अधिक और ब्रज कम है। इा लक्ष्मणसिंह और सीताराम म ठेठ की ओर झुकाव अधिक है।

उच्छव, जन, हराहरि, मिसिली, बखिया करना, वही समय वन रहा है, माई आदि जसे प्रयोग अनुवाद म मिलते हैं।

सुन्दर मुहावरा का प्रयोग भी कविरत्नजी न अनेक स्थलो पर किया है। कारे कोमुन प भयी (१ ४४), तू पूरे दिना से है आनन्द करो बेटा, जसे प्रयोगो ने भाषा की शक्ति को बढा दिया है।

नानो की तोड मरोड के उदाहरण बहुत ही थोडे हैं पर है अवश्य। मजाद (मर्यादा) बालजुमीक (वाल्मीकि जी) जसे शब्द कही-कही दिखलाई दे जाते हैं।

अनुवाद के दोष

त्रुटियो पर विचार करें तो सस्कृत भाषा का अर्थ ठीक न समझने की भूलें कही-कही मिलती हैं जसे गोदावरीहृदात —गोदावरी के हृदय से (३ ४ से ऊपर) नापि जीवेत्स ब्राह्मणपुत्र —ब्राह्मण का पुत्र भी जी उठा (२ १० के बाद)

एक प्रमुख दोष है कविकल्पित पात्र का स्वरूप विकृत करना। पहले बताया जा चुका है कि महावीर चरित और उत्तररामचरित म वाल्मीकि के पुरुषश्रेष्ठ राम को नायक बनाया गया है, ईश्वर के अवतार राम को नही। पर अनुवादक ने अपनी अवतार वादी आस्था का आरोप करके *'उत्तररामचरित' के राम का स्वरूप विकृत कर दिया है*

और उस ईश्वर का रूप दे दिया है।

द्वितीय अंक, श्लोक, १३ में शम्बूक राम का गुणगान इन शब्दों में करता है

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने भूतनाथः शरण्यो,
मामन्विष्यन्निह वृषलकं योजनानां शतानि।
क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां सम्प्रसादोऽन्यथा तु
क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः॥

यहां पहली पंक्ति राम की सार्वभौम राजसत्ता का बखान कर रही है उनकी ईश्वरीय या अतिमानव सत्ता का नहीं। पर अनुवादक इसके अनुवाद में ईश्वरावतार और 'भवभयहारिणी भक्ति देने वाले विष्णु के अवतार राम का वर्णन प्रस्तुत कर रहा है।

जगनायक नायक पूज्य प्रभो,
गरुड़ध्वज गौरि शरण्य विभो।
प्रिय पावन भावन भक्तिधनी
जिहि लागि करैं मुनि खोज घनी।
तुमही हरि खोजत मोहिं अये
अपुही सत योजन धाइ गये।
कहं शूद्र अधीन मलीन गती,
कहुं श्रीपति तानहु लोकपती।
अपनाइबे जो मम शुद्धिकरी,
तप की यह पुण्य प्रसाद हरी।
नहिं तो तजि औध सुराज यहां
वन दण्डक मे तव काज कहा॥

यही प्रवृत्ति पहले सीताराम 'भूप' में दिखाई जा चुकी है। फिर भी, कुल मिला कर यही कहना उचित होगा कि कविरत्नजी का अनुवाद प्रायः मूलानुसारी, परिश्रम से किया गया और सरस है। भाषा शैली अधिकतर शिष्ट और सरल स्तर की है और आज पचास वर्ष बाद भी इसकी भाषा में पुरानेपन की विचित्रता नहीं खटकती। कहीं-कहीं मूल की गन्ध अवश्य है, पर वह इतनी अधिक नहीं कि अरुचिकर हो जाए।

मालतीमाधव

भवभूति के मालतीमाधव का अनुवाद कविरत्नजी ने १६१४ ई० में शुरू किया था जो १६१७ ई० में प्रकाशित हुआ। मालतीमाधव शृंगार रस की रचना है और रूपक का प्रकरण नामक भेद है। इस प्रकरण में मन्त्रिपुत्र माधव नायक है और मन्त्रिपुत्री मालती नायिका। इसमें दस अंक हैं और कथावस्तु उत्पाद्य या कल्पित है।

महाकवि भवभूति की यह द्वितीय और महावीरचरित के बाद लिखी गई रचना प्रतीत होती है क्योंकि इसमें वह प्रसिद्ध श्लोक आता है जो रसिकों से तत्काल आदर न पाने वाले असूय प्रतिमाशालियों के गर्व का द्योतक और अपनी प्रतिभा में दृढ़ आस्था का प्रतीक बन गया है

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा ।
कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

—१।८

महावीरचरित की रचना पर इन्हें विशेष आदर न मिला होगा। द्वितीय रचना मालतीमाधव पर इन्हें निःसन्देह सम्मान प्राप्त हुआ होगा। अन्तिम रचना 'उत्तररामचरित' को तो इतना मान मिला कि कभी-कभी उसे कालिदास की रचनाओं से भी श्रेष्ठ कहा गया—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

अनुवाद मूल के अनुसार गद्य और पद्य में है। गद्यरचना खड़ी बोली में और पद्य रचना ब्रजभाषा में हुई है। अनुवाद का समर्पण 'निदरत नहिं हरिजन सत आसा श्री व्रजभाषा ठेट। सुमन मालतीमाधव यह तिन कोमल कर में भेंट' ब्रजभाषा के प्रति कविरत्नजी की स्नेहभावना दरशा रहा है। परन्तु इस समय ब्रजभाषा पद्य का साहित्य जगत में मान तेजी से गिर रहा था और खड़ी बोली पद्य उसका स्थान लेता जा रहा था। अनुवादक ने इस परिस्थिति पर भूमिका में दुःख प्रकट किया है।

इस अनुवाद में एक विशेषता यह दिखाई देती है कि अनुवादक ने बहुत से श्लोकों को गीत बना दिया है। इनमें से कुछ गीत तो उचित लगते हैं क्योंकि उनकी सामग्री भावव्यंजक है पर कुछ गीत बेतुके मालूम होते है। उदाहरण के लिए, प्रथम अंक के १८वें, १९वें और २०वें गीत लीजिए। ये मूल के १।२०, २१, २२ के अनुवाद हैं। इनमें प्रधान अर्थ वस्तु मात्र है। गीत वर्णन से ये स्वतन्त्र छन्द से लगते है। इस वस्तु में ऐसी कोई भावप्रवणता नहीं, न रूप या प्रकृति का चित्रण ही है कि इन्हें गेय गीत के रूप में प्रस्तुत किया जाए। गीतों की इतनी बहुलता हुई है कि एक स्थान पर वृद्धा कामन्दकी भी गा रही है। बस इसमें कुछ सन्देह नहीं कि अर्थ और भाषा के प्रवाह की दृष्टि से अन्य भावगीतों की तरह ये कविताएं भी सुन्दर है—इसका एक कारण यह है कि कवि ने मूल का आधार रखते हुए भी काफी स्वच्छन्दता का अवलम्बन किया है।

रचना में मूल का अर्थ अविकल रखने का कविरत्नजी ने बड़ा यत्न किया है। रचना में कहीं कहीं शैली में 'भारीपन' या 'पन्नाग्रह' दोष आ गया है। 'ओहो, अशेषभुवन द्वीपदीप भगवान् सूर्यनारायण इतने ऊंचे चढ़ आए' (प्रस्तावना) जैसे प्रयोग जहां तहां दिखाई पड़ जाते हैं।

नान्दी का अनुवाद बहुत लम्बा और स्वतन्त्र हुआ है। अनुवादक ने 'मंगल मयंग और सुवरण' शब्दों का प्रयोग करके काव्यार्थसूचन का बहुत स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः कविरत्नजी ने सोमनाथ चतुर्वेदी के ब्रजभाषा पद्य में किए गए अनुवाद को पढ़कर उसकी अपेक्षा अधिक मूलानुसारी अनुवाद करने का यत्न किया है। उसे इन्होंने अनुवाद के बजाय स्वतन्त्र ग्रन्थ माना है क्योंकि कवि ने अत्यधिक स्वच्छन्दता बरतकर अनुवाद किया है। पर ये स्वयं भी स्वच्छन्द होकर लिखने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं और अनेक पद्य अनुवाद में मूल से बहुत लम्बे हो गए हैं।

अनुवाद-कौशल यहाँ तो बहुत बड़ा चढ़ा दिखाई देता है, और यहाँ असावधानी और उपेक्षा भी दिखाई देती है। श्लोक ३५ के बाद का माधवकथित गद्य अनुवाद-कौशल का सुंदर उदाहरण है। इसमें श्लेष में कहे गए वचनों का अनुवाद भी चतुराई से द्व्यर्थक किया गया है। असावधानी का उदाहरण दूसरे अंक में श्लोक बारह के बाद मालती का कथन है। यह कथन वस्तुतः पहले के वाक्यों का दुहराना मात्र है। अतः इसमें वे ही शब्द रहने चाहिए जो पहले के वाक्यों में थे। अनुवादक ने यहाँ पहले से भिन्न शब्दों का प्रयोग कर दिया है।

साधारणतया यह अनुवाद बड़ा सुंदर और मनोहारी हुआ है। चाहे रूपवर्णन हो, चाहे प्रकृतिचित्रण, चाहे आलम्बन की चेष्टाएँ हों चाहे आश्रय के अनुभाव सबको अनुवादक ने बड़ी मार्मिकता से समझा सराहा है और बड़ी रसिकता से उसको अपनी प्रांजल भाषा में प्रस्तुत किया है। कहीं भी छन्द कविरत्नजी के लिए कठिन नहीं। न उन्हें सुंदर उपयुक्त शब्दों की कोई कमी है। किसी किसी जगह तो अनुवाद मूल को भी मात कर गया दिखाई देता है (जैसे ३ १० देखिए नीचे)। जगह-जगह सुंदर मुहावरे और प्रयोग भाषा पर उनका अधिकार प्रदर्शित करते हैं। हा धिक्=हाय ! हाय ! निवृत्तिमान=यक्ष हारि, किं बहुना=कहाँ तक कहूँ, दिष्ट्या=बड़ी बात जैसे सुंदर प्रयोगों से पता चलता है कि कविरत्नजी ने शब्दों का परिवर्तन मात्र नहीं किया, अर्थ को पूरी तरह ग्रहण करके उसे अपनी मनोहर भाषा में मौलिक रचना की तरह प्रस्तुत किया है।

इनकी भाषा का स्तर शिष्ट और प्रौढ़ है और उसमें अपूर्णता की भलक नहीं है। खींचातानी के उदाहरण विरले हैं। कहीं कहीं देहाती शब्दों का प्रयोग भी है जैसे भाईलीपन अगाड़ी।

दोषों पर विचार करें तो दो-तीन जगह संस्कृत का अर्थ ठीक ठीक न समझने की भूल हुई है, जैसे चतुर्थ अंक में श्लोक १ में पहले कामन्दकी का कथन—इन मालती-माधव को जो। दूसरी बात यह कि इन्हें गद्य में उतनी सफलता नहीं हुई जितनी पद्य में। गद्य कई जगह संस्कृत शब्दों से बोझिल और दुरूह है और इस दुरूहता को दूर करने के लिए अनुवादक ने कोष्ठकों में अर्थ समझाने का यत्न किया है जो बड़ा भद्दा लगता है। बहुधा गद्य से और कहीं-कहीं पद्य से भी (जैसे वहाँ जहाँ अकारण गीत बना दिए गए हैं) संवादों की नाटकीयता में कमी हो गई है और नाटक का झुकाव पाठ्य काव्य की ओर हो गया है।

इनके अनुवाद के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं

मूल— अनुभव वदनेन्दुदयागम
नियतमेव यदस्य महात्मनः।
क्षुभितगुत्कलिकातरलं मनः
पय इव स्मिमितम्य महोदधे ॥ ३ १० ॥

अनुवाद— माधव मन गम्भीर थिर, शान्त समुद्र समान।
लखि मालति मुख-पूर्ण ससि, सो लाग्यौ लहरान ॥

आलम्बन की चेष्टारूप उद्दीपन विभावों का चित्रण—

मूल— स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां,
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम्।
प्रतिनयनविपाते किंचिदाकुञ्चितानाम
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥ १३०॥

अनुवाद— अभिलास पगे उतकण्ठित सं अँग-अंग अनंग जगावन सों।
चिकनाए सनेह लुनाई भरे सरसाए दुहू दिसि धावन सों।
दृग साधि कछू कछु खैंचि मना सर घालिति भौंह कमानन सों।
चितई चितचोर सँकोच भरी मम ओर अनेक प्रकारन सों ॥

श्री वागीश्वर विद्यालंकार

श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने दो नाटकों—कुन्दमाला और अभिज्ञानशाकुन्तलम—के अनुवाद किए हैं। पहला १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था और दूसरा १९६१ में। अनुवादक संस्कृत साहित्य के आचार्य और हिन्दी के कवि हैं और गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में ४० वर्ष तक हिन्दी-संस्कृत विभागों के अध्यक्ष रहे। अब आप दिल्ली में सीताराम बाजार में रहते हैं। *आपकी कविताओं का एक संग्रह नीराजना नाम से प्रकाशित* हुआ है। आपने संस्कृत में मौलिक नाटक भी रचे हैं और कालिदास पर एक समीक्षा ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है।

विद्यालंकारजी के अनुवादों में तीन विशेषताएं हैं—स्पष्टता, संक्षेप और भाषा की प्राजलता। खड़ी बोली के पद्यों का जैसा निखरा रूप इन अनुवादों में है, उससे इनके अभ्यास और कुशलता का पता चलता है। 'दूरान्वय' नाटकीय पद्यों के लिए बड़ा भारी दोष है—इस दोष से इनकी रचना सर्वथा मुक्त है। इसी कारण वह प्रसाद गुण से परिपूर्ण और सुबोध लगती है। कुछ अनुवादकों ने मूल का विस्तार करके बड़े-बड़े पद्य बनाए हैं। इन्होंने कहीं भी ऐसा विस्तार नहीं किया और प्रायः मूल जितने ही संक्षेप में पूरी बात कह दी है। शब्दचयन भी विवेकपूर्ण हुआ है। कठिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग शाकुन्तल के अनुवाद में तो कहीं-कहीं छंद आदि के अनुरोध से हुआ है, पर कुन्दमाला में नहीं हुआ। *फिर भी छोटे-छोटे तत्सम शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है जिससे भाषा की व्यंजना* को बल मिला है और रचना में बड़ा माधुर्य आ गया है।

नाट्यविधान की अपेक्षाओं और लेखक के अभिप्राय पर इनकी सजग दृष्टि रही है। कुन्दमाला में आए अनेक शब्दचित्र बड़ी सुन्दरता से अनूदित हुए हैं। इसी प्रकार शाकुन्तल में जहां चतुराई अपेक्षित थी वहां प्रायः वह दिखाई गई है।

अनेक छन्दों में इन्होंने अपना कौशल दिखाया है, पर चौपाई का प्रयोग नहीं किया—सच पूछिए तो नाटक में यह अच्छा भी नहीं लगता। इनकी पद्यरचना तुकान्त है और प्रायः तुकें अनायास आई हुई लगती हैं।

इनकी भाषा एकरूप है और पात्रों की प्रवृत्ति के कारण उसमें अन्तर नहीं किया गया। सर्वत्र वही शिष्ट परिमार्जित खड़ी बोली हिन्दी है। एक अपवाद शाकुन्तल में

अन्तिम अक में भरत की तोतली बोली है।

संक्षेप और सन्दायन की यह कुशलता राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु की याद दिलाता है। पर राजा साहब की भाषा ऐसी व्यवस्थित न हो सकती थी और भारतेन्दु अपेक्षया अधिक स्वच्छन्द अनुवादक थे। कुल मिलाकर, इन्हे आसानी से प्रथम कोटि के उत्कृष्ट अनुवादकों में स्थान दिया जा सकता है।

कुन्दमाला

इस नाटक के लेखक दिङ्नाग या धीरनाग या वीरनाग कवि थे जो दक्षिण भारत या लंका के निवासी थे। पर ये प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं और सम्प्रदाय से शैव तथा वेदभक्त थे। इन्होंने रामायण के उत्तरकाण्ड से कथा लेकर सीता-निर्वासन के इतिवृत्त पर यह नाटक लिखा है। कुछ विद्वान इस कवि को कालिदास के बाद और भवभूति से पहले हुआ मानते हैं, और कुछ भवभूति का उत्तरवर्ती बनाते हैं। कुन्दमाला और भवभूति के उत्तररामचरित का कथानक एक ही है, कुछ विशिष्ट नाटयकौशलों में भी समानता है और कई जगह दोनों में पदप्रयोग भी बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप है। रघुवंश आदि कालिदास के ग्रन्थों के कुछ अंशों के सदृश अंशों की ओर कुन्दमाला के इस अनुवाद की भूमिका में अनुवादक ने ध्यान खींचा है। इन्हें अर्वाचीन मानने वाले इन्हें ७०० ईस्वी के बाद और ११०० ई० से पहले रखते हैं। वागीश्वरजी के विचार में दिङ्नाग भवभूति से पहले हुए।

अनुवाद की भूमिका में कवि की सहृदयता और कालिदास तथा भवभूति की रचनाओं से सादृश्य दिखाते हुए अनुवादक ने अपनी सहृदयता का भी अच्छा परिचय दिया है, और नारी के साथ पुरुष के अमानवीय व्यवहार की तथा सीता के साथ राम के व्यवहार की बड़ी भर्त्सना की है।

कुन्दमाला छह अंकों का नाटक है और इसमें करुणविप्रलम्भ शृंगार रस प्रधान है। कवि ने बड़ी सुन्दरता से राम और सीता के एकनिष्ठ प्रेम, दैववशात सीता और राम के दुख पाने तथा अलग हो जाने पर भी परस्पर दृढ़ आस्था तथा चाह रखने के दृश्यों की कल्पना और योजना की है। सारे नाटकीय कथानक में राम आदर्शनिष्ठ और प्रजारंजक राजा तथा सीता के प्रेम में डूबे प्रेमी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार सीता राम के प्रति गहरी शिकायत रखती हुई भी मान और प्रेम के मानसिक संघर्ष में तुलती है और उसमें प्रेम की विजय होती है। मूल लेखक ने नर नारी की प्रेमकथा में दो स्थलों पर अकारण ही राम को विष्णु बताया है। इसमें न कोई संगति है न सार्थकता और न प्रसंग में कोई स्वारस्य ही है।

अनुवाद गद्य और पद्य में मूल के अनुसार ही हुआ है और भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। आमन्त्रण शब्दों में 'आर्य' के लिए 'भाईजी', आर्या (सीता के लिए लक्ष्मण का कथन) 'भाभीजी' बड़े स्वाभाविक और उचित लगते हैं। पर राम का 'श्रीराम' कहना मूल के प्रतिकूल है। सीता का 'मैं तो हार गई' (थक गई) देहाती प्रयोग है इसी प्रकार, छोदी (विरल)। पर ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। छन्द चलते हुए हैं और कहीं-कहीं उर्द

तज के पद्य भी रखे गए हैं जस १ ११।

इसम आए गतिचित्रा का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इनके अनुवाद बडी साव धानी और कुशलता से किए गए हैं। १६, १३० ३८ और ४१ के अनुवाद पढने स यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

नीचे अनुवाद के दो उदाहरण दिए जाते हैं

मूल— आदाय पङ्कजवनान्मकरन्दगन्धान
कर्णन्वितानमधुरान कलहंसनादान।
गीतास्तरङ्गकणिका विकिरन्नुपान्ति
गङ्गानिलस्तव सभाजनकाम्ययेव॥
—१५

अनुवाद— ले लेकर मकरन्द गन्ध अरविन्द वनो का।
सग लिए मगीत मजु कल हंसगणा का।
गीत तरगोच्छलित स्वच्छ छीट छितराती।
करने तुम्ह प्रसन्न पवन गगा की आती॥

(२)

मूल— एतस्मिन् कुशकटके लघुतर पादौ निधत्स्वाग्रत।
शाखेय विनता नमस्व जनकगर्त्तो महान् वामत।
हस्तेनामुम तन दक्षिणगत स्थाणु सम साम्प्रतम।
पुण्य स्मिन कमलाकरे चरणयोर्निवर्त्यता क्षालनम॥
—१३०

अनुवाद— कुश कटक हैं—हलके हलके पर यहा धर चलना।
नीची है यह डाल—झुका कुछ, बाए गर्त सम्हलना।
दाए ठूठ सहारा ले लो अब है पृथ्वी समतल।
धोलो इसम पर कमल सर यह अतिसुन्दर निर्मल॥

शकुन्तला

यह अभिज्ञानशाकुन्तल का अनुवाद है और १९६१ मे प्रकाशित हुआ था। इस अनुवाद म गद्य और पद्य दोनो खडी बोली म हैं और मूल नाटक का पूरा भाषान्तर किया गया है।

भाषान्तर म अनुवादक को अच्छी सफलता मिली है। मूल के वाच्य और व्यग्य दोनो अर्थों पर उसका ध्यान रहा है और व्यग्य अर्थ का यथावत रखने का उसने बडा यत्न किया है। अधिकतर श्लोको का अनुवाद उतने ही सक्षिप्त और सुगठित हिन्दी पद्य म हो गया है—ऐसा कर सकना बहुधा बडा कठिन होता है।

नाट्यविधान के बारे म अनुवादक सावधान है। नान्दी श्लोक के अनुवाद से वाच्यार्थसूचन भी हो जाता है। पर कहीं-कहीं जहा सस्कृत मे चतुराई स अर्थ अस्पष्ट रखते हुए बात कही गई थी वहा अनुवाद म उतनी चतुराई नहा दिखाई देती। उदाहरण

के लिए, जब (प्रथम अंक में) दुष्यन्त से शकुन्तला की सखी ने उसका परिचय पूछा तब वह संकट में पड़ गया। अपना असली परिचय छिपाने के लिए उसने एक अस्पष्टार्थक वाक्य बोला जो झूठा होते हुए भी झूठा न था— भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः। इसका सीधा अर्थ तो यह लगता है कि मुझे पुरुवंश के वर्तमान राजा दुष्यन्त ने धर्मविभाग का अधिकारी नियुक्त किया है और मैं यह देखने इस पुण्याश्रम में आया हूँ कि तपस्वियों के धर्म-कर्म में कोई विघ्न तो नहीं पड़ता। पर दूसरा यह अर्थ भी बन जाता है कि पुरुवंशी राजा (दुष्यन्त के पिता) ने मुझे धर्मपूर्वक शासन करने के लिए राजसिंहासन पर आरूढ़ किया है इत्यादि जो दुष्यन्त को झूठा होने के आरोप से बचा लेता है। इस संस्कृत कथन का बहुत चतुराई से अनुवाद किया जाए तभी वह दोनों अर्थ दे सकता है। अनुवादक ने इसे इन शब्दों में रखा है 'पुरुवंशी महाराज ने अपने राज्य में धार्मिक अनुष्ठानों की देखभाल हम को सौंप रखी है, और यहाँ देखने के लिए हम यहाँ आए हैं कि आप लोगों के सब कार्य निर्विघ्न तो चल रहे हैं।' यहाँ 'अपने राज्य में' शब्द प्रकृत अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं, और वाक्य पढ़ने से यह लगता है कि दुष्यन्त राजकर्मचारी है। इस वाक्य में झूठी और सच्ची दोनों बातें बताने की सामर्थ्य नहीं है।

छठे अंक के आरम्भ में मछियार और पुलिसवालों की बातचीत के अनुवाद में प्रवृत्ति के अनुरूप भाषाशैली का प्रयोग हुआ है। पुलिसवालों की भाषा में अब जैसे शब्द रखने से कथन में अधिक शक्ति और स्वाभाविकता आ गई है। यही बात सातवें अंक में सर्वदमन भरत के कथनों को तोतली भाषा में रखने के बारे में है। मूल में यहाँ प्राकृत है पर तोतलापन नहीं। यह अनुवादक की अपनी सूझ है।

आमन्त्रणवाचक शब्दों में सबसे अधिक उल्लेखनीय षष्ठ अंक में मधुकरिका और परभृतिका का कंचुकी के लिए 'दादा' शब्द का प्रयोग है। यह 'आर्य' का अनुवाद है, और बहुत ठीक बैठा है।

वाक्यरचना सरल और सीधी है, शब्दचयन में सुन्दरता है, तुकें अधिकतर स्वाभाविक और अनायास हैं और पद्यों का अर्थ सीधा लगता जाता है। पर कहीं कहीं, संस्कृत के पद्यों में संस्कृत के कठिन शब्दों और मूल के पदों का प्रयोग बड़ा खटकता है जैसे १.१६ में निजान्त करणप्रवृत्ता, जो वृत्ती की तुक मिलाता है।

अनुवाद-कौशल व्याकरण और मुहावरे की कुछ भूलें खटकने वाली हैं। २.३ से पहले 'भगवन् कुसुमायुध' का अनुवाद 'भगवान कामदेव' ठीक नहीं हुआ। यहाँ मूल का प्रयोग सार्थक और यौगिक था, अनुवाद में रूढ़ और निरर्थक शब्द है। पहले अंक में विदूषक से सेनापति का यह कथन सखे स्थिरप्रतिबन्धो भव अहं तावत्स्वामिनश्चित्त-वृत्तिमनुवर्तिष्ये' प्रकृत से उलट अर्थ में अनूदित हुआ है। दूसरे अंक के आरम्भ में शिकारी के लिए 'चिड़ीमार' शब्द इस प्रसंग में अनुचित है—वहाँ चिड़ियों का नहीं, पशुओं के शिकार का प्रसंग है। १.२० में पहली पंक्ति का अनुवाद में दूसरी पंक्ति बनाने से सौन्दर्य की हानि हुई है।

मूल यह है

अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेषु सन्नद्धम ॥

यहा देखने वाले का ध्यान सबसे पहले मुख पर और उसके लाल भाग अधर पर जाता है फिर बाहो पर, और फिर जवानी छलकाते स्तनों तथा नितम्बो पर। अनुवादक ने इस क्रम पर ध्यान नही दिया। अनुवाद देखिए—

यौवन सुमन सुहावना तनु को रहा सवार।
अरुण अधर किसलय नया, बाहु हार सुकुमार॥

तनु शब्द का हिन्दी म स्त्रीलिंग प्रयोग, और 'पापपूर्ण के अर्थ म 'पाप का प्रयोग पडिताऊ लगते हैं। शृगारलज्जा को शृगारमिश्रित लज्जा के स्थान पर 'शृगार सूचक लज्जा' कहना अधिक उपयुक्त होता। लज्जा बुरे काम, अपमान, शृगार आदि अनेक बातो की सूचक हो सकती है—यहा वह शृङ्गार सूचक है। ५ २८ म कण्व के लिए शकुन्तला के प्रसग म 'जनक' शब्द का प्रयोग ठीक नही लगता। शकुन्तला और सखियो म परस्पर 'तुम' सवनाम का प्रयोग भी असुन्दर है। १ २५ म दुष्यन्त शकुन्तला को एक वचन म निर्दिष्ट करता है १ २८ मे आदरवाचक बहुवचन म और प्रियवदा भी बहुवचन म कहती है।

व्याकरण की दृष्टि से 'आप' सवनाम के साथ 'दो' क्रिया का प्रयोग न करके 'दीजिए' कहना उचित होता।

'मुझे मिलते' को कहना, 'दे छोडो' जसे कुछ बमुहावरा प्रयोग भी दिखाई देते हैं। हृदय के लिए 'तुम' सवनाम भी बेतुका है।

फिर भी कुल मिलाकर, अनुवाद सरल और सरस है चाहे कुन्दमाला के अनुवाद की सरलता इसम नही आ सकी। नटी और रानी हसपदिका के गान तथा शकुन्तला के प्रेमपत्र को गद्य गीत का रूप देने से उनका सौन्दय बढ गया है। गीत बडे मधुर और प्रवाही बने हैं। वैतालिक-गान के दो श्लोक भी गीत बनकर अच्छे लगते हैं।

रानी हसपदिका का गीत

चूम भवर सहकार मजरी तुम इक बार गए।
नित नवरस के लोभी, कस इस बिसार गए?
रहन भर रो रीझ कमल के क्या तुम हार गए॥

—, ,

इसका संस्कृत रूप यह है

अभिनवमधुलोलुपो भवास्तथा परिचुम्ब्य चूतमजरीम।
कमलवसतिमात्रनिर ता मधुकर विस्मृतोऽस्येना कथम॥

—, ,

विराज

विराज का व्यावहारिक नाम उदयवीर है और साहित्य नाम विराज। आपने

ालिदास के तीनों नाटकों का अनुवाद किया है। कुमारसम्भव का अनुवाद भी आपने
या है। आपकी लिखी अनेक रचनाएं—कविता-संग्रह, नाटक और लघु उपन्यास भी
—प्रकाशित हुई हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल

प्रकाशन अभिज्ञानशाकुन्तलम का अनुवाद १९५८ ईस्वी म राजपाल एण्ड
न्ज, दिल्ली, ने प्रकाशित किया था।

रचना शैली सारी रचना गद्य म है पर तीन चार पद्य रचनाएं भी हैं। एक
श्लोक जैसे का तैसा रख दिया है। नान्दी श्लोक (१ १), नटी के गान (१ २) तथा
रानी हंसपदिका के गान (५ १) वाले श्लोकों का अनुवाद पद्य म है। इनमें से पिछले दो,
गान होने के कारण ध्रुवागीता म अनुवाद किए गए हैं। ये दोनों गीत बड़े सुन्दर बन हैं।

भाषा सारी रचना की भाषा प्रौढ शिष्ट खड़ी बोली हिन्दी है।

अनुवाद शैली यह अनुवाद पूर्ण भाषान्तर है। मूल म न कुछ अपनी ओर से
जोड़ा गया है, और न घटाया गया है।

अनुवाद कौशल भूमिका अनुवादक ने अनुवाद से पहले ३६ पृष्ठ की भूमिका
लिखी है जिसम कालिदास के जन्मस्थान, काल, सौन्दर्यभावना, काव्य निपुणता और
आदर्शों पर विचार किया है। जन्मस्थान के बारे म आपकी धारणा वागीश्वर विद्या-
लंकार की इस धारणा से मिलती जुलती है कि कालिदास कनखल (उत्तर प्रदेश) के
आसपास के किसी स्थान पर पैदा हुए थे और वहीं उनकी किशोरावस्था बीती थी।
सौन्दर्यभावना, काव्यनिपुणता और आदर्शों के बारे म अनुवादक ने अधिक गम्भीरता से
विचार किया है।

नाट्य विधान

नान्दी नान्दी श्लोक के अनुवाद म अनुवादक ने नान्दी की काव्यार्थ व्यंजना
की सर्वथा उपेक्षा कर दी है और एक वाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग करते हुए नान्दी
वाक्यों का वाच्य अर्थ अनुवाद म रखा है। फिर पद संख्या तक उसका ध्यान क्या जाता ?
इस अनुवाद म यह एक बड़ी त्रुटि रह गई है।

पात्रभाषा भाषा सब पात्रों की एक है और उसमें प्रवृत्तिगत भेद नहीं किया
गया। आमन्त्रण शब्दों के प्रयोग म तत्सम शब्दों की ओर झुकाव है और आर्य, प्रिय,
सखि आदि संस्कृत व्याकरण म संगत पर हिन्दी बोलचाल म न आने वाले प्रयोग भी किए
गए हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति इतनी अधिक नहीं है कि पाठक को खटकने लगे।

रसादि रस भाव आदि की व्यंजना म अनुवादक को अच्छी सफलता मिली है।
मूल की बारीकियों को समझकर उसका सरल गद्य म अनुवाद किया गया है। भयानक
रस के एक पद्य का अनुवाद देखिए

मूल—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि ।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

—१७

अनुवाद—

अब भी तो यह बार बार गर्दन मोडकर पीछे की ओर रथ को देखने लगता है, और फिर तेज दौडने लगता है। तीर लगने के भय से इसके शरीर का पिछला भाग अगले भाग में समाया जा रहा है। दौडने की थकान से इसका मुख खुल गया है और उसमें से अधचबी घास के तिनके रास्ते में गिरते जा रहे हैं। देखो, अपनी तीव्र गति के कारण इसके पाँव धरती को तो ज़रा देर को ही छूते हैं, नहीं तो यह आकाश ही आकाश में उडा जा रहा है।—पृष्ठ ४२

भाषा शैली विराज की भाषा शैली को आदर्श कहा जा सकता है। शिष्ट खडी बोली का यह सुन्दर नमूना है। न इसमें कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग है, न उर्दू है, न काव्य में अनुपयुक्त बोलचाल के 'गवारू' शब्द हैं। वाक्य छोटे, सरल और माधुर्य से पूर्ण हैं और शब्द तद्भव या सरल तत्सम तथा बोलचाल और काव्य में प्रचलित वर्ग के हैं। विशेष रूप से इनके दो गीत तो बडे स्वाभाविक और मधुर बने हैं। नटी के ग्रीष्मऋतु के गान का भाषा प्रवाह देखिए—

सिरस के फूल बडे सुकुमार।
चाँदनी की किरणों से तन्तु भरी है जिनमें सुरभि अपार।
भ्रमर आते करते रसपान जताते ज़रा चूमकर प्यार।
उन्हीं से ललनाएँ अत्यन्त सदय अपना करतीं शृंगार॥

—पृष्ठ ४०

इसका संस्कृत रूप यह है

ईषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारतरकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमाना प्रमदाः शिरीषकुसुमानि॥

—१४

अनुवाद-कौशल और संस्कृत को ठीक न समझने की त्रुटियाँ इस अनुवाद में बहुत कम हैं। कौशल की त्रुटि का एक स्थल यह है

मूल—

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीं निवेदयामि? कथं वा आत्मापहारं करोमि? भवतु एवं तावदेनां वक्ष्ये—(प्रकाशम्) भवति! यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

—प्रथम अंक

अनुवाद—

राजा—(मन ही मन) इस समय अपना परिचय दे दूँ, अथवा अपने आपको छिपाए ही रखूँ? अच्छा, इन्हें इस प्रकार बताता हूँ। (प्रकट रूप से) भद्रे, मुझे महाराज दुष्यन्त ने धर्मविभाग में अधिकारी नियुक्त किया है। इससे मैं यह जानने के लिए कि

आश्रमवासियों की धमनियों में कोई विघ्न-बाधा तो नहीं यहां तपोवन में आया था।

इस प्रसंग के महत्त्व पर वागीश्वर विद्यालंकार के अनुवाद के मितभित में प्रकाश डाला गया है।

मूल्यांकन कुल मिलाकर यह अनुवाद आज की शिष्ट प्रौढ़ खड़ी बोली की सुन्दर रचना है। भाव और रस की व्यंजना अलंकार और वस्तु सबके अनुवाद में चतुराई और सफाई दिखाई देती है। मामूली त्रुटियां होते हुए भी यह रचना संस्कृताऊपन से बहुत कुछ बची हुई है और प्रवाहमयी मधुर हिन्दी भाषा का सुंदर नमूना है। इसकी उत्कृष्टता का एक संकेत इस तथ्य में मिलता है कि इस अनुवाद रचना का अभिनय इन्दौर में १९६२ में किया गया था।

रांगेय राघव

रांगेय राघव ने, जिनका वास्तविक नाम टी० एन० वी० आचार्य था, दो संस्कृत नाटकों मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस, का अनुवाद किया है। आपने शेक्सपीयर के कई अंग्रेजी नाटकों का भी अनुवाद किया है। १९६३ ई० में आपका देहान्त हो गया। आपकी मौलिक रचनाओं में कविता, कहानी उपन्यास, निबन्ध आदि विविध वस्तुएं हैं।

मृच्छकटिक

प्रकाशन मृच्छकटिक का प्रकाशन सितम्बर, १९५७ में हुआ था और उससे चार छह महीने पहले की अवधि में यह अनुवाद किया गया होगा। प्रकाशक हैं राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली।

रचना-शैली मूल नाटक की रचना गद्य और पद्य दोनों में है और पद्य का हिस्सा बहुत काफी है। अनुवाद सारा गद्य में हुआ है क्योंकि 'हमारा उद्देश्य शूद्रक की रचना से परिचय कराना था, (भूमिका)। केवल आरम्भ में नान्दी के दो श्लोक और अन्त में भरतवाक्य का अनुवाद पद्य में हुआ है। इनमें से भी नान्दी का दूसरा पद्य अनियमित पद्य है।

भाषा अनुवाद की भाषा साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी है। मूल नाटक में संस्कृत के अतिरिक्त चार प्राकृतों—शौरसेनी, आवन्ती, प्राच्या और मागधी तथा तीन अपभ्रंशों—शकारी, चाण्डाली और ढक्की—का प्रयोग हुआ है। इन आठों भाषाओं का अनुवाद साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में है।

अनुवाद शैली अनुवाद की शैली भाषान्तर शैली है—मूल नाटक का पूरा पाठ्य हिन्दी में किया गया है। कथा या संवादों में अनुवादक ने कोई परिवर्तन या हेर फेर नहीं किया।

अनुवाद-कौशल

भूमिका अनुवादक ने तेरह पृष्ठों की भूमिका लिखकर मूल नाटक का परिचय दिया है। इसमें लेखक ने नाटक के महत्त्व और उसके कारण, संक्षिप्त कथा, तथा उसके रचनाकाल पर अपने विचार और उसके खेले जाने के बारे में अपनी टिप्पणियाँ दी हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त 'अपटीक्षेपण' और 'यवनिका' शब्दों के बारे में अनुवादक का कहना है कि 'अपटीक्षेपेण' का अर्थ है 'बिना पर्दा गिराए हटाए' और 'यवनिका' शब्द का सम्बन्ध यवन या यूनानियों से जोड़ना असंगत है—यूनानी लोग तो नाटक में पर्दों का प्रयोग ही नहीं करते थे। 'यवनिका' शब्द 'जवनिका' शब्द का रूपान्तर मात्र है और इसका अर्थ है जल्दी गिरने वाला पर्दा।

नाट्य विधान

मूल मृच्छकटिक में नान्दी की पदसंख्या अनियमित है। यहाँ स्थापना बीज और पात्रों के सूचन द्वारा हुई है—अभिरुपपति व्रत इस प्रकरण की कथा का बीज है। राजा पालक मैत्रेय तथा चारुदत्त का भी आमुख या प्रस्तावना में सूचन है। वाक्यार्थमूलक कथोद्घात है—प्रथम पात्र मैत्रेय का प्रवेश सूत्रधार के कथन पर अपना उत्तर देते हुए होता है। बीज और पात्र का सूचन अनुवाद में निर्दोष है। पर मैत्रेय के प्रवेश के सूचन में अनुवाद असफल रहा है।

'एसो चारुदत्तस्स मित्त मित्तेओ०' (एष चारुदत्तस्य मित्र मैत्रेय) को 'वह आ रहा है मैत्रेय—चारुदत्त का मित्र०' कर दिया है। 'वह' का प्रयोग न तो प्रसंग में जमता है और न मूल के अनुसार ही है। यहाँ 'वह' के स्थान पर 'यह' होना चाहिए था।

इसमें आगे नेपथ्य में से मैत्रेय का वचन सुनाई देता है 'आप किसी और ब्राह्मण को बुला लें'। ठीक यही वाक्य मैत्रेय के मुख से मंच पर दुहरवाना उचित था पर अनुवादक ने वह बदल दिया है—'वहाँ है मैं तो कह चुका'। इससे नाट्यविधान के बारे में अनुवादक की उपेक्षा सूचित होती है।

प्रवृत्ति मूल नाटक में पात्र अपनी प्रवृत्ति के अनुसार भाषा बोलने वाले रखे गए हैं।

सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, इसकी माता, चेटी, कर्णपूरक और चारुदत्त की पत्नी धूता, शोधनक और श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं।

वीरक और चन्दनक की भाषा आवन्ती प्राकृत है, विदूषक की प्राच्या प्राकृत और संवाहक, शकार का, वसन्तसेना का और चारुदत्त का चेट, भिक्षु और चारुदत्त के बच्चे की भाषा मागधी प्राकृत है। अपभ्रंश बोलने वाला में शकार शकारी अपभ्रंश बोलता है, दोनों चाण्डाल चाण्डाली और माथुर तथा द्यूतकर ढक्की। अनुवाद में प्रवृत्ति गत भाषाभेद नहीं किया गया है।

पर नकार की भाषा का 'न' हिंदी में भी कायम रखकर अनुवादक ने मूल की शैली का प्रभाव पैदा कर दिया है।

आमन्त्रण शब्दों के अनुवाद में अनुवादक ने अधिकतर संस्कृत शब्दों का संस्कृत रूप में ही प्रयोग किया है। दुष्टे, रदनिके, आर्यपुत्र विद्वन, वसन्तसेने हे क्षीणकटि, भाव—ये सब संस्कृत में ही उचित लगने वाले सम्बोधन हैं।

पताका स्थानक भावी घटना का सूचक पताका स्थानक अनुवाद के अंक १, पृष्ठ ४३ पर आता है, पर अनुवादक मूल (पृ० ४५, ४६) को ठीक ठीक समझने में सफल नहीं हुआ।

प्रसंग यह है कि जब पीछा करते हुए शकार से बचने के लिए वसन्तसेना अनजाने ही चारुदत्त के घर घुस गई तब उसने अपने वहां आने का यह कारण बताया कि मैं एक गहना धरोहर रखना चाहती हूं। इसपर, चारुदत्त ने विदूषक मैत्रेय से कहा कि गहना ले लो। मैत्रेय ने गहना लेकर वसन्तसेना को ऐसे आशीर्वाद दिया जैसे वह गहना मैत्रेय को भेंट में मिला हो। चारुदत्त ने उसे टोककर कहा अरे मूर्ख यह तो धरोहर है। इस पर मजाकिया मैत्रेय ने जवाब दिया अगर ऐसा है तो चोर ले जाए (इसकी यह धरोहर)। चारुदत्त अगली बात कह रहा है कि जरूर ही यह लौटा दूंगा। मैत्रेय और चारुदत्त के ये दो वाक्य एक दूसरे में इस प्रकार गुंथ जाते हैं—

'मैत्रेय—अगर ऐसा है तो चोर ले जाए
चारु०—जल्दी ही
मैत्रेय—इसकी यह धरोहर
चारु०—लौटा दूंगा।
कुछ ही समय बाद चोर सचमुच धरोहर चुरा लेता है।
इस प्रसंग का मूल अंश संस्कृत में यों है
"विदू०—(गृहीत्वा) स्वस्ति भवत्यै।
चारु०—धिङ् मूर्ख। न्यास खल्वयम्।
विदू०—(अपवार्य) यद्येवं तदा चौरैरपह्रियताम्
चारु०—अचिरेणैव कालेन
विदू०—एषोऽस्या अस्माकं निःक्षेपः
चारु०—निर्यातयिष्ये।'
अनुवादक ने इस अंश को इस रूप में रखा है
विदू०—(लेकर) आपका कल्याण हो।
चारु०—धिक्कार है रे मूर्ख ! अरे यह तो धरोहर है।
विदू०—(अलग मनस्क सा) तो क्या है। भले ही चोर ही ले जाएं।
चारु०—बहुत शीघ्र ही
विदू०—(जोर देकर) क्या इनका यह आभूषण हमारी विशेष धरोहर है ?
चारु०—इसे मैं स्वयं लौटा दूंगा।'

रस

मृच्छकटिक म शृङ्गार रस अगी है और हास्य आदि अग रूप म विद्यमान है। अनुवाद म शृङ्गार का एक उदाहरण यह है

चारु०—मित्र ! उसकी निन्दा न करो। यह घोर वर्षा करने वाला दुर्दिन सैंकडो वर्ष तक रहे और बिजली ऐसे ही चमकती रहे। मुझ जैसे निधन को दुलभ प्रियतमा वसन्तसेना का आलिगन इसीके कारण तो मिला है। उसी मनुष्य का जीवन धन्य है मित्र! जो घर आई कामिनी के वर्षा से भीगे शीतल अगो को अपने अगो से आलिगित करता है।—पृष्ठ ११८

इसका मूल यह है

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधार शतह्रदा स्फुरतु।
अस्मद्विधदुलभया यदह प्रियया परिष्वक्त ॥

—५ ४८

अपि च वयस्य !

धन्यानि तेषा खलु जीवितानि य कामिनीना गृहमागतानाम।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥

—५ ४९

दोनो अवतरणो का मिलान करने से स्पष्ट हो जाएगा कि अनुवादक ने मूल अथ को अक्षत रखा है और शृङ्गार रस की व्यजना मूल के समान ही करने म सफलता पाई है।

हास्य रस अधिकतर विदूषक के आश्रय से है। विदूषक के वचनो का अनुवाद सब जगह सुन्दर नही हो सका। दास्या पुत्र का जगह-जगह दासीपुत्र नीचपुत्र दासी का बेटा अनुवाद हुआ है। वस्तुत यह बेतुका अनुवाद है। 'दास्या पुत्र' केवल गाली के रूप म, परिहास के लिए प्रयोग किया गया है। इसका शब्दाथ लगाना परम्परा विरुद्ध है। जो सचमुच दासी का पुत्र है उसे 'दास्या पुत्र' नही 'दासीपुत्र' कहा जाता है।

अलकार और वस्तु के अनुवादो म भी भूलें मिलती हैं और उनकी सख्या पचास-साठ से कम नही। पर २११ पृष्ठ के अनुवाद में कुछ भूलें होने से अनुवादक के काय की महत्ता कम नही होती, उसकी असावधानी का कुछ पता अवश्य लगता है।

भाषा शैली

इस अनुवाद की भाषा प्रौढ साहित्यिक खडी बोली है और रचना सशक्त हुई है। शब्द-समूह म सस्कृत तत्सम शब्दो की अधिकता है जो सस्कृत नाटक के अनुवाद म कुछ स्वाभाविक है। कहीं कहीं मुहावरेदार प्रयोग भी भाषा की सुन्दरता बना रहे हैं जसे 'आज कष्ट किया (पृष्ठ ९९) मेरा मन भी उमड रहा है (पृष्ठ १२३)। अधिकतर वाक्य छोटे सरल और सार्थक हैं। फिर भी नाटकीय सवादो की दृष्टि से देखें तो शैली निर्दोष नही। सस्कृत के अनेक विशेषणो को, जो छोटे से समास वाले पद के रूप म होने

हैं, हिन्दी म विशेषण ही बनाकर रखने से कहीं-कहीं वाक्य लम्बे और शिथिल हो गए हैं। उदाहरण के लिए पृष्ठ ८१ पर शर्विलक का कथन।

दोष

संस्कृत का ठीक-ठीक न समझने के उदाहरणों की संख्या बहुत अधिक है। 'अथवा' का पक्षान्तर अर्थ में अनुवादक ने कहीं भी अनुवाद नहीं किया। वशिकी का अर्थ वश्या किया के स्थान पर वश्यों के व्यापारनियम लगाया है (पृ० १८) 'करडलम्बुक इव' का अर्थ वाम के टल की तरह किया है (पृ० २०) सही अर्थ था 'ढेंकली के पीछे बंधे पत्थर की तरह।

दास्या पुत्र का अनुवाद 'दासी पुत्र' करना संस्कृत के मुहावरे को न समझना है। पृ० ६५ पर हींग के छौंक की पद्धति अनुवादक की समझ में नहीं आई और उसने 'हिंगु तल की सुगंधि' लिखकर काम चला लिया है। 'तपस्वी' बेचारे के अर्थ म 'तपस्वी' ही रखा है।

पृ० ६३—"घोड़ा के वाला को बाधा जा रहा है।" यहां बांधा के स्थान पर काटा होना चाहिए।

लिंग विवाद (पृ० १२५) और भूठ (पृ० ७ १११) (झूठ) शब्द स्त्रीलिंग म प्रयुक्त किए हैं।

अलंकार कहीं कहा अनुवाद म आया अलंकार नष्ट हो गया है। पृ० ६६ पर चारुदत्त के प्रथम कथन म एक अंश यह है—'वनगज के पने दांत की नोक सा यह उन्नि-शाल चन्द्रमा। यहा उपमा बिगड गई है। 'दांत की नोक' से नहीं 'अग्रभाग' से चन्द्रमा की उपमा दी गई थी—चन्द्रमा की वक्रिमा के कारण। नोक वक्रिमा की सूचक नहीं है। इसी प्रकार प० १०७ पर, चेट के कथन में 'अक्षर का पद परिवतन' ठीक नहीं। 'अक्षर वाल पदों का होना चाहिए।

औचित्य वसन्तसेना की चेटी का वसन्तसेना का नाम नहीं लेना चाहिए। पर अनुवादक ने उसके मुंह से वसन्तसेना का नाम कहलवाया है (प० ६७) जो औचित्य की दृष्टि से ठीक नहीं।

मूल्यांकन

प्रस्तुत अनुवाद म संस्कृत को ठीक ठीक न समझ पान के कारण बहुत सी गल-तियां अवश्य हैं पर अनुवादक ने अधिकतर अनुवाद अच्छा किया है। उसकी भाषा-शैली पर संस्कृत का प्रभाव है पर वह हिन्दी म खप जाता है। रचना सशक्त है और उसम थोड़ा हर फेर करके उसे खेलने के योग्य नाटक के लिए उपयुक्त बनाया जा सकता है।

मुद्राराक्षस

प्रकाशन रांगेय राघव का दूसरा अनुवाद मुद्राराक्षस है। यह अनुवाद पहली

रचनाशैली मूल के गद्य और पद्य दोनों का अनुवाद गद्य में हुआ है। पर नान्दी के दोनों श्लोकों, तीसरे अंक में दोनों वैतालिकों के गाए हुए चार श्लोकों और भरतवाक्य का अनुवाद पद्यों में किया गया है। इन प्रसंगों का पद्य में अनुवाद अनुवादक की इस धारणा का परिणाम प्रतीत होता है कि ये अंश गेय हैं और इसलिए उनका अनुवाद भी गाया जा सकना चाहिए। नान्दी के दूसरे श्लोक के अनुवाद में चार पंक्तियाँ इन्होंने अपनी ओर से जोड़ दी हैं।

भाषा सारे अनुवाद की भाषा साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी है। पद्य भी इसी भाषा में है।

अनुवाद शैली यह अनुवाद भी भाषा तर ही है जिसमें मूल नाटक का यथावत हिन्दी में किया गया है।

अनुवाद-कौशल

भूमिका अनुवादक ने मूल नाटक का परिचय देने और महत्त्व बताने के लिए चौदह पृष्ठों में एक भूमिका लिखी है। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुवाद की चर्चा करके लेखक ने लिखा है कि भारतेन्दु ने श्लोकों का अनुवाद ब्रजभाषा के पद्यों में किया था। 'मैंने इसी कारण मुद्राराक्षस का आधुनिक शैली में अनुवाद करने की चेष्टा की है जिसमें पद्य के स्थान पर गद्य का प्रयोग किया है।' (भूमिका पृष्ठ ६)।

अनुवादक की धारणा है कि मूल नाटक की रचना चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय चौथी पाँचवीं शताब्दी में हुई है (पृष्ठ ५)।

अनुवादक ने मुद्राराक्षस की कथा को समस्यात्मक बताया है (पृ० १४) और 'सम्भवत यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के नवयुग के उन्मेष में इसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए इसका अनुवाद किया था (पृष्ठ १४)।

अनुवादक की सम्मति में नाटक का नायक चाणक्य है चन्द्रगुप्त नहीं, और राक्षस प्रतिनायक है (पृ० १३)। वस्तुत अनुवादक ने वर्तमान काल की प्रधान पात्र को नायक समझने की प्रवृत्ति को नाटक पर आरोपित कर दिया है। उसने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि चाणक्य आखिर नौकर ही है जिसे राजा किसी भी समय बर्खास्त कर सकता है। नायक वह होता है जिसे फल प्राप्त हो। निःसन्देह चाणक्य को अपने लिए धर्मार्थ-काम की आवश्यकता नहीं। वह शिव की तरह 'धँस जाय न धरती इस शंका से धरते पग अपने जो सँभाल' (पृ० १७) है, जो लोकमंगल के लिए यत्नशील है। इसलिए उसे कोई फल मिलता भी नहीं।

नाट्य-विधान

नान्दी नान्दी के श्लोकों का अनुवाद पद्य में किया गया है और दूसरे पद्य में चार पंक्तियाँ अर्थात आधा हिस्सा अपनी ओर से जोड़ना पड़ा है क्योंकि श्लोक की सामग्री अनुवादक के आधे पद्य में ही समाप्त हो गई। यह अनुवादक के कौशल की कमी ही कही जाएगी।

मूल नान्दी अष्टपदा है। पहल श्लोक म सात पद या अवान्तरवाक्य हैं, और दूसरे म एक। अनुवाद म इस बारीकी की उपेक्षा हुई है।

स्थापना यहा स्थापना म 'क्रूरग्रह (१६) स बीज-सूचन किया गया है। इस श्लोक का अनुवादक बिलकुल नहा समझा। यह भयानक राहु अपूर्ण चन्द्र का बलपूर्वक ग्रसना चाहता है' (पृ० १६) लिखकर और फिर अगल नपथ्य वचन म चन्द्रगुप्त शब्द का प्रयोग करके उसन सारा प्रसग मिटटी कर दिया है। इस प्रसग का द्व्यर्थक बनाने की आवश्यकता पर उसका बिलकुल ध्यान हा नहा गया।

पात्र-प्रवेश चाणक्य सूत्रधार क वाक्य का पकडकर मच पर आता है। यहा चाणक्य न सूत्रधार के कथन क बाद जो वाक्य बोला है वही मूल वाक्य वह मच पर आकर बोलता है। अनुवादक न हर बार भिन्न वाक्य बनाया है। इसस मूल की मार्मिकता की हानि हुई है। पहल 'मर जीवित रहत', फिर 'मर रहत हुए और तीसरी बार 'मर जीत जी स वाक्य आरम्भ हुए हैं (पृष्ठ १६–२०)।

वीथ्यग प्रथम अक के गुरु म चाणक्य क शिष्य और यमपट लेकर गात चार चर म हुई बातचीत नालिका वीथ्यग ह। चर ऐसे शब्दा का प्रयोग करता ह जिनम दो अर्थ निकल सकत ह। वह कहता ह

"जानातु तावत कस्य चन्द्रोऽनभिमत इति —पृष्ठ ३५।

यहा 'चन्द्रो' शब्द चाद और चन्द्रगुप्त दोना का अर्थ दे सकता है। पर यदि चन्द्रा क स्थान पर 'चन्द्रमा' शब्द का प्रयोग किया जाए तो उसस 'चन्द्रगुप्त अर्थ उतना सीधा नही निकलता। अनुवादक ने 'चन्द्रमा' शब्द का प्रयोग किया ह

"तो क्या व यह भी जान सकत हैं कि चन्द्रमा किस अच्छा नहा लगता ?"

(पृष्ठ २५)

प्रवृत्ति संस्कृत नाटक का भाषा भेद अनुवाद म कही नहा दिखाया गया। केवल साहित्यिक खडी बोली का प्रयोग किया गया ह।

आमन्त्रण शब्दा के प्रयोग म अनुवादक न सस्कृत शैली ही अपनायी ह। सखे, वत्स, शोणोत्तरे, वहीनर, आदि शब्दा का प्रयोग पडिताऊ ह, और वहीनर' जैसे प्रयोग हिन्दी मुहावर के विपरीत हैं।

पताका-स्थानक अनुवादक ने पताकास्थानका के अनुवाद म कुछ कुशलता नहा दिखाई। उदाहरण के लिए,

चाणक्य—(चिन्ता मे स्वगत) क्या दुरात्मा राक्षस अब पकड म आ जाएगा।

सिद्धार्थक—आय, पकड लिया।

चाणक्य—(महर्ष स्वगत) राक्षस का पकड लिया। (प्रगट) भद्र किस पकड लिया ?

सिद्धार्थक—मैंन आय के सन्देश के तत्त्व का पकड लिया। अब कार्यसिद्धि क लिए जाता हू—पृष्ठ ३२

यह अनुवाद बहुत उपयुक्त नही हुआ। सस्कृत म गृहीत शब्द था। अन्तिम वाक्य म इसका अनुवाद बेमुहावरा हो गया ह जो थोडे स परिवतन स ठीक हो सकता

था।

रसादि भाव रस की व्यजना की दष्टि से अनुवाद साधारणतया सुन्दर हुआ है। उदाहरण के लिए,

राक्षस—(घबराहट के साथ शस्त्र खीचकर) कौन मेरे रहते हुए कुसुमपुर को घेर सकता है? प्रवीरक ! प्रवीरक ! धनुधरो को प्राचीरा पर हर ओर खडा करो, शत्रु के हाथियो को कुचल दने वाले अपन हाथियो को द्वार पर खडा कर दो। मरने और जीने की चिन्ता छोडकर शत्रु विनाश करने के इच्छुक पुण्य कीर्ति चाहने वाले मेरे साथ बाहर निकलें।'

इसका मूल यह है

राक्षस—(शस्त्रमाकृष्य ससम्भ्रम) मयि स्थिते क कुसुमपुरमुपरोत्स्यति? वीरक ! प्रवीरक ! क्षिप्रमिदानीम—

प्राकार परित शरासनधरै क्षिप्र परिक्रम्यता।
द्वारेषु द्विरद प्रतिद्विपघटाभेदक्षम स्थीयताम।
मुक्त्वा मृत्युभय प्रहर्तु मनस शत्रोबले दुबल।
ते निर्यान्तु, मया सहैकमनसो, येषामभीष्ट यश ॥

—२ १२

इसके अनुवाद म मूल के उत्साह भाव की सशक्त व्यजना हुई है। पर अभिनय सकेत के अनुवाद मे थोडी त्रुटि रह गई है। ससभ्रम का अनुवाद 'घबडाहट के साथ' बहुत सगत नही। उत्साह म घबडाहट का क्या काम? वस्तुत सभ्रम का अधिक उपयुक्त अनुवाद 'हडबडाहट' होता।

भाषा शैली अनुवादक की रचना और शब्दचुनाव प्रौढ और शिष्ट वग के हैं। वाक्यो म सस्कृताऊपना नही आया और जहा मूल रचना की गौडी रीति के कारण बडे वाक्य अनुवाद म रखे गए हैं वहा भी वे स्पष्ट और सीधे है। तत्सम शब्दसमूह ही प्रधान है पर बोलचाल के प्रयोगो से भी अनुवादक का अच्छा परिचय है। ये लो (प० ३०), भला क्यो (कस्मिन्निमित्ते) (प० १६) जैसे बोलचाल के प्रयोग अनुवाद की सुन्दरता बढाने म सहायक हुए हैं।

दोष अनुवाद म मूल को ठीक ठीक न समझने की गलतियो की सख्या बहुत है। प्रस्तावना का क्रूरग्रह श्लोक अनुवादक ठीक नही समझ सका और उसका अनुवाद (प० १६) बेढगा हो गया। खेद के वाचक 'अहह' शब्द को अनुवादक हसी का वाचक समझा है और उसका अनुवाद 'ह ह ह' किया है (प० ३६)। 'नाट्येन अवलोक्य' अनुवाद मे 'अचानक देखकर' (प० ३३) है, अस्मच्छरीरमभिद्रोग्धु 'वह नित्य हमारा विरोध करता है' (प० ३२), इत्यादि।

१ ११ के अनुवाद म असम्प रूपक अलकार को उपमा म बदल दने म—'रमणियो की सी निद्रा'—अनुवाद भद्दा हो गया है (प० २१)।

गद्य मे प्रिय जसे प्रयोग, जो प्रचलित हिन्दी म कोई नहीं बोलता नाटकीय सवादो म कुछ कृत्रिमता लाते हैं।

मूल्यांकन कुल मिलाकर रांगेय राघव के दोनों अनुवाद अच्छे हैं। उनकी शैली शिष्ट होते हुए भी सरल और प्रवाहमयी है, और मूल भाषा की परछाइ बहुत कम है। नाट्यविधान और भाव व्यजना की अधिकतर बारीकियों को पकडने और हिन्दी मे उपयुक्त रीति से प्रस्तुत करने म उन्हें सफलता मिली है। अनुवाद गद्य म है और समसामयिक नाटक की भाषा शैली के अनुरूप है। त्रुटियां वाली होते हुए भी उनकी अनुवाद रचनाए हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि मे सहायक है।

था।

रसादि भाव रस की व्यजना की दृष्टि से अनुवाद साधारणतया सुदर हुआ है। उदाहरण के लिए,

'राक्षस—(घबराहट के साथ शस्त्र खींचकर) कौन मेरे रहते हुए कुसुमपुर को घेर सकता है? प्रवीरक! प्रवीरक! धनुधरो को प्राचीरो पर हर ओर खडा करो, शत्रु के हाथियो को कुचल देने वाले अपने हाथियो को द्वार पर खडा कर दो। मरने और जीने की चिन्ता छोडकर शत्रु विनाश करने के इच्छुक पुण्य कीर्ति चाहने वाले मेरे साथ बाहर निकलें।'

इसका मूल यह है

राक्षस—(शस्त्रमाकृष्य ससम्भ्रम) मयि स्थिते क कुसुमपुरमुपरोत्स्यति? वीरक! प्रवीरक! क्षिप्रमिदानीम—

प्राकार परित शरासनधरं क्षिप्र परिक्रम्यता।
द्वारेषु द्विरद प्रतिद्विपघटाभेदक्षम स्थीयताम।
मुक्त्वा मृत्युभय प्रहर्तु मनस शत्रोबले दुर्बले।
ते निर्यान्तु, मया सहैकमनसो येषामभीष्ट यश॥

—२ १२

इसके अनुवाद म मूल के उत्साह भाव की सशक्त व्यजना हुई है। पर अभिनय सकेत के अनुवाद म थोडी त्रुटि रह गई है। 'ससम्भ्रम' का अनुवाद 'घबडाहट के साथ' बहुत सगत नही। उत्साह म घबडाहट का क्या काम? वस्तुत सभ्रम का अधिक उपयुक्त अनुवाद 'हडबडाहट' होता।

भाषा शैली अनुवादक की रचना और शब्दचुनाव प्रौढ और शिष्ट वग के हैं। वाक्यो मे सस्कृताऊपना नही आया और जहा मूल रचना की गौडी रीति के कारण बडे वाक्य अनुवाद म रखे गए हैं वहा भी वे स्पष्ट और सीधे हैं। तत्सम शब्दसमूह ही प्रधान है पर बोलचाल के प्रयोगो से भी अनुवादक का अच्छा परिचय है। ये लो (पृ० ३०), भाग क्यो (कस्य कस्मिन्निमित्ते) (पृ० १९) जसे बोलचाल के प्रयोग अनुवाद की सुन्दरता बढाने म सहायक हुए हैं।

दोष अनुवाद म मूल को ठीक ठीक न समझने की गलतियो की सख्या बहुत है। प्रस्तावना का क्रूरग्रह श्लोक अनुवादक ठीक नही समझ सका और उसका अनुवाद (पृ० १९) बेढगा हो गया। खेद के वाचक 'अहह' शब्द को अनुवादक हसी का वाचक समझा है और उसका अनुवाद ह ह ह किया है (पृ० ३६)। नाटयेन अवलोक्य अनुवाद म अचानक देखकर (पृ० ३३) है 'अस्मच्छरीरमभिद्रोग्धु' वह नित्य हमारा विरोध करता है (पृ० ३२), इत्यादि।

१ ११ के अनुवाद म अगरूप रूपक अलकार को उपमा म बदल देने से—रमणियो का सा दिशाओ—अनुवाद भद्दा हो गया है (पृ० २१)।

भाषा म प्रिय जसे प्रयोग, जो प्रचलित हिंदी म कोई नहीं बोलता, नाटकीय सवादो म कुछ कृत्रिमता लाते हैं।

मूल्यांकन कुल मिलाकर रांगेय राघव के दोनों अनुवाद अच्छे हैं। उनकी शैली शिष्ट होते हुए भी सरल और प्रवाहमयी है, और मूल भाषा की परछाइं बहुत कम है। नाट्यविधान और भाव व्यजना की अधिकतर बारीकियों का पकड़ना और हिन्दी म उप-युक्त रीति से प्रस्तुत करने में उन्हें सफलता मिली है। अनुवाद गद्य म है और समसामयिक नाटक की भाषा शैली के अनुरूप है। त्रुटियों वाली होते हुए भी उनकी अनुवाद रचनाए हिन्दी साहित्य की श्रीवद्धि म सहायक हैं।

पाचवा अध्याय

अभिज्ञानशाकुन्तल के पाच अनुवादो का तुलनात्मक अध्ययन

पाच अनुवाद

अभिज्ञानशाकुन्तलम के दस अनुवाद मिलते हैं जो विभिन्न समयो म हुए हैं। नेवाज कवि ने शकुन्तलोपाख्यान नाम से शाकुन्तल की सक्षिप्त कथा लिखी थी जिसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता। एक अनुवाद थौंकल मिश्र का किया हुआ है। इसका पहला आधुनिक हिन्दी अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह का किया हुआ ही समझना चाहिए जो सारा खडी बोली गद्य म पहले १८६३ मे प्रकाशित हुआ था। इसके बाद १८८८ म न० दि० ध्रुव का अनुवाद प्रकाशित हुआ और १८८९ म राजा लक्ष्मणसिंह का खडी बोली गद्य और ब्रजभाषा पद्य म किया हुआ अनुवाद निकला। तेरह वर्ष बाद १९०२ म ज्वाला प्रसाद मिश्र का अनुवाद प्रकाशित हुआ पर उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। फिर १९३७ मे बलदेव शास्त्री का खडी बोली गद्य पद्य मे किया हुआ अनुवाद निकला। १९५४ म विराज का, १९५८ म इन्दुशेखर का और १९६१ म वागीश्वर विद्यालकार का अनुवाद प्रकाशित हुए जिनमें से पहला खडी बोली गद्य मे और शेष दो खडी बोली गद्य-पद्य में हैं। इनम से राजा लक्ष्मणसिंह (भारत दुकाल), और पिछले चार अनुवादो की तुलनात्मक आलोचना करने का यहा प्रयत्न किया जाएगा।

इस प्रसग म सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान जाता है कि शाकुन्तल का अनुवाद करने की ओर अनुवादको का उत्साह १९५४ तक भी बहुत कम रहा। यद्यपि १९३७ म बलदेव शास्त्री न इसका एक अनुवाद प्रस्तुत किया पर अन्य अनुवादक इस प्रयत्न की ओर नहीं बढे। इसका प्रमुख कारण यह दिखाई देता है कि राजा लक्ष्मणसिंह का अनुवाद इतना उच्च कोटि का और लोकप्रिय था कि उस तक पहुचना अशक्य समझ कर अनुवादको को इस ओर बढने का हौसला न हुआ। बलदेव शास्त्री ने जो अनुवाद किया भी, वह राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद के मार्ग से अपना मार्ग भिन्न रखकर किया —आपने पद्य म ब्रज के स्थान पर खडी बोली का प्रयोग किया। दूसरी ओर १९५४ १९६१ के आठ वर्षों म इसके तीन अनुवाद प्रकाशित हुए।

अनुवादक ये पाचो अनुवादक सस्कृत, हिन्दी, और भारतीय काव्यपरम्परा के अच्छे विद्वान हैं। राजा लक्ष्मणसिंह ने मेघदूत, रघुवश आदि और भी हिन्दी-अनुवाद साहित्यरसिकों की भेंट किए थे। बलदेव शास्त्री ने वेणीसहार (१९३२) और मुद्राराक्षस

(१९४३) के साथ-साथ भास के आठ नाटकों के अनुवाद और किए हैं जिनमें से सात—प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, प्रतिमा, स्वप्नवासवदत्ता पचरात्र ऊरुभग, मध्यम व्यायोग और दूतवाक्य छप चुके हैं और चारुदत्त अभी अप्रकाशित है। शास्त्रीजी ने यजुर्वेद का भी पद्यानुवाद यजुर्गीत के नाम से किया है। विराज के अनुवादों में विक्रमोवशी (१९४७) मालविकाग्निमित्र (१९५७) और कुमारसम्भव भी हैं। आपके मौलिक कविता सग्रह और नाटक भी प्रकाशित हुए हैं। इन्दुशेखर सस्कृत साहित्य के अध्यापक रहे हैं और आपने विक्रमोवशी का अनुवाद भी किया है। वागीश्वर विद्यालकार आजीवन सस्कृत साहित्य तथा हिन्दी साहित्य का अध्यापन करते रहे और अध्यापनकार्य से अवकाश पाने पर आपने यह अनुवाद किया है। कुन्दमाला का अनुवाद आपने १९६२ में किया था। सस्कृत और हिन्दी में आपकी मौलिक रचनाएं भी हैं।

पाचों अनुवादकों की पृष्ठभूमि से पता चलता है कि वे शाकुन्तल का अनुवाद करने की क्षमता से सम्पन्न थे। सबको विषयवस्तु का अच्छा ज्ञान भी था और अनुवाद का अभ्यास भी।

रचना शैली १८५० ई० से साहित्य की विषयवस्तु, भाषा और शैली का झुकाव स्पष्ट रूप से एक दिशा में हो गया था जिसे आधुनिकता शब्द से कहा जा सकता है। आधुनिकता का साहित्य की भाषा पर यह प्रभाव पड़ा कि ब्रजभाषा का स्थान पश्चिमी हिन्दी या खड़ी बोली ने ले लिया। रचना शैली में गद्य का आविर्भाव हो गया और विषयवस्तु में राजनीतिक सामाजिक समस्याओं को स्थान मिलने लगा।

राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद से ये तीनों बातें सामने आती हैं। आपने अनुवाद में खड़ी बोली की गद्य रचना रखी। जहां तक विषयवस्तु का प्रश्न है यह पूछा जा सकता है कि उन्होंने शाकुन्तल जैसे पुराने नाटक को प्रस्तुत करना क्यों आवश्यक समझा। इसका उत्तर यह है कि शाकुन्तल का अनुवाद उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की राष्ट्रीय श्रेष्ठता का दावा करने वाले स्वरों की गूंज का सूचक है। इसे पुनर्जागरण की लहर भी कहते हैं पर वस्तुत यह लहर राष्ट्रीयता की आधुनिक यूरोपीय धारणा की लहर थी। इसलिए अनुवाद के लिए 'शाकुन्तल' का चुनाव भी आधुनिकता की ओर ही प्रवृत्ति सूचित करता है।

पहले राजा साहब ने सारी रचना गद्य में की थी। उस समय साहित्य में पद्य की भाषा ब्रज ही थी। राजा साहब के अनुवाद के प्रकाशन के बाद भारतेन्दु ने जो अनुवाद प्रकाशित हुए उनमें पद्य ब्रजभाषा में अनूदित हुए थे। सम्भवत इन रचनाओं से ही प्रभावित होकर राजा साहब ने भी सस्कृत पद्य भाग को ब्रजभाषा के पद्य में अनूदित करके, २६ वर्ष बाद, १८८९ में पुन नवीनरूप में प्रकाशित किया। यह दूसरा सस्करण पहले से भी अधिक लोकप्रिय हुआ।

विराज को छोड़कर शेष तीन अनुवादकों ने भी शैली गद्य पद्य की ही रखी। पर बलदेव शास्त्री और इन्दुशेखर के पद्यों में ऐसे उदाहरण बहुत हैं, जिनमें छन्द में सफाई नहीं आई। छन्द का चुनाव करने में उसके औचित्य पर भी विशेष विचार नहीं किया गया। वागीश्वर विद्यालकार के पद्यों में सफाई भी है और छन्द के चुनाव में विवेक

भी पर कही-कही ऐसे तत्सम शब्दो का प्रयोग करने से प्रसादगुण की हानि हो गई है जो साधारण हिन्दी पाठक नही समझता। अनुवादक ने पादटिप्पणिया म सरल हिन्दी पर्यायवाचक देकर स्वय अपनी इस विवशता को स्वीकार किया है। विराज गद्य म अनुवाद करने के कारण पद्य म सफाई लाने के परिश्रम स भी बच गए हैं और कठिन तत्सम शब्दो का प्रयोग करने के लिए भी मजबूर नहीं हुए। पर छन्द के अभाव मे आपकी रचना भावव्यजना म ताल और लय की महायता स वचित रह गई है।

अनुवाद शैली शैली की दृष्टि से चार अनुवाद तो अविकल भाषान्तर अनुवाद हैं। बलदेव शास्त्री न कुछ स्थल छोड दिए हैं या उनका रूपान्तर कर दिया है और नीचे टिप्पणी देकर मूल को अश्लील बताया है। काव्य रचना के अनुवाद म अतिनैतिकता का यह प्रदर्शन विद्वज्जनोचित नही लगता। भरतमुनि ने शृङ्गार को उज्ज्वलवेष कहा है। जो अश्लील है वह शृगार स भिन्न वस्तु है। शास्त्रीजी जस विद्वान की कलम स निकले एस शब्द भ्रम पैदा करते हैं। प्रतीत होता है, शास्त्रीजी रचना को छात्रोपयोगी बनाने और विद्यालयो म प्रवेश दिलाने की चिन्ता स आच्छन्न थे।

अनुवाद-कौशल भूमिकाए विराज और इन्दुशेखर ने अपने अनुवादो क आरम्भ म विस्तृत भूमिकाए देकर मूल लेखक का परिचय कराने और रचना का मूल्याकन करने का यत्न किया है। बलदेवजी के अनुवाद के साथ प्रतिभाता की लिखी भूमिका है जिसम अनूदित रचना की सराहना की गई है। पहली दो भूमिकाए विस्तृत और उपयोगी हैं यद्यपि मौलिक शोध की दृष्टि से वे बहुत महत्त्वपूर्ण नही। उन्हे पढने से पाठक को कालिदास और उसकी रचनाओ के विषय म प्रचलित अनेक विचारो और मतो का पता चल जाता है।

नाट्य-विधान

नान्दी नान्दी पद्य के अनुवाद म जो पाचो अनुवादको न पद्य म ही रखा है, विराज को छोडकर और सब ने सूझ-बूझ स काम लिया है। विराज ने कवि की प्रौढि, अर्थात व्यास और समास की शैलियो के महत्त्व पर ध्यान नही दिया—कालिदास क व्यासशैली के कथन को समास शैली म रख दिया है। या 'सृष्टि सष्टुराद्या' अनुवाद म सलिल हो गया है। यह सलिल शब्द और इसी प्रकार पद्य के दूसरे पद का अर्थसूचन म भी असमर्थ हैं और नान्दी वाक्यो या पदो की सख्या वाले नियम की भी उपेक्षा के सूचक हैं। शेष अनुवादको न यह सरल रास्ता नही अपनाया और उन्हे मूल के ही समान व्यजक अनुवाद करने म सफलता मिली है चाहे वाक्यसख्या के नियम का पालन न भी हो सका हो जस लक्ष्मणसिंह के अनुवाद म जिसम आठ की जगह नौ वाक्य हो गए है।

प्रयोगातिशय प्रस्तावना म एष राजेव दुष्यन्त सारगेणातिरहसा कहकर सूत्रधार न नाटकीय पात्र की स्थापना की है। यहा सकेत निकटवर्ती पात्र की ओर रहना चाहिए भगवान् हरिण की ओर नही। यह कौशल लक्ष्मणसिंह और बलदेव शास्त्री की पकड म बिलकुल नही आया, और इन्दुशेखर भी अच्छी तरह इसकी बारीकी नही समझ सके। लक्ष्मणसिंह न लिखा

ज्यों राजा दुष्यन्त को लायो यहै कुरंग।

इसमें एव अर्थात् यह शब्द राजा के बजाए कुरंग के साथ लग गया है। यही ढंग बलदेव शास्त्री ने रखा है

जस नृप दुष्यन्त को यह कुरंग गतिमान।

—पृष्ठ ५

इन्दुशेखर ने रखा

हुए आकर्षित ज्यों दुष्यन्त

देखकर भगता यह मृग भ्रान्त।

—पृष्ठ ३

यहाँ भी मूल की विशेषता उपेक्षित ही हो गई है।

वागीश्वर विद्यालंकार ने इस पद्य का सारंग में किया है

तुमने या सारंग राग खींच मुझको लिया।

जैसे तीव्र कुरंग ने राजा दुष्यन्त का॥

—पृष्ठ ७

हमारे विचार में यह अनुवाद अधिक मूलानुसारी होता

राग तुम्हारा ले गया खींच मुझे यह संग।

इस राजा दुष्यन्त को जैसे द्रुत सारंग॥

प्रकृति पात्रभाषा पात्र की सामाजिक आदि स्थिति के अनुसार उसकी भाषा की विविधता करने की ओर अनुवादकों ने कोई ध्यान नहीं दिया। केवल वागीश्वर विद्यालंकार ने सातवें अंक में सर्वदमन के बाल तोतलेपन को ध्यान में रखकर उसे प्रकृति के अनुरूप बनाने का यत्न किया। छठे अंक के आरम्भ में पुलिस और मछुए के संवादों में बलदेव शास्त्री का छोड़कर और अनुवादकों का ध्यान उसे पात्रोचित बनाने की ओर गया है, पर इसके लिए इन्होंने भाषा न बदलकर केवल शैली में औचित्य का समावेश किया है।

आमन्त्रण-शब्द पाँचों अनुवादकों ने आमन्त्रण शब्दों को आधुनिक रूप देने का यत्न किया है, पर लक्ष्मणसिंह को छोड़कर शेष चार के अनुवादों में पदाग्रह दोष भी दिखाई देता है। लक्ष्मणसिंह ने सारथी द्वारा दुष्यन्त के लिए कहे गए 'आयुष्मन्' शब्द का अनुवाद जहाँ महाराज किया है, वहाँ एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य की उपेक्षा हो गई है। 'आयुष्मन्' शब्द बड़ा छोटे के लिए कहता है। सारथी का पद बड़ा गौरवपूर्ण होता था और सारथी युद्ध विद्या में निष्णात अनुभवी और वयोवृद्ध लोग होते थे। उनके मुख से युवक राजा के लिए 'आयुष्मन्' शब्द ही शोभा देता था। इसके स्थान पर 'महाराज' शब्द का प्रयोग सारथी और दुष्यन्त के सम्बन्ध में प्रचलित सामाजिक आचार को विकृत कर देता है।

आर्ये हला भद्रे, वत्से जैसे प्रयोग वर्तमान काल के चारों अनुवादों में मिलते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह ने इस तरह प्रयोग न करके प्रसंगानुसार हिन्दी बोलचाल और व्याकरण से अनुमोदित रूप आर्या, सखी अजी, बच्ची आदि प्रयोग किए हैं।

रसादि

रस-व्यंजना में सफलता की दृष्टि से लक्ष्मणसिंह, वागीश्वर विद्यालंकार विराज, इन्दुशेखर और बलदेव शास्त्री इसी क्रम में रखे जा सकते हैं। लक्ष्मणसिंह की ब्रजरचना और वागीश्वर की खड़ी बोली हिंदी की रचना प्रांजलता में एक दूसरे से होड़ लगा रही हैं। विराज की रचना गद्य में होने के कारण तान-लय से आनेवाली तरलता उसमें नहीं आ पाई है। इन्दुशेखर की पद्यरचना में बहुधा वाक्यार्थ अधूरा अनुभव होता है। यही बात बलदेव शास्त्री की रचना में भी है।

शृंगार रसव्यंजक एक पद्य के अनुवाद के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं (बलदेव शास्त्री ने यह अंश छोड़ दिया है—शायद सदाचार के विचार से)। मूल पद्य यह है
(मयाहि) मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

—३.२७

राजा लक्ष्मणसिंह

बार बार अंगुरीन तें लीने होठ दुराय।
नाहिं नाहिं मीठो बचन, बोली मुख मुरकाय।
ता छिन मृगननी बदन मैं कछु लियो उठाय।
प अधरामृत पान को समरथ भयो न हाय॥

—पृष्ठ ६७

वागीश्वर विद्यालंकार

रख रख अंगुली ढक लिया निचला होठ ललाम।
नहीं 'नहीं कहनी लगी वह कसी अभिराम।
मुंह कन्धे की ओर था फिर फिर जाता घूम।
कुछ ऊंचा भी कर लिया नहीं सका पर चूम॥

—पृष्ठ ५१

विराज

जब वह सुंदर पलकों वाली शकुंतला अंगुलियों से अपने होठों को ढककर बार बार नहीं, नहीं कहती जा रही थी और इसलिए और भी अधिक सुन्दर लग रही थी, उस समय मैंने उसके कंधे पर रखे हुए मुख को जैसे-तैसे ऊपर की ओर तो किया किंतु चूम नहीं पाया। (पृष्ठ ८२)

इन्दुशेखर

अधर पर धर अंगुली हर बार।
निषेधाक्षर कहता अभिराम।
उठाया तो पर सका न चूम।
भुका सुभ्रू का वदन ललाम॥

—पृष्ठ ३८

रूप-वर्णन

मूल—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

—२।१०

लक्ष्मणसिंह

वह तो निरदोषिल रूप तिया बिन सूँघ्यो मनो कोइ फूल नयो।
नव पल्लव के नखहू न लग्यो कोई रत्न बिधा जो बिंध्यो न गयो।
फल पुन्नन को है अखंड किधौ मधु है सद के बिन स्वाद लयो।
बिधना मत मोहि न जानि पर ताहि चाहत कौन के भागि दयो।

—पृष्ठ ४२

वागीश्वर विद्यालंकार

फूल किसी से गया न सूँघा, पल्लव बिन तोड़ा छविमान।
रत्न अनबिंधा मधु वह अभिनव जो कि किसी से गया चखा न।
है अखण्ड पुण्यों का फल-सा उसका विमल रूप निष्पाप।
नहीं जानता कौन, जिसे विधि देने को है वह उपहार॥

—पृष्ठ ३१

बलदेव शास्त्री

है फूल जो सूँघा नहीं किसलय नहीं नखछिन्न जो,
नव मधु नहीं चाखा जिसे, है रत्नवर नहिं भिन्न जो।
वह पुण्यफल से पूर्ण माना रूप निर्मल है बना,
संसार में जानें न किसकी पूर्ण होगी कामना॥

—पृष्ठ ३३

इन्दुशेखर

रूप उस बाला का निर्दोष,
बिना सूँघा ज्यों सुभग प्रसून।
रत्न, वह जिसमें हुआ न छिद्र
पत्र ज्यों नख से रहा अलून।
नया मधु चखा न जिसका स्वाद,
सुकृत का फल ज्यों सुखद अपार।
न जानें किस भोक्ता को दैव
करेगा अर्पित यह उपहार॥

—पृष्ठ २१

विराज

राजा—और मेरे मन में तो रह रहकर यह बात आती है कि वह ऐसा फूल है, जिसे किसीने अभी तक सूँघा नहीं है। ऐसा नवपल्लव है जिसे किसीने नाखून से कुतरा नहीं है। ऐसा नया मधु, जिसका किसीने स्वाद तक नहीं चखा है। वह निर्मल सौन्दर्य अखण्ड पुण्यों के फल के समान है। न जाने विधाता उसके उपभोग के लिए किस भाग्य शाली को ला खड़ा करेंगे। (पृ० ६५)

यहाँ मूल में मालोपमा अलंकार अंगरूप है जो रूपचित्रण कर रहा है। प्रधान व्यंग्य अर्थ रतिभाव है। पहली तीन पंक्तियों में आश्रित या विशेषण वाक्य है अन्तिम पंक्ति में प्रधान या विशेष्य वाक्य है। विधि इह (अस्मिन् अनघे रूपे) न जाने के भोक्ता रम समुपस्थास्यति' इस प्रकार अन्वय है।

लक्ष्मणसिंह ने वस्तुकथन की शैली उपमा से उत्प्रेक्षा में बदल दी है पर रूप का उभार इससे कम नहीं हुआ। वागीश्वर विद्यालंकार और इन्दुशेखर ने मालोपमा रखते हुए ही बड़ा स्पष्ट और सुन्दर चित्रण किया है। बलदेव शास्त्री का अन्तिम पंक्ति शिथिल है, तीसरा पंक्ति में उपमा का स्थान उत्प्रेक्षा ने ले लिया है। विराज की रचना में वाक्यों को व्याकरण की दृष्टि से पूरा रखने के आग्रह ने नीरसता ला दी है।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति चित्रण के अनेक चित्र शाकुन्तल में मिलते हैं। पहले अंक में हरिण के डर-कर भागने का जो चित्र है वह पाँचों अनुवादों में से यहाँ दिया जाता है

मूल—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः ।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा ।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

—१ ७

लक्ष्मणसिंह

फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत। देखन रथ पाछे जो धारत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे। पिछलो गात समेटत आगे।
अधरायौ मग दाभ गिरावत। थकित खुले मुख तें बिखरावत।
लख कुलाच लखो तुम अबही। धरत पाँव धरती जब तब ही॥

—पृष्ठ १

वागीश्वर विद्यालंकार

गर्दन घुमा घुमा के बाकी पीछे आन हुए—
रथ पर एकटक दृष्टि को गड़ाता है।
शर लगने के डर इसका अधिकतर—
पिछला शरीर भाग आगे घुसा जाता है।

थककर खुल पडे मुख से बिखर रहे—
आधे ये चबाए कुश राह बगराता है।
व्योम में ही उड रहा प्राय छू मही को कहीं—
दक्षिण छलांगें कैसी विकट लगाता है।।

इन्दुशेखर

—पृष्ठ ७

बहुबार ग्रीवा मोड सुन्दर देखता रथ जा रहा।
शरभीत, पिछले भाग को आगे छिपाता जा रहा।
श्रम से खुले मुख से कहीं अकुर गिराता जा रहा।
छूता धरा को किन्तु नभ में ही उछलता जा रहा।।

बलदेव शास्त्री

—पृष्ठ ३

है लखता रथ ओर ही, फिर फिर ग्रीवा मोड।
शर भय से आगे रहा, पिछला बदन सिकोड।
श्रमवश मुख से जा गिरा, माग बिछा कुश-जाल।
भगता भू पर अल्प ही, जाता नभ उत्ताल।।

विराज

—पृष्ठ ५

अब भी तो यह बार-बार गर्दन मोडकर पीछे की ओर रथ को देखने लगता है और फिर तेज दौडने लगता है। तीर लगने के भय से इसके शरीर का पिछला भाग अगले भाग में समाया जा रहा है। दौडने की थकान से इसका मुख खुल गया है और उसमें से अधचबी घास के तिनके रास्ते में गिरते जा रहे हैं। देखो अपनी तीव्र गति के कारण इसके पाव धरती को जरा देर को ही छूते हैं नहीं तो यह तो आकाश ही आकाश में उड़ा जा रहा है। (पृष्ठ ४१ ४२)।

पाचों मन्दर्भों को देखने से पता लगता है कि लक्ष्मणसिंह का चौपाई छन्द मूल के शार्दूलविक्रीडित के प्रवाह को व्यक्त नहीं कर पाता। इस दृष्टि से वागीश्वर विद्यालकार का सवथा अधिक समर्थ और सशक्त बना है। गतिचित्र में लय का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। उसकी दृष्टि से देखें तो इन्दुशेखर के सार पद्य में लय मध्य है जबकि शार्दूलविक्रीडित में पाठ के आरम्भ में विलम्बित बीच में द्रुत और अन्त में मध्य लय होती है। इसमें इनके कथन का प्रवाह शिथिल लगता है। बलदेव शास्त्री के पद्य में पहले मध्य फिर द्रुत और अन्त में विलम्बित लय है जो प्रसंग और मूल दोनों की दृष्टि से असंगत है। विराज ने लय पर ध्यान नहीं दिया।

चित्र रूप म तुलनात्मक लय इस प्रकार दिखाई जा सकता है

मूल—

— — — — ⏑ — —, ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ — — ⏑ — — ⏑ —

विलम्बित द्रुत म"य

लक्ष्मणसिंह

प्रथम दल मे

⏑ ⏑ ⏑ ⏑ — ⏑ ⏑ — — — ⏑ ⏑ | — ⏑ ⏑ ⏑ — — — — ⏑ ⏑

द्रुत मध्य द्रुतविलम्बित

वागीश्वर विद्यालकार

प्रथम चरण मे—

— ⏑ ⏑ ⏑ — ⏑ — ⏑ — —, — — — — ⏑ ⏑ ।

मध्य विलम्बित

⏑ ⏑ ⏑ ⏑ — ⏑ ⏑ ⏑ — ⏑ — ⏑ — — —

द्रुत म"य

इ दुशेखर

प्रथम चरण म—

⏑ ⏑ — ⏑ — — — ⏑ — ⏑ ⏑, — ⏑ — ⏑ ⏑ — ⏑ —

मध्य मध्य

बलदेव शास्त्री

प्रथम चरण म—

— ⏑ ⏑ — ⏑ ⏑ — ⏑ —, ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ — — — ⏑

मध्य द्रुत विलम्बित

"स प्रकार एक वागीश्वर विद्यालकार की रचना के चरण ही ऐसे हैं जिनम मूल शादूलविक्रीडित का लयक्रम विलम्बित द्रुत मध्य विलम्बित द्रुत मध्य दिखाई देता है, यद्यपि इसमे ताल की दृष्टि से सम का अन्तर हो गया है। लक्ष्मणसिंह की रचना म चौथे स्थान के विलम्बित म गुरु करन पर विलम्बित द्रुत म"य लयक्रम आ जाता है पर अन्त फिर द्रुत पर करना पडता है। इ दुशेखर ने मध्यलय रखी है जो गति का वेग निरूपित करने म समय नही। बलदेव शास्त्री न अन्त म विलम्बित लय रखी है और आरम्भ म मध्य। वेग के निरूपण म इसका प्रभाव मूल स प्रतिकूल पडता है। विराज ने तो लय पर कोई दृष्टि ही नही रखी।

पदार्थवस्तु क वि"यास की दृष्टि स भी वागीश्वर विद्यालकार का पद्य मूल क अधिक निकट है। लक्ष्मणसिंह क अन्तिम चरण 'धरत पाव धरती जब तब ही म वारक चिह्ना क अभाव के कारण अथ म कुछ अधूरापन है, और 'वियति बहुतर' बिलकुल छूट गया है। इन्दुशेखर का भी अन्तिम चरण अशक्त है— कि तु उतना सार्थक नही लगता। यही स्थिति बलदव शास्त्री क चौथ चरण म दिखाई देती है— जाता नभ उत्ता

उतना प्राजल नही बन सका। विराज के अन्तिम वाक्य में भी शिथिलता लगती है—'नही तो यह तो' में दो बार 'तो' का प्रयोग सुन्दर नही प्रतीत होता, और 'नही तो' का अर्थ भी कुछ जचता नही।

अलंकार

उपमा अलंकार का एक उदाहरण लीजिए—

मूल—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥

—१।३०

लक्ष्मणसिंह

तन तो आगे चलत है मन नहिं संग लगात।
उडत पताका पाट ज्यो मारुत साही जात॥

—पृष्ठ ३१

वागीश्वर विद्यालंकार

आगे चलती तनु चित चचल—
भाग रहा पीछे की ओर।
खिचता है प्रतिकूल पवन से—
जैसे ध्वज-दुकूल का छोर॥

—पृष्ठ ५

इन्दुशेखर

लौटता पीछे चचल चित्त।
दौड़ता आगे किन्तु शरीर।
ध्वजा का चीनी रेशम वस्त्र।
फहरता ज्यो प्रतिकूल समीर॥

—पृष्ठ २६

बलदेव शास्त्री

मन पीछे अनजान-सा भगता आगे गात—
फहराता, चचल केतु-पट उड़ता ज्यो प्रतिवात॥

—पृष्ठ २४

विराज

मेरा शरीर यद्यपि आगे की ओर जा रहा है, परन्तु मेरा बेबस मन पीछे की ओर ही दौड रहा है जैसे वायु के प्रवाह के विरुद्ध जाने वाले झण्डे का रेशमी वस्त्र पीछे की ओर ही लौटता है। (पृष्ठ ५७)

कालिदास का उपमा अलंकार प्रसिद्ध है। प्रस्तुत कथन में मन उपमेय है और

रेशमी वस्त्र उपमान है अनुवत अतिशय लाघव और चाचल्य साधारण धम है और इव उपमावाचक शब्द है। पर सारे वाक्याथ की दृष्टि स दखें ता आग की ओर चल रहे शरीर वाले दुष्यन्त का शकुन्तलागत अभिलाषा से पीछे की ओर भागता मन उपमेय है और आग की ओर ल जाए जा रहे भण्डे का प्रतिकूल वायु स पीछे की ओर जोर लगाना काडा उपमान है। इस प्रकार यह साग उपमा है।

इसके अनुवाद म लक्ष्मणसिंह का पद्य शिथिल है—'मन नहिं सग लगात और धावति पश्चादसस्तुत चेत म बडा अन्तर है। मूल म 'आग चलना और पीछे का भागना ये दो पदाथ बडे महत्त्वपूण है। वागीश्वर विद्यालकार का इसका अनुवाद बडा सुन्दर और मूलानुसारी बना है, यद्यपि तनु शब्द का लिंग उन्होंने सस्कृत का रखा है। इन्दुशेखर तो बिलकुल उलटी बात कह गए हैं—उनके अनुवाद म चित्त पीछे 'लौटता है और शरीर आग 'दौडता है। बलदेव शास्त्री का अनुवाद सुन्दर बन पडा है चाहे उसम 'चलता दूसर चरण मे रखने के कारण अर्थान्तरकवाचकत्व दोष आ गया है। विराज के अनुवाद म पहला सारा वाक्य उपमेय और दूसरा सारा वाक्य उपमान बन गया है जो मूल की योजना मे भिन्न है।

निदशना अलकार

मूल—

राजा—अहह

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्व।
चित्रार्पिता पुनरिमा बहु मन्यमान।
स्रोतोवहा पथि निकामजलामतीत्य।
जात सखे! प्रणयवान मृगतृष्णिकायाम्॥

—६ १६

राजा लक्ष्मणसिंह

दुष्यन्त—हाय!
जब प्यारी मो सन्मुख आई। करी अधिक मैंने निठुराई।
चित्र लिखी अब लखि लखि वाको। फिर फिर आदर देत न थाको।
बहती नदी उतरि जिमि कोई। मृगतृष्णा को धावत होई।
मो गति आनि भइ अब मेरी। होति पीर पछतात घनेरी॥

—पृष्ठ १२१

वागीश्वर विद्यालकार

राजा—

आई स्वय प्रियतमा तब थी निराली।
प्यारी हुई अब मुझे तसवीर खाली।

मैं माग म जलभरी सरिता गवाके।
पीछे रहा भटक हू मगतृष्णिका क ॥

विराज

—पृष्ठ १०३

राजा—(गहरी सास छाडकर) मेरी भी क्या दशा है। पहले मैंने साक्षात आई हुई प्रिया को तो त्याग दिया और अब उसके इस चित्र का इतना आदर कर रहा हू। यह ठीक एसा ही है जसे माग म बहती हुई जल म भरी नदी को छोड आन के बाद मरीचिका के पीछे भागने लगा होऊ। (पृष्ठ १३३)

इदुशेखर

राजा—(नि श्वास छोडकर)—

आई स्वय जब प्रेयसी तब त्याग था उसको दिया।
पर अब उसी के चित्र का मैंने समादर है किया।
जल से भरी सरिता सखे। ज्यो छोडकर मैं राह म।
मानो लगा हू भागने मगतृष्णिका की चाह म ॥

बलदेव शास्त्री

राजा—म सचमुच—

—पृष्ठ ८०

आई प्रिया पहले स्वय अपमान तब मैंने किया।
फिर चित्र म खीचा इसे सम्मान है मैंने दिया।
अत्यत-सलिला वाहिनी को बीच ही म छोड के।
करता प्रणय मगतृष्णिका म मुह प्रिया स मोड क ॥

—पृष्ठ ११७

मूल म सारा श्लोक एक वाक्य है। अन्वय क अनुसार उसका रूप यह है सखे। अहं हि पूव साक्षात उपगता प्रियामपहाय पुन चित्रार्पिताम इमाम बहु म यमान पथि निकामजला स्रोतोवहा अतीत्य मगतृष्णिकाया प्रणयवान जात। इसमें पूव साक्षात उपगता प्रिया अपहाय चित्रार्पिता प्रिया बहु म यमान —इस प्रकृत पक्ष का पथि निकामजला स्रोतोवहा अतीत्य मगतृष्णिकाया प्रणयवान जात —इस अप्रकृत पक्ष म सम्बन्ध नहीं बनता पर प्रकृत पक्ष को उपमेय और अप्रकृत को उपमान बनाए तो दोनो का सम्बन्ध बन जाता है। अत यह पदाथ निदशना अलकार है।[1] यहा यही प्रधान वाक्याथ है।

अनुवादको म से केवल वागीश्वर विद्यालकार और बलदेव शास्त्री का यह चमत्कार दिखाने म सफलता मिली है। पर दोनो ने इसे वाक्याथ निदशना बना दिया है। आई स्वय प्रियतमा तब थी निकाली, प्यारी हुई अब मुझे तसवीर वाली का वाक्याथ यहा प्रकृत है और मैं माग म जलभरी सरिता गवाके, पीछे रहा भटक हू मगतृष्णिका के अप्रकृत वाक्याथ है।

[1] निदशना—अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक —काव्य प्रकाश (१० ९७)

बलदेव शास्त्री ने इस वाक्यार्थ निदर्शना तो बनाया है, पर इनकी रचना में निरर्थक दोष आ गया है। चौथी पंक्ति में 'करता प्रणय मगनणिका में' यहां अलंकार और मूल कथन दोनों समाप्त हो गए हैं। परन्तु पादपूर्ति के लिए इन्हें 'मुंह प्रिया से मोड़ के' रखना पड़ा—यह बात तो पहली पंक्ति में आ ही चुकी थी—'आई प्रिया पहल स्वयं अपमान तब मैंने किया।'

राजा लक्ष्मणसिंह को इस अलंकार के अनुवाद में सफलता नहीं मिली। उन्होंने 'बहती नदी उतरि निमि काइ' में 'जिमि' का प्रयोग करके इस वाक्य उपमा बना दिया है। निरर्थक दोष यहां भी आ गया है—'हाति पीर पछतात घनेरा' न तो मूल में है और न यह कहने की आवश्यकता ही रही है।

विराज ने इस निदर्शना को वाक्यगत श्रौती उपमा में बदल दिया है। यह ठीक ऐसा ही है जैसे लिखने से प्रकृत और अप्रकृत के सम्बन्ध का अभाव न रहा इसलिए निदर्शना यहां नहीं रही। 'जैसे' के प्रयोग के कारण यह श्रौती उपमा है। निदर्शना का सौन्दर्य यहां उपमा से अधिक था।

अर्थान्तर न्यास

मूल—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

—१।२

राजा लक्ष्मणसिंह

नाटक करतब तब भलो रीझै सज्जन समाज।
नातर सीखेहू घने दुचित रहत इहि काज॥

—पृष्ठ ६

वागीश्वर विद्यालंकार

नहीं मानता मैं अभिनय को तब तक सफल और निर्दोष—
उसे देखकर विद्वानों को जब तक हो न जाए परितोष।
कितना ही सिखलाए कोई कितना ही कर ले अभ्यास।
किन्तु परीक्षा के अवसर पर, रहता नहीं आत्मविश्वास॥

—पृष्ठ ६

विराज

जब तक अभिनय को देखकर विद्वानों को सन्तोष न हो जाए, तब तक मैं अभ्यास को सफल नहीं मानता। अभिनेताओं को चाहे कितना ही क्यों न सिखा लो, किन्तु उन्हें अपने ऊपर विश्वास हो ही नहीं पाता। (पृष्ठ ४०)

इन्दुशेखर

नहीं सफल वह ज्ञान प्रदर्शन।
जो बुधजन को करे न तुष्ट।

शिक्षित होने पर भी मन म।
अविश्वास रहता है दुष्ट ।।

—पृष्ठ ७

बलदेव शास्त्री

अभिनय विद्या वह नहीं रीझें नहीं सुजान।
अतिशिक्षित जन हृदय भी निज म नहीं प्रमाण ।।

—पृष्ठ ७

मूलपद्य म अर्थान्तरन्यास अलकार है—प्रथम पंक्ति मे विशेषार्थक कथन का समर्थन दूसरी पक्ति के सामान्यार्थक कथन से किया गया है।

लक्ष्मणसिंह, इन्दुशेखर और बलदेव शास्त्री के अनुवादों मे प्रथम कथन भी सामान्यार्थक है और द्वितीय भी। मूल कथन का वयक्तिक अश इनमे दूर हो गया है। यह वयक्तिक अश नटी के पूर्ववर्ती वाक्य को देखते हुए आवश्यक ही था। इसके छूट जाने स मूल कथन के बल म कमी हो गई है।

वागीश्वर विद्यालकार का पद्य कुछ लम्बा होने पर भी अधिक साफ और स्पष्ट है। आपने 'शिक्षितानाम' शब्द के दोनो प्रसगोचित अर्थ समेटे हैं—सीखे हुए और 'सिखाए हुए।

विराज न भी मूल का अनुसरण किया है।

वस्तु

मूल—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।।

—४ १८

लक्ष्मणसिंह

शुश्रूषा गुरुजन की कीजो। सखी भाव सौतिन म लाजो।।
भरता यदपि कर अपमाना। कुपित होइ गहियो जनि माना।।
मिठभाषिनि दासिनि सग रहियो। बडे भाग पै गर्व न लहियो।।
या विधि तिय गेहिनि पद पावें। उलटी चलि कुल दोष कहावें।।

—पृष्ठ ८०

वागीश्वर विद्यालकार

सास ससुर की सेवा करना सौतों का सखियों सा मान,
चलना स्वामी करें निरादर, तू करना फिर भी सम्मान।
होना परिजन पर उदार अनुकूल भाग्य पर मत अभिमान।
करना एसी स्त्रियां गृहिणियां, उलटी कुल की सकट जान।।

—पृष्ठ

इन्दुशेखर

गुरुओं की सेवा सौतों का करना सखिया सा सम्मान।
मत विरोध करना भर्ता का, हुआ भले ही हो अपमान।
नहीं भाग्य पर इठलाना तुम परिजन पर रहना समुदार।
ऐसी ही कहलाती गृहिणी कुलकलकिनी वामाचार॥

—पृष्ठ ५१

बलदेव शास्त्री

शुश्रूषा सगुरादि की प्रिय सखी व्यवहार हो सौत में।
भर्ता क्रुद्ध कभी तुम्हें झिडक द, उलटी न जाना कभी।
मीठी सेवक वग म न मन म सौभाग्य का गव हो।
हैं होती इस रीति से सुगृहिणी विपरीत पीडा महा॥

—पृष्ठ ७८

विराज

बेटी तुम यहा स अपने पति के घर जाकर बडे बूढा की सेवा करना। सौता के साथ प्यारी सहेलिया का सा बताव करना। पति कुछ बुरा भला भी कहे, तो क्रोध म आकर उससे लड मत पड़ना। सेवका के साथ दया और उदारता का व्यवहार करना। अपने सौभाग्य पर कभी बहुत घमड न करना। इस प्रकार का विनीत आचरण करने वाली युवतिया पति के घर म जाकर गृहिणी बनती है और जो इससे उलटा चलती हैं व घर को उजाडकर ही रहती ह। (पृष्ठ ६८)

यहा विधिरूप वस्तु प्रधान वाक्याथ है। पाचो सन्दर्भो का मिलान करने पर वागीश्वर विद्यालकार और लक्ष्मणसिंह की रचनाए अधिक मनोहर है पर वागीश्वर की रचना म वधातरेक वाचकत्व दोष दो बार है। दूसरे चरण का चलना पद पहले चरण के सौता का सखिया सा मान के साथ लगाना पडता है। इसी प्रकार चौथे चरण का 'करना पद तीसरे चरण क 'अनुकूल भाग्य पर मन अभिमान के साथ जोडने पर ही अथ पूरा होता है। इन्दुशेखर की रचना इस दृष्टि से बडी सुदर है। यदि अन्तिम चरण क पिछले अश कुलकलकिनी वामाचार को वे अधिक अच्छी तरह सभाल पाते तो निर्दोष रचना बन जाती। वामाचार शब्द वाम है आचार जिसका वह इस अथ मे प्रयुक्त हुआ है। अनुवादक थोडे और धीरज स इस सरल और प्राजल बना सकता था।

विराज का गद्य स्पष्टता क चक्कर म बहुत स्पष्ट लम्बा और, इसीलिए, अनाटकीय हो गया है। बलदव शास्त्री का रचना सुदर है और मूल वाले ही छन्द शार्दूल विक्रीडित म है पर यह थोडा चल्ता हुआ है।

सक्षेप म य पाचा रचनाए रसादि की व्यजना की दृष्टि स सुदर है। लक्ष्मणसिंह का शली आज कुछ पुरानी लगती है। इन्दुशेखर न कहीं-कहीं जल्दबाजी करके रचना सौष्ठव का हानि कर ली है। बलदेव शास्त्री की रचना सरल पर कहा-कहीं अधूरा अनुभव होता है। विराज में टीकानुवाद की पुट आ गई है। वागीश्वर विद्यालकार की रचना भी सुदर है शली भी नई और आधुनिक है।

भाषा शैली

एक राजा लक्ष्मणसिंह को छोड़कर शेष चार अनुवादक एक ही युग के हैं। इन चारों की शैली में बहुत काफी समानता दिखाई देती है। पदप्रयोग की दृष्टि से देखें तो राजा लक्ष्मणसिंह का झुकाव तद्भव और सरल तत्सम पदों की ओर रहा है। बाद के अनुवादों में तत्सम पदों का अनुपात अधिक दिखाई देता है। राजा साहब के क्रियारूपों में 'रखियो,' 'लीजो' जैसे प्रयोग मिलते हैं। इनकी रचना में 'मिठभाषिनि' जैसे समास भी हैं जिनमें हिन्दी और संस्कृत शब्दों को मिलाकर एक कर दिया गया है। वाक्य इन्होंने छोटे छोटे रखे हैं। 'मैंने' के सदृश 'तैने' (पृ० १०४), 'तू ही' के लिए 'तुही' आजकल शिष्ट हिन्दी में नहीं चलते।

बलदेव शास्त्री और उनके बाद के तीन अनुवादकों की भाषाशैली शिष्ट प्रौढ़ है। नाट्योचित वाक्यों की ओर इनका विशेष ध्यान नहीं रहा पर भाषा सुबोध और सरल है। तत्सम शब्द प्रचलित शब्दसमूह में से ही लिए गए हैं और दुरूह तथा कठिन नहीं हैं। मुहावरों का प्रयोग बहुत कम है, इसलिए भाषा में कुछ कृत्रिम साहित्यिकता रहती है।

निष्कर्ष

संक्षेप में ये पाँचों अनुवाद उच्च कोटि के हैं और हिन्दी भाषा की शक्ति की अच्छी व्यंजना करते हैं। अनुवादक विद्वान और दोनों भाषाओं की प्रकृति के मर्मज्ञ हैं। संस्कृत और हिन्दी की साहित्यिक परम्पराओं से भी उनका अच्छा परिचय है और हिन्दी में रचना करने का अभ्यास भी साधारणतया उच्च कोटि का है। नाट्यविधान, रस व्यंजना, अलंकार, वस्तु और भाषा शैली—इन सब दृष्टियों से ये अनुवाद सफल रचनाएं हैं। यह ठीक है कि इनकी रचना में वाक्यों की अभिनयोपयोगिता पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया पर इसका कारण हिन्दी में मंच का अभाव या हिन्दी मंच से अनुवादकों के सम्पर्क का अभाव है। यदि मंच स्वामी चाहें तो पाँच में से पिछले चार अनुवाद तो आसानी से खेलने योग्य बनाए जा सकते हैं।

लक्ष्मणसिंह के अनुवाद में भाषा की कोमलता और माधुर्य विशेष ध्यान खींचते हैं। शेष चार अनुवादों में से वागीश्वर विद्यालंकार के अनुवाद में जितना प्रसाद गुण और प्रवाह आ सका है उतना शेष तीन में नहीं आ सका।

छठा अध्याय

अनूदित नाटक और रंगमंच

संस्कृत से अनूदित नाटकों के सम्बन्ध में एक आक्षेप यह किया जाता है कि उनकी भाषा-शैली अभिनय की दृष्टि से अनुपयुक्त होती है। यह भी कहा जाता है कि संस्कृत नाटक का रंग-शिल्प पश्चिमी रंगमंच से प्रभावित आधुनिक नाट्यपद्धति से बहुत भिन्न है कि वे सर्वथा भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक भाषा तथा बौद्धिक पृष्ठभूमि वाले दर्शकों के लिए रचे गए थे, कि दुर्भाग्यवश उनके अधिकांश उपलब्ध रूपांतर रंगकर्मियों ने नहीं, साहित्यकारों ने भी नहीं संस्कृतपण्डितों ने किए हैं जो भौंडे गद्यानुवाद और अन्वयार्थ से अधिक उपयोगी नहीं (देखिए—भाषा त्रैमासिक दिल्ली सितम्बर १९६३ श्री नेमिचन्द जैन का लेख, नाटक का अनुवाद)।

रंगशिल्प भाषा शैली और भाषान्तरण—इन तीनों दृष्टियों से अभिनय-योग्य अनुवादों की हिंदी में कमी नहीं है। जहां तक रंग-शिल्प का सम्बन्ध है प्राचीन और आधुनिक रंगमंच में जो अन्तर है उसका उल्लेख करना व्यर्थ है। संस्कृत नाटकों के लिए उपयोगी रंगमंच कितना सरल और सीधा है यह नीचे एक आधुनिक इंजीनियर का विचार प्रस्तुत करके दिखाया गया है। मंच और शिल्प की अन्य अपेक्षाओं में से ऐसी कोई भी नहीं है जिसे आज के मंच पर न प्रस्तुत किया जा सके। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि संस्कृत के मूल नाटक बराबर आधुनिक मंच पर खेले जा रहे हैं। १९६८ की जनवरी में दिल्ली में प्राच्यविद्या सम्मेलन के अवसर पर अभिज्ञान शाकुंतल के संस्कृत रूप का अभिनय प्रस्तुत किया गया था जो सफल रहा था। नई दिल्ली में १९५४ ई० में मुद्राराक्षस का संस्कृत में अभिनय हुआ था और उसकी अच्छी प्रशंसा हुई थी। फिर क्या कारण है कि उसी मंच व्यवस्था में हिन्दी मंच प्रबंधक संस्कृत से अनूदित हिन्दी नाटक खेलने से कतराता है?

भाषा-शैली की दृष्टि से बड़े सुन्दर अनूदित नाटकों की भी कमी नहीं है। भारतेंदु, बलदेव मिश्र, वागीश्वर विद्यालंकार आदि के अनुवाद इस दृष्टि से बहुत अच्छे हैं। नाटकीय संवादों की दृष्टि से जहां आवश्यक हो, वहां संवाद-लेखक हेर-फेर कर सकता है।

यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यदि हमारे मंच प्रबंधक अधिक उत्साह सूझ-बूझ और आस्था से काम लेते तो इन नाटकों को सर्वथा अनभिनेय कहकर इनकी उपेक्षा न कर देते। यह समझना या कहना कि नाटक में पद्य का प्रयोग उसे काव्य बना

देता है, नाटक की वास्तविकता का अज्ञान प्रकट करता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अनुवाद को अभिनयोपयोगी बनाने के लिए अनुवादक का अभिनय और मंच से परिचय लाभदायक है साथ ही अनुवाद करते समय मंचोपयोगिता का हर समय ध्यान रखना भी आवश्यक है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है कि संस्कृत नाटक का सफल अनुवाद कोई अदक्षिण मंच प्रबन्धक ही कर सकता है। सचाई यह है कि मंच के लिए हर नाटक का कुछ न कुछ ठोक ठाक करना आवश्यक होता है। अभिनय की दृष्टि से भाषा की अनेक कमजोरियां केवल रिहर्सल करने पर सामने आ सकती हैं। इन कठिनाइयों के कारण अनूदित नाटकों की बिना परीक्षा किए उन्हें रंगमंच के लिए अनुपयोगी घोषित कर देना कहां तक उचित है?

इस अध्याय में हमने संस्कृत रंगमंच, आधुनिक रंगमंच तथा अभिनेय अनुवादों पर कुछ विचार प्रकट किए हैं। उन्हें पढ़ने पर स्पष्ट हो जाएगा कि न तो अनुवाद बुरे हैं न रंग शिल्प की कठिनाई है—असली कठिनाई लगन और साधना की कमी की है।

संस्कृत रंगमंच

नाटक का काव्य से मुख्य अन्तर ही यह है कि नाटक रंगमंच पर अभिनय करके सहृदय वर्ग के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। संस्कृत नाटकों के अभिनय की निश्चय ही बड़ी समृद्ध परम्परा रही है। उड़ीसा की बराबर पहाड़ियों में जो प्राचीन नाट्यगृह मिला है उसमें इस परम्परा की कुछ झलक मिलती है। भरत के नाट्यशास्त्र में तो नाट्यमंडप या रंगमंडप का विस्तृत विवरण उसके द्वितीय अध्याय में मिलता ही है।

परन्तु भारतीय नाट्यपरम्परा का बहुत स्पष्ट रूप पिछले एक हजार वर्ष में नहीं मिलता। इसी का यह परिणाम हुआ है कि भरत के नाट्यशास्त्र में दिए गए विवरण की व्याख्या भी व्यावहारिक अनुभव के आधार पर न होकर सैद्धांतिक और कुछ अंश तक कल्पनात्मक आधार लेकर ही होती रही। आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि जो कुछ प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है उसपर श्रद्धा रखते हुए व्यावहारिक प्रयोग द्वारा उसकी ठीक व्याख्या प्रस्तुत की जाए। व्यावहारिक प्रयोग से हम यह भी पता चलेगा कि हम अपनी आज की परिस्थितियों में उससे क्या सीख सकते हैं और उसे अपने लिए किस प्रकार उपयोगी बना सकते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार मंच तीन आकृतियों के होते हैं लम्बूतरे या आयताकार (विकृष्ट) वर्गाकार (चतुरस्र) और त्रिकोण (त्र्यस्र)। इनमें से त्रिकोण मंच मनुष्योपयोगी, वर्गाकार राजाओं का और लम्बूतरा देवताओं का बताया गया है। वर्गाकार मंच सबसे उत्तम रहता है क्योंकि उसमें बोला गया कथन आसानी से सुनाई देता है। आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार, विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र—इनमें से प्रत्येक के तीन तीन आकार होते हैं—ज्येष्ठ (१०८ हाथ), मध्यम (६४ हाथ) और अवर (३२ हाथ) (१ हाथ=१½ फुट)। इस सम्बन्ध में प्रो० डी० सुब्बाराव ने, जो इंजीनियरिंग शास्त्र और संस्कृत साहित्य दोनों के विद्वान हैं, व्यावहारिक दृष्टि से कुछ विचार किया है।

आपने बताया है कि मूलपाठ से यह अर्थ लेना ठीक नहीं कि प्रत्येक प्रकार का मंच तीन आकारों का होता है। वस्तुत विकृष्ट ही ज्येष्ठ है, चतुरस्र मध्यम और त्र्यस्र कनीय। वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो ध्वनि ७५ फुट से अधिक लम्बे स्थान में अवश्य प्रतिध्वनि पैदा करने लगती है। विकृष्ट मंडप की लम्बाई ९६ फुट होती है जिसमें ध्वनि अत्यधिक प्रतिध्वनि के कारण ठीक सुनाई नहीं देगी। त्र्यस्र मंडप के छोटा होने के कारण उसमें ध्वनि की प्रतिध्वनि इतनी देर रहती है कि नवोत्पन्न ध्वनि को अस्पष्ट कर देती है। चतुरस्र मण्डप में पहले उत्पन्न ध्वनि तथा प्रतिध्वनित ध्वनि और पीछे उत्पन्न ध्वनि में ४८ फुट का अन्तर रहता है और प्रतिध्वनि उतनी देर नहीं रहती जितनी देर वह त्र्यस्र मंडप में रहती है। इसलिए चतुरस्र मंडप को केवल मध्यम आकार का मानना चाहिए—प्रत्येक आकृति के मंडप के तीन तीन आकार मानना संगत नहीं।

इस प्रकार ६४ हाथ या ९६ फुट लम्बा वर्गाकार मंच चतुरस्र कहलाता था जो मध्यम आकार का होता था, और ज्येष्ठ तथा कनीय से अधिक अच्छा रहता था। ज्येष्ठ आयताकार और १०८ हाथ या १६२ फुट का होता था और कनीय या छोटा समबाहु त्रिभुज ३२ हाथ या ४८ फुट का होता था।

मंडप का विभाजन

नाट्यमंडप के दो बराबर हिस्से किए जाते थे। पूर्व की ओर आधा हिस्सा दर्शकों के लिए रहता था और पश्चिम की ओर वाले हिस्से के फिर दो बराबर हिस्से करके अगले हिस्से में रंगपीठ और पिछले में नेपथ्य गृह रखते थे।

रंगपीठ समतल होता था और नर्तकों के पदाघात की ध्वनि थोथी बनाने की दृष्टि से लकड़ी का बनाया जाता था। इस पीठ के नीचे षड्दारुक, अर्थात् चार आयत बनाने वाली लकड़ियां और दो विकर्णों की लकड़ियों का ढांचा बनाकर लगाया जाता था जिसमें वह नर्तक के आघात को अच्छी तरह सह सके। विकृष्ट या आयताकार मंडप के रंगपीठ के दो बराबर भाग किए जाते थे जिनमें से अगले को रंगपीठ कहते थे और पिछले को रंगपीठ। *पिछला हिस्सा अगले से कुछ ऊंचा होता था। इसी व्यवस्था के कारण यह मंडप* द्विभूमिक कहलाता था। मंडप की छत शैलगुहाकार अर्थात् बीच से ऊंची, होती थी। इस व्यवस्था से ध्वनि का प्रसार अच्छा होता है।[1]

प्रो० डी० सुब्बाराव की उपर्युक्त व्याख्या से संस्कृत रंगमंच बड़े सरल और वैज्ञानिक रूप में हमारे सामने आता है। हमारे देश की सांस्कृतिक संस्थाओं को वस्तुत नाट्यमंडप बनवाकर इन विचारों की परीक्षा करनी चाहिए और आधुनिक भारतीय रंगमंच को विदेशी रंगमंच की नकल मात्र बनाने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करना चाहिए। प्राचीन नाट्यमंडप की जो विशेषताएं आज भी उपयोगी हो सकती हैं, उनको सामने लाकर बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

१ प्रो० डा० सुब्बाराव, नाट्यशास्त्र (गायकवाड ओरिएंटल सीरीज), Vol I, द्वितीय संस्करण १९५६, का Appendix 6

हिन्दी रंगमंच

हिन्दी रंगमंच का आरम्भ हिन्दी प्रदेश के लोक रंगमंच में ही दिखाई देता है। प्राचीन संस्कृत रंगमंच की परम्परा से इसका सम्बन्ध अभी अनुसंधान का विषय है। डा० दशरथ ओझा आदि अनेक विद्वानों ने रास, लीला, स्वांग आदि लोक-नाटकों को हिन्दी के आरम्भिक नाटक माना है जो लोकमंच पर खेले जाते थे।[1] इन नाटकों को जिन रंगमंचों पर प्रस्तुत किया जाता था, उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। डा० ओझा के अनुसार, इनके अभिनय में रंगमंच का कोई महत्त्व नहीं था, और वेशभूषा तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे।[2]

हिन्दी रंगमंच का दूसरा रूप पारसी थियेटर का मंच था। यह पारसी रंगमंच कोई स्थायी रंगमंच नहीं था। १९वीं सदी ईस्वी के अन्तिम भाग में बम्बई के कई पारसी व्यापारियों ने थियेटर कम्पनियाँ बनाई थीं जो देश भर में भ्रमण करती हुई हिन्दी उर्दू के नाटक दिखाया करती थीं। इनमें ऐसे मंच की रचना की जाती थी जिसे सरलता से समेटकर दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। मंच कई कक्षों में बँटा रहता था और प्रत्येक कक्ष पर एक पर्दा पड़ा रहता था। ये कक्ष एक-दूसरे के पीछे होते थे। एक दृश्य के लिए उपयुक्त सज्जा एक कक्ष में की जाती थी। क्रमशः एक एक कक्ष का पर्दा हटाकर नाटक के क्रमिक दृश्य दिखाए जाते थे।

पारसी थियेटरों की रुचि का स्तर बहुत नीचा था और नाट्यकला की दृष्टि से उनके पास कुछ भी नहीं था। पारसी थियेटर का घटिया स्तर देखकर भारतेन्दु काल में कुछ शौकिया नाटक मंडलियों ने परिष्कृत रुचि के मंच की स्थापना का यत्न किया। प्रयाग, बलिया और कानपुर में कुछ नाटक खेले गए पर इस मंच की जड़ें गहरी न जा सकीं और वह अल्पकाल जीकर ही समाप्त हो गया।

बीसवीं शताब्दी में स्कूल-कालेजों में और हिन्दी-संस्थाओं के सम्मेलनों पर अनेक नाटक अभिनीत हुए हैं, पर ये प्रयास भी किसी पुष्ट हिन्दी रंगमंच की नींव नहीं डाल सके जिसपर हिन्दी के नाटक नियमित रीति से खेले जा सकें।

आज का रंगमंच पाश्चात्य रंगमंच ही है जिसपर वैज्ञानिक साधनों से प्रकाश आदि का प्रबन्ध बहुत अच्छा हो जाता है। आधुनिक रंगमंच का एक रूप खुला रंगमंच है जो किसी भी मैदान में स्टेज बनाकर तैयार किया जा सकता है। हमारे देश में खुला रंगमंच बहुत प्रचलित हो गया है, पर इसपर बड़े नाटकों के अभिनय का सुन्दर प्रबन्ध करना कठिन होता है।

आधुनिक रंगमंच का नवीनतम रूप परिक्रमा रंगमंच है। यह कुछ व्ययसाध्य तो है पर इसमें अभिनय व्यापार की निरंतरता बनाए रखने में सुविधा होती है और दर्शकों को मंच सज्जा की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

जबलपुर में १९६३-६४ में इस मंच का प्रयोग किया गया था जो बड़ा सफल

१, २ डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३४, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली।

रहा था। लकड़ी का बना हुआ वृत्ताकार मंच चार भागों में बांटा गया था और चारों खंड बारी-बारी से दर्शकों के सामने लाए जा सकते थे। इसके लिए, मंच को घुमाने का यांत्रिक प्रबन्ध था।

जहां तक संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों के अभिनय का प्रश्न है, यह धारणा भ्रांत है कि आधुनिक रंगमंच पर इनका अभिनय नहीं हो सकता। कोई भी नाटक इस मंच पर दिखाया जा सकता है यद्यपि कभी-कभी नाटक विशेष की आवश्यकता के अनुसार मंच में हेर फेर या नये प्रबन्ध किए जा सकते हैं। नाटक के अभिनय में मुख्य बात रसव्यंजना है। कैसा भी मंच हो यदि उसपर अभिनय करने पर व्यंजना हो जाती है तो वह मंच उपयोगी है।

यही धारणा लेकर इन्दौर की एक शौकिया नाट्यसंस्था 'नाट्यभारती' ने कालिदास के तीनों नाटकों के विराजकृत अनुवाद मंच पर प्रस्तुत किए और उन्हें अच्छी सफलता मिली।

नाट्यभारती की स्थापना १८ अगस्त १९५५ को इन्दौर में हुई थी। इस संस्था का उद्देश्य हिन्दी और मराठी रंगमंच तथा अभिनयकला का संवर्धन करना है। संस्था अपने इस उद्देश्य की पूर्ति लिटिल थियेटर के माध्यम से करती है जिसे इस संस्था की प्रयोगशाला कहा जा सकता है। यह थियेटर आधुनिक तथा क्लासिकल नाटक प्रस्तुत करता है और अब तक ६०० नाटक प्रदर्शित कर चुका है।

लिटिल थियेटर के ३५० दर्शक-सदस्य हैं जो कम से कम दस रुपया वार्षिक चन्दा देते हैं। इन सदस्यों में अधिकतर शिक्षक, कलाकार, विद्यार्थी, पत्रकार, संगीतज्ञ, साहित्यकार, गृहिणियां आदि हैं।

अनूदित नाटकों में अभिनेयता

मध्यकाल के अनुवाद अभिनय का लक्ष्य रखकर नहीं किए गए थे। आधुनिक काल में १८६३ में लक्ष्मणसिंह का शकुन्तलानाटक भी अभिनय की दृष्टि से अनूदित नहीं प्रतीत होता। उन्होंने स्वयं, स्थान-संकेत को छोड़कर इसे अभिनय योग्य बनाने का कोई निर्देश नहीं दिया है। पर उस अनुवाद का अभिनय निःसन्देह किया जा सकता है। उसमें बोलचाल के सरल शब्दों का प्रयोग, छोटे-छोटे वाक्य, उपयुक्त सम्बोधन शब्द और लम्बे वाक्यों का बहुत कम प्रयोग होने के कारण इसका अभिनय में उपयोग कठिन नहीं होना चाहिए। *इतना अवश्य है कि इसकी भाषा शैली में उतना निखार और प्रौढ़ता नहीं दिखाई देती।*

फिर भी किसी रंगमंच पर इस अनुवाद के खेले जाने की कोई जानकारी नहीं मिलती। इस प्रसंग में यह उल्लेख मनोरंजक होगा कि इस हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन से छः वर्ष पूर्व १८५७ में शकुन्तला नाटक के बंगला अनुवाद का अभिनय कलकत्ता में बाबू आशुतोष देव के मकान पर हुआ था।[1] सम्भव है कलकत्ता की इस सांस्कृतिक हलचल का प्रभाव भी शाकुन्तल के हिन्दी अनुवाद की प्रेरणा देने में सहायक हुआ हो। कलकत्ता

[1] डा० हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त The Indian Stage Vol II III पृष्ठ ३६।

में उसी वर्ष वेणीसंहार और विक्रमोर्वशी भी बंगला में खेले गए थे।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुवाद देखने से पता चलता है कि उनमें नाटककार की सच्ची प्रतिभा थी, और उनके अनूदित और मौलिक नाटक मंच पर खेलने के लिए ही लिखे गए थे। भारतेन्दु ने पहले एक बंगला नाटक 'विद्यासुंदर' का हिन्दी अनुवाद १८६८ में किया था। इसके बाद उन्होंने संस्कृत नाटिका 'रत्नावली' का अनुवाद किया। इसके केवल प्रस्तावना भाग और एक पृष्ठ आगे का अनुवाद मिलता है।

१८७२ में भारतेन्दु जी ने 'पाखण्ड विडम्बन' का जो अनुवाद किया उसे पढ़ने से पता चलता है कि उसका अनुवाद अभिनय करने की दृष्टि रखकर ही किया गया था। यह रचना प्रबोधचन्द्रोदय के केवल तीसरे अंक का अनुवाद है। भारतेन्दु ने अपनी सूझ-बूझ से सारे नाटक का केवल वह अंश छाँट लिया है जो अत्यधिक मनोरंजक है और सारे नाटक से अलग करके अभिनीत करने पर भी दर्शकों का मनोरंजन कर सकता है। इस अंक की कथा तो बहुत थोड़ी है, पर इसमें विभिन्न मतों के पाखण्डी साधुओं की अच्छी पोल खोली गई है। यह अंक हास्यरस के आलम्बन प्रस्तुत करता है। धार्मिकता का आडम्बर रखने वाले साधु नारी और मदिरा में कितनी आसानी से मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं—यह इस अंक का मुख्य विषय है।

भारतेन्दु ने जैन और बौद्ध साधुओं की भाषा खड़ी बोली हिन्दी नहीं रखी। जैन की भाषा राजस्थानी है और बौद्ध की तोतली हिन्दी। यह योजना हास्य रस की दृष्टि से बड़ी उपयोगी है। जैसे ही दर्शक बौद्ध भिक्षु को तोतली बोली में संसार के सारे भोगों की कामना करते सुनता है, वह एक ओर तो पाप और उसके कर्म की असंगति के कारण और दूसरी ओर उसकी तोतली बोली के कारण हँसते हँसते लोट पोट हो जाता है।

यह अंश रंगमंच पर निःसन्देह सफलता से खेला जा सकता है। पर इसकी विषय-वस्तु आजकल के सामाजिक वातावरण में अभिनन्दनीय नहीं गिनी जाएगी। मत मतान्तरों के भद्दे रूपों का अभिनय द्वारा उपहास करना भारतीय युग प्रवृत्ति के विपरीत है। इस देश में मत मतान्तरों का बौद्धिक आधार पर खण्डन करने की तो स्वतन्त्रता अवश्य है पर दूसरे मतों का उपहास करने की स्वतन्त्रता नहीं है। राजनीतिक अवस्थाएँ भी इस प्रवृत्ति के विरुद्ध हैं।

तीसरा अनुवाद 'धनंजय विजय' है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है और भारतीय दर्शक का सुपरिचित है। अभिनय की दृष्टि से देखें तो यह व्यायोग कालेज के छात्रों के अभिनय-योग्य है। एक अंक की छोटी-सी रचना होने के कारण इसका अभिनय अधिक से अधिक २०-२५ मिनट में समाप्त हो जाएगा। इसमें प्रतीहारी को छोड़कर और कोई स्त्रीपात्र नहीं है और वीर रस तथा उसके संचारी भावों की व्यंजना है। हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए भारतेन्दु की सरल ब्रजभाषा के पद्य भी

[1] डा० हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त, The Indian Stage Vol II III, पृष्ठ ३६।

सुबोध होगा। ब्रजभाषी प्रदेश में तो जनसाधारण भी इसका आनन्द ले सकेंगे।

इसकी घटना में ये सात मंच दृश्य हैं—

१ (प्रस्तावना में) सूत्रधार पारिपार्श्विक तथा अर्जुन,

२ विराट का अमात्य उत्तर और अर्जुन

३ अर्जुन और उत्तर,

४ रंगशीर्ष पर—अर्जुन और उत्तर,
रंगपीठ पर—इन्द्र, विद्याधर और प्रतीहारी, दुर्योधन बहुत थोडी देर के लिए

५ इन्द्र विद्याधर, प्रतीहारी

६ अर्जुन और उत्तर

७ पांचों पाण्डव उत्तर और राजा विराट

यह नाटक खेलने के लिए अधिक से अधिक सात अभिनेताओं की आवश्यकता है। एक अभिनेता अर्जुन, और दूसरा उत्तर बनेगा। शेष पांच में से चार चौथे दृश्य में इन्द्र विद्याधर, प्रतीहारी और दुर्योधन का भी पाट कर सकते हैं सूत्रधार पारिपार्श्विक (दृश्य १) अमात्य (दृश्य २) भी बन सकते हैं तथा अन्तिम दृश्य में चार पाण्डवों के रूप में भी उपस्थित हो सकते हैं। सातवां आदमी विराट बनेगा।

व्यायोग में वर्णनात्मक अंश अर्थात आंखों देखा युद्ध वर्णन सुनाने का कार्य अधिक है। युद्ध में विभिन्न अस्त्रों का प्रयोग विविध रंगों के प्रकाश की योजना करके आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है। यह प्रकाश-योजना पार्श्वों से की जा सकती है।

इन्द्र विद्याधर और प्रतीहारी दिव्य पात्र हैं शेष सब अदिव्य अर्थात मनुष्य हैं। दिव्य पात्रों को रामलीला की तरह उनके पौराणिक आहार्य की योजना करके व्यंजक बनाया जा सकता है। अदिव्य पात्रों का स्वरूप तो साधारण ही है।

यह व्यायोग इतना छोटा है कि इसमें बीच में गीत या नृत्य रखने की आवश्यकता नहीं है। पहले दो पद भारतेन्दु ने भैरव राग में अनूदित किए हैं। पहले में प्रात काल का वर्णन है और दूसरे में शरद ऋतु का। ये दोनों संगीत पद्धति से गाए जाएं तो नाटकोचित वातावरण बनाने में सहायक होंगे। नाटक की समाप्ति पर जो भरतवाक्य रखा जाता है वह भारतेन्दु ने अपनी समकालीन परिस्थितियों को देखकर लिखा है। इसे परिवर्तित किया जा सकता है यद्यपि इसका अधिकांश अब भी वैसा ही सार्थक है जैसा इसके अनुवाद के समय था। संस्कृत नाटक का भरतवाक्य या तो छोड देना चाहिए और या भारतेन्दु वाला भरतवाक्य हटाकर संस्कृत वाले का हिन्दी अनुवाद वहां आना चाहिए। संस्कृत वाला भरतवाक्य साधारण सद्गुणों की आशंसा मात्र है।

मुद्राराक्षस इस नाटक का अनुवाद निश्चय ही खेलने की दृष्टि रखकर किया गया था। अनुवाद के अन्त में दिए गए उपसंहार (क) के आरम्भ में अनुवादक ने लिखा है 'इस नाटक में आदि अंत तथा अंकों के विश्रामस्थल में रंगशाला में ये गीत गाने चाहिए। (भारतेन्दु नाटकावली भाग १, पृष्ठ ३६३)

इस नाटक में सात अंक हैं जिनमें पात्रों की संख्या इस प्रकार है

प्रस्तावना	२
अंक एक	५
अंक दो	७
अंक तीन	८
अंक चार	१०
अंक पांच	११
अंक छह	४
अंक सात	६

पात्रों की कुल संख्या ३० है जिनमें से १९ पात्र केवल एक-एक बार थोड़ी-थोड़ी देर के लिए मंच पर आते हैं। शेष ११ पात्रों में से भी अधिक दिखाई देने वाले पात्रों की संख्या सात से अधिक नहीं है। अभिनय की दृष्टि से यही सात पात्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—चाणक्य, राक्षस, मलयकेतु, भागुरायण, सिद्धार्थक, क्षपणक और चन्द्रगुप्त। इस प्रकार सात अच्छे अभिनेता उपलब्ध हों तो मुद्राराक्षस का हिन्दी अभिनय हो सकता है।

वेशादि आहार्य की अधिक कठिनाई इसमें नहीं है। मूल लेखक ने अपने वर्णनों से पात्रों के स्वरूप और स्वभाव पर प्रकाश डाल दिया है। चन्द्रगुप्त और मलयकेतु राजवेश में हैं, चाणक्य ३० ३५ वर्ष का युवक है और सादी धोती में दिखाया जा सकता है। राक्षस लगभग ४५ वर्ष का और अधिक नागर वेश में होना चाहिए। क्षपणक सफेद कपड़े पहनने वाला साधु है। भागुरायण सैनिकोचित वेश में होगा।

मंच-सज्जा की दृष्टि से देखें तो पहले अंक में चाणक्य के घर का दृश्य है जिसका वर्णन स्वयं कवि ने तीसरे अंक में बड़ी स्पष्ट रीति से दे दिया है। दूसरे में राक्षस का सैनिक शिविर में निवास दिखाया गया है। तीसरे में राजमहल है। चौथे और पांचवें में सैनिक शिविर का दृश्य है। छठे में नगर के बाहर एक निर्जन वाटिका है और सातवें में नगर के बाहर का स्थान वध्यस्थल के रूप में है।

इस प्रकार सात में से तीन दृश्य सैनिक शिविर के हैं, दो नगर के बाहर निर्जन में, एक चाणक्य की कुटी का और एक राजमहल का। मौर्यकालीन परिस्थितियों के आधार पर राजमहल का सैट बनाया जा सकता है। शेष में आज और तब की परिस्थितियों में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा—केवल पात्रों के हथियार वेश आदि काल संगत होने चाहिए।

उपसंहार (क) में अनुवादक ने ११ गीत दिए हैं। इनमें से पहला मंगलाचरण के रूप में सबसे पहले गाने के लिए है। इसमें राम तथा कृष्ण रूप परमेश्वर की स्तुति है। साधारण भारतीय दर्शक की भावना के साथ यह गाना बड़ा संगत है। उसके चार पांच मिनट बाद गाने के लिए दूसरा गाना रखा गया है जो प्रस्तावना के बाद गाया जाएगा। इसके बाद हर अंक की समाप्ति पर, नया अंक शुरू होने से पहले गाने के लिए एक गाना दिया गया है।

इन गानों की दो विशेषताएं हैं। एक तो यह कि प्रत्येक गाना अपने बाद आने वाले अंक की कथावस्तु के विषय में है, और दूसरी यह कि हर गाना अलग धुन में है जिससे कि

सता दूर होती है। अंत म गाने के लिए जो तीन गीत हैं, उनम से दूसरा (पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीओ सदा विक्टोरिया रानी) आज के किसी अभिनय प्रदशन मे गाने योग्य नहा है। शेष दो गीत भगवान की स्तुति और भारत वन्दना के हैं और सुन्दर हैं।

कर्पूरमजरी इस सट्टक का अनुवाद भाषा शली की दृष्टि स तो अभिनय के लिए अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता, पर उसकी विषयवस्तु और वातावरण वतमान युग की शिष्ट रुचि स बहुत दूर है। मूल रूप म यह नत्य नाटिका है। नृत्य क साथ इसकी वस्तु बडी मनोरजक हागी। अनेक स्थल एसे हैं जहा पहेलिया सी बुझाई गई हैं। उदाहरण के लिए पहल अक म विदूषक और विचक्षणा की चखचख के कुछ अश। पर एक दो को छोड कर शेष पहेलिया या पर्याप्त आसानी स समझ मे आ जाते हैं। इसकी भाषा इतनी चटपटी और सजीव है कि इसक अभिनय की सफलता म कुछ भी सन्देह नहीं। इसके दश्या का वातावरण भी सरलता स प्रस्तुत किया जा सकता है।

सक्षप म यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु के अनुवाद अभिनय के लक्ष्य से किए गए थे। उनका अभिनय भारतेन्दु की नाटक मडली ने किया भी होगा पर इसके बारे म कोई विश्वसनीय जानकारी हमारे पास नहीं है। भारतेन्दु ने अपनी मौलिक नाटिका श्रीचन्द्रावली की प्रस्तावना म सूत्रधार स ये शब्द कहलाए हैं

सूत्रधार आ, तुमने अब तक न जाना आज मेरा विचार है कि इस समय कोई नये एक नये नाटक की लीला करूं क्योंकि संस्कृत नाटको का अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके हैं फिर बारम्बार उन्हीं के खेलने को जी नहीं चाहता। (भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग पृष्ठ १५६)।

इसस स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये नाटक खेले गए थे। भारतेन्दु की भाषा शली, अनुवाद शली और अभिनय के समय गान के लिए रचित मौलिक गीतों से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। इनके अनूदित नाटका म से धनजय विजय और मुद्राराक्षस आज की शिष्ट युगरुचि के अनुकूल हैं और ये दोनों सफलता से खेले जा सकते हैं। संस्कृत मुद्राराक्षस का अभिनय १९५४ म दिल्ली म हुआ था और बडा सफल रहा था। कोई कारण नहीं कि हिन्दी म भारतेन्दु द्वारा प्रस्तुत यह अनुवाद सफल न हो।

बचनेश मिश्र

भर्तृहरि निर्वेद भर्तृहरि निर्वेद, जसा कि इसके नाम स स्पष्ट है वराग्य का पोषक नाटक है। यह नाटक कालाशंकर म आज थियेट्रिकल कम्पनी के खेलने के लिए १९१२ ई० म अनूदित हुआ था। श्री बचनेश मिश्र ने इसका अनुवाद करते हुए यह विशेष ध्यान रखा था कि इसका अभिनय सफलता से किया जा सके। इसके लिए उन्होंने दो उपाय किए। एक तो इसकी भाषा बडी सरल और हलकी रखी पर वह शिष्ट बोलचाल स दूर नहीं गई। दूसरा काम आपने यह किया कि मूलनाटक के श्लोका को तत्कालीन पारसी मच के नाटका की तर्ज पर गीतों म अनूदित किया। इन दोनों उपायों स यह रचना सचमुच अभिनयोपयोगी बन गई। यद्यपि इसके वास्तविक अभिनय, और उसके प्रभाव या परिणाम के बारे म हमारे पास कोई विश्वसनीय सूचना नहीं है पर यह निश्चय

से कहा जा सकता है कि यह नाटक आज के मंच पर सफल हो सकता है।

इस नाटक में वस्तुतः नियमानुसार पांच अंक हैं पर पांचों अंक बहुत छोटे छोटे हैं। सारा नाटक एक घंटे में खेला जा सकता है, और संगीत योजना द्वारा उसे डेढ़ घंटे का अभिनेय नाटक बनाया जा सकता है।

कथावस्तु वैराग्य विषयक है जिसमें धार्मिक प्रवृत्ति के लोग और साधारण गृहस्थ विशेष रुचि रखते हैं। राजा भरथरी की बहुत प्रचलित लोक कहानी दर्शकों की सुपरिचित होने से भी इस नाटक का अभिनय आकर्षक हो सकता है।

इस नाटक में मुख्य अभिनेता चार हैं—राजा, रानी, मंत्री और योगी। गौण अभिनेता ६ से १० तक रखे जा सकते हैं। द्वितीय अंक की चेटिया और पुष्प तीसरे में कंचुकी, मंत्री और योगी बन सकते हैं जिससे गौण अभिनेताओं की संख्या ३ से ७ तक रह जाती है। अनिश्चित संख्या राजा के अनुचर वर्ग या परिजन के कारण है।

मंच सज्जा की दृष्टि से इसमें राजमहल (अंक १ और २) श्मशान (अंक ३), और उपवन (अंक ४ और ५)—ये केवल तीन दृश्य हैं जो आसानी से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। वेष भी साधारण प्रयत्न से बनाए जा सकते हैं क्योंकि सब पात्र वर्गगत हैं।

सत्यनारायण कविरत्न

उत्तररामचरित सत्यनारायण कविरत्न का किया हुआ 'उत्तररामचरित' का अनुवाद भाषा शैली की दृष्टि से मूल संस्कृत नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक अभिनेय और आस्वाद्य है। गद्य और पद्य दोनों बड़े सुबोध और सरल हैं। शब्द समूह सुपरिचित तत्सम शब्दों और तद्भव शब्दों का है। वाक्यरचना भी गठी हुई है। वाक्य अभिनय के लिए बहुत बड़े नहीं हैं। सम्भाषण शब्द भी सूझ बूझ से रखे गए हैं। कथानक सुपरिचित और हृदयद्रावक है।

पर इस नाटक के अभिनय में एक बड़ी कठिनाई है। वह कठिनाई वस्तुतः अनुवाद में न होकर मूल नाटक में ही है। इस नाटक में कार्यव्यापार कम और वस्तुवर्णन अधिक है। नाटक की सजीवता कार्यव्यापार पर ही निर्भर होती है। वस्तुवर्णन कथा और कार्य की गति को शिथिल करके दर्शक की उत्सुकता और कुतूहल को मंद कर देता है। इस नाटक के लम्बे वर्णन—प्रकृति, वन पर्वत नदी आदि के मनोहर चित्र तो प्रस्तुत करते हैं पर वे इतिवृत्त के अंश होकर रचना के नाटकीय प्रभाव को धुंधला देते हैं। कविरत्न जी ने बहुत से श्लोकों को गीतों का रूप देकर मनोरंजकता बढ़ाने का यत्न किया है। वस्तुतः गीत नाटक की रंजकता तो बढ़ा सकता है पर वह कार्यव्यापार का स्थान नहीं ले सकता। दूसरी बात यह है कि इस नाटक का अविकल रूप कुछ लम्बा है। सारे नाटक को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए एक दिन काफी नहीं। मंच के सज्जे में कठिनाई न होने पर भी नाटक में कार्यव्यापार की कमी होने के कारण अभिनय से साधारण दर्शक के मन को रीझा रखना कुछ कठिन काम है। फिर भी स्कूल कालिजों में इसका अभिनय अनेक बार हुआ है।

वागीश्वर विद्यालंकार

कुन्दमाला वागीश्वर विद्यालंकार का किया हुआ इस नाटक का अनुवाद अभिनयोपयोगी है। इसका कथानक वही है जो उत्तररामचरित का, पर नाटकीय इतिवृत्त में भिन्नता है।

इसमें मंच पर अधिक देर रहने वाले पात्रों की संख्या आठ है—सीता, सखी, राम, लक्ष्मण, वाल्मीकि, विदूषक, कुश, लव। परिणामतः नौ या दस अभिनेताओं से यह नाटक खेला जा सकता है।

इसके पहले पांच अंकों का घटनास्थल वन, तपोवन और आश्रम है। एक ही सेट मामूली हेर फेर करने पर इनका काम दे सकता है। केवल अंतिम अंक में यज्ञभूमि का दृश्य है। इस प्रकार एक ही मंच सज्जा सारे नाटक के लिए उपयुक्त है, केवल छोटे मोटे परिवर्तन करके स्थान का व्यक्तित्व उभारना और सूचित करना अपेक्षित है।

टेक्नीक की दृष्टि से छाया दृश्य की योजना इस नाटक में है। शाकुंतल में कुछ कुछ यही योजना छठे अंक में सानुमती के लिए की गई है। आज के युग में इस योजना की मंच पर व्यवस्था करना कुछ कठिन नहीं। शायद पारदर्शक प्लास्टिक या नाइलौन का वस्त्र आवरण का प्रतीक बनकर काम दे सकता है।

भाषा शैली की दृष्टि से इस अनुवाद की दो बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। एक तो यह कि इसमें गद्य के साथ साथ पद्य में भी खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग है। दूसरी विशेषता यह है कि हिन्दी भाषा के बड़े सरल और सुबोध शब्दों का प्रयोग किया गया है। पद्य बड़े सरल, सुबोध और प्रवाही हैं। गद्य भी ओजस्वी और प्रभावोत्पादक है। सातवें अंक में वाल्मीकि का एक कथन इस प्रकार है:

वाल्मीकि (क्रोध में) उदार हृदय! महाकुलीन! विवेकशील! राजन! महाराज जनक द्वारा तुम्हें सौंपी गई, दशरथ द्वारा स्वीकार की गई, अरुन्धती द्वारा जिसका मंगल किया गया, वाल्मीकि ने जिसके शुद्ध चरित्र की घोषणा की, अग्नि ने जिसकी पवित्रता की परीक्षा ली, कुश लव की जननी, भगवती वसुंधरा की पुत्री उस सीता को केवल कुछ झूठी अफवाहों के कारण छोड़ देना तुम्हें कहां तक उचित है?

(पृष्ठ ६५)

तीसरे अंक से पद्य का एक उदाहरण

राम—
किसलय कोमल पाणि प्रिया का पकड़ प्रेम से अतिशय।
करता सध्यासमय रसीली प्रणयकथाएं सुखमय।
टहल रहा था—पर दब गया—फूट पड़ा था पानी।
नदी किनारे उस विहार की आती याद कहानी॥

—पृष्ठ ३८

प्रथम अंक में एक पद्य यह है

हुई गंगा की इन शीतल समीरों की मिहरबानी।
जगाई भाग्य से मेरी, उठी फिर जो महारानी॥

—पृष्ठ ७

ऐसी सरल प्रांजल भाषा इस भाव भरे नाटक के अभिनय के लिए बड़ी उपयुक्त है। मंच सज्जा, अभिनेताओं की संख्या और कथा से पूर्व परिचय के कारण भी यह नाटक हिन्दी भाषी जनसमाज के मनोरंजन और रसास्वादन का अच्छा साधन बन सकता है।

विराज

विराज के किए मालविकाग्निमित्र के अनुवाद का १९६१ में इन्दौर में अभिनय हुआ था। १९६२ में अभिज्ञानशाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय के हिन्दी अनुवादों के कुछ अंश अभिनीत हुए। ये तीनों अभिनय इन्दौर की नाटकीय संस्था नाट्यभारती द्वारा प्रस्तुत किए गए थे।

नाट्यभारती के प्रमुख संचालक तीन व्यक्ति हैं—राहुल बारपुते, विष्णु चिंचालकर और बाबा डिके। इन तीनों की मातृभाषा मराठी है। ये ही अभिनय में प्रमुख अभिनेता और निर्देशक भी होते हैं। महिला पात्रों में कभी विष्णु जी की पुत्री ताराबाई होती हैं और कभी समय पर जो भी मिल जाए उसे तैयार कर लेते हैं।' चिंचालकर जी मंच निर्माण, मंच-व्यवस्था, साज सज्जा प्रसाधन आदि संभालते हैं। निर्देशन का मुख्य दायित्व राहुल बारपुते निभाते हैं, प्रमुख नट या अभिनेता की भूमिका बाबा डिके।

इस नाट्यसंस्था के सब कार्यक्रम इसके अपने सदस्यों के सम्मुख होते हैं। सभी सदस्य सम्पन्न संस्कृत और सुशिक्षित हैं जिनमें अधिकतर उच्च सरकारी अधिकारी, या कालिजों के अध्यापक और साहित्यकार हैं।

नाट्यभारती के बारे में जानकारी देते हुए श्यामू संन्यासी ने हमें लिखा है दर्शकों ने तीनों ही नाटकों को पसन्द किया। अभिनय और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से वास्तव में निर्दोष थे। राजपाल के यहाँ (इन अनुवादों के प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली) से जिस रूप और भाषा में छपे हैं, उसी रूप में बिना किसी परिवर्तन के इनका प्रस्तुतीकरण हुआ था। एक शब्द भी नहीं बदला। बारपुते के शब्दों में The stage and cast was adopted in strict accordance to the printed word'

अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में श्री संन्यासी ने उसी पत्र में आगे लिखा है "अधिकांश दर्शकों को और स्वयं निर्देशक अभिनय मंडल का भी तीनों नाटकों की भाषा प्राणवत, ओजस्वी और प्रवाह पूर्ण नहीं लगी—' 'It was a mechanical paraphrasing of Sanskrit text

मंच-व्यवस्था के सम्बन्ध में आपने लिखा है मंच की दृष्टि से उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। ये लोग और स्वयं मैं भी मंच को निर्जीव या गौण रचना नहीं समझते। मंच तो किसी भी नाटक के अनुरूप बनाया जा सकता है और अभिनेता किसी भी तरह की भाषा और विषय को उचित परिश्रम करके प्रस्तुत कर ही सकते हैं।'

इन तीनो नाटका के अभिनय म मुख्य अभिनेताओ के नाम और उनकी भूमिकाए ये थी

शाकुतल मे

दुष्यन्त—राहुल बारपुते,
शकुतला—सुमन धर्माधिकारी
प्रियवदा—तारा चिचालकर
निर्देशक—बाबा डिके।

मालविकाग्निमित्र मे

अग्निमित्र—राहुल बारपुते
धारिणी—सुमन धर्माधिकारी,
मालविका—डा० वसुधरा कालेवार,
कौशिकी—सुमन दाडेकर
विदूषक—कमल रग
निर्देशक—बाबा डिके।

विक्रमोवशीय मे

पुरुरवा—राहुल बारपुते
उर्वशी—निमला दाणी
विदूषक—अरुण डिके।

निष्कर्ष

सस्कृत स अनदित अनेक हिन्दी नाटक मच पर अभिनय के योग्य हैं, पर बहुधा मचप्रवधक इनकी आर ध्यान नही देत और उन्ह आधुनिक रगमच क अनुपयुक्त बताते हैं। भारतेन्दु क अनूदित नाटक भर्तृहरि निर्वेद का वचनेशमिश्र कृत अनुवाद, वागीश्वर विद्यालकार का कुन्दमाला का अनुवाद और अन्य अनेक अनुवाद भाषा शली की दृष्टि म निश्चय ही अभिनय योग्य हैं। मच का सवाद लखक सवादो को कुछ ठीक ठाक कर ले ता अनक अनुवाद सफलता से मच पर खेले जा सकेंगे।

सातवा अध्याय

अनुवादो का योगदान और मूल्याकन

अनूदित नाटको का हिन्दी साहित्य मे जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके योगदान का उचित मूल्याकन नही हुआ। चार दृष्टियो से इनका हमारे साहित्य मे बडा गौरवपूर्ण स्थान है

१ सास्कृतिक दृष्टि से,
२ काव्यचेतना की दृष्टि से,
३ हिन्दी गद्य की विकास परम्परा की दृष्टि से,
४ हिन्दी नाट्य परम्परा की दृष्टि से

१ हमारे सास्कृतिक आदर्शों की निधि

सस्कृत नाटक प्राचीन भारतीय जीवन के सास्कृतिक आदर्शों के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं। इनके अनुवादो मे आज के युग म भी हम उन आदर्शों से बडी प्रेरणा मिलती है और अपनी आवश्यकताओ के अनुसार हम उनका उपयोग कर सकते हैं। इन सास्कृतिक आदर्शों म कुछ मुख्य आदश ये हैं

(क) वर्णाश्रम धम,
(ख) व्यक्ति के जीवन का आध्यात्मिक लक्ष्य—भगवान का अमूत रूप
(ग) राजा प्रजारजनात
(घ) प्रेम का प्रकृतरूप—पति पत्नी का प्रेम

क वर्णाश्रम धम

आय मनीषियों ने जीवन पर दो दृष्टियो से विचार करके उसका वर्गीकरण किया था। गुण कम और स्वभाव के आधार पर वण या जीवन काय की कल्पना की गई थी, और आयु की परिणति के आधार पर चार आश्रमो की व्यवस्था रखी गई थी।

आज वण को जात या जाति कहते हैं। यह शब्द प्रयोग बडा भ्रामक है। वण वास्तव म वही चीज थी जिसे आजकल कैरीयर या जीवनकाय या पेशा कहते हैं। जब समाज अधिक परिवर्धित अवस्था म होता है तब उसम स्वभावत बुद्धिजीवी, सत्ताजीवी धनजीवी और श्रमजीवी ये चार विभाग हो जाते हैं। इनको आज अग्रेजी भाषी देशो म इटलक्चुअल, गवनमट, बिजनेस और लेबर कह देते हैं। पर ये हैं सवथा स्वाभाविक।

प्राचीन भारत म किसी समय वर्णों की बडी हितकर व्यवस्था थी। इसके अनुसार वण व्रत के रूप म होता था अधिकार के रूप मे नही।[1] सबसे ऊचा व्रत ब्राह्मण का व्रत गिना जाता था। प्रत्यक न्याययुक्त समाज म ब्राह्मण व्रती का स्थान सर्वोपरि होगा। यह व्रती आत्मिक और बौद्धिक सामथ्य का खजाना होना चाहिए। ब्राह्मणत्व वस्तुत अधिकार नही था व्रत था। ब्राह्मण वह था जो सत्य और विद्या के आगे धन को तुच्छ समझता था। इसीलिए पराक्रमी क्षत्रिय और धनपति वश्य उसे अपने स ऊचा मानते थे। मनुस्मृति न मान के य पाच क्रमिक आधार बताए हैं विद्या, कम, आयु, व धु-बाधव और धन।[2] पहला स्थान उसका है जो विद्या का धनी है। आय आदश के अनुसार जो व्रत था, वह धीरे धीरे अधिकार समझा जाने लगा और यह अधिकार ज म स प्राप्त माना जाने लगा।

सस्कृत नाटका म इन वर्णों के व्रत पक्ष को उभारा गया है। महाकवि कालिदास का शाकुतल तो जस व्रती ब्राह्मण की गरिमा का दशन कराने के लिए ही लिखा गया है। पहले अक म ऋषिया का हरिण की रक्षा के लिए कहना और राजा का तुर त उसे आदर पूवक स्वीकार कर लेना सामाजिक यवस्था के इस पक्ष का महत्त्वपूण निरूपण है। इन ब्राह्मणा क तज स राजा सुपरिचित है। वह इ ह अवहलना की दष्टि से नही दखता। उसके मन म इनके लिए सचमुच बडा आदर है और वह इनक सच्चे महत्त्व को समझता है। दूसर अक म जब राजा विदूषक से तपोवन म जान का उपाय पूछता है और विदूषक उसक राजकीय अधिकार की चचा करता है, तब दुष्य त उसकी बात अस्वीकार करता हुआ इन ऋषियो की वास्तविक महिमा की ओर उसका ध्यान खीचता है

> और वण तें लेत नप, सो धन बिनशन जोग।
> छठो अश तप को अमर देत जु तपसी लोग॥[3]
>
> —लक्ष्मणसिंह, पष्ठ ४४

इसी प्रकार क्षत्रिय का व्रत दुष्टा के दमन का है। जहा स पुकार आती है वही व्रती क्षत्रिय सबस आग दिखाई दता है। शाकु तल म दुष्य त अपने राज्य के ऋषिया की यज्ञ रक्षा के अतिरिक्त इ द्र क शत्रुओ से लडन के लिए तुर त प्रस्थान कर देता है। पुरूरवा अपरिचित उवशी का आतनाद सुनते ही उसकी रक्षा के लिए दौड पडा। (विक्रमोवशीय) राम न ब्राह्मण पुत्र की अकाल मृत्यु का निवारण करन के लिए सकडा मील की यात्रा कर डाली (उत्तररामचरित), विराट नगर के ग्वाला की गाया का अपहरण सुन कर अजु न और कुमार उत्तर रथ सजाकर निकल पड (धनजय विजय), गरीब ब्राह्मण

१ व्रतमिति कम नाम वर्णोनाति सत। निवत्तिकमा वारयतीति मत।
निरुक्त २ १३। वर्णो वणाते। निरुक्त २ ३।

२ वित्त ब धुवय कर्म विद्या भव त पचमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।

३ यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नपाणा क्षयि त फलम्।
तप षड्भागमक्षय्य ददत्यारण्यका हि न॥

—अभिज्ञानशाकु तल २ १३

के पुत्र की मौत के मुह म पडता देख भीम, उसके स्थान पर, स्वयं राक्षस के साथ चल पडा (मध्यम व्यायोग)। इन पात्रों के चरित्रों से जिस उत्साह की व्यंजना होती है वह सामाजिक मनुष्य की दृष्टि में सदा वन्दनीय रहेगा।

वर्ण सम्बन्धी धारणा के जड हो जाने के बाद जन्म से वर्ण की मान्यता चल पडी। मनीषी नाटककारों का ध्यान इस स्थिति के अनौचित्य की ओर गया। उन्होंने समय-समय पर इसके विरुद्ध आवाज उठाई। मृच्छकटिक ने लिखा

विट—कुलीन होने से कुछ नहीं होता।

स्वभाव की श्रेष्ठता ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है अच्छी भूमि से उत्पन्न होने पर भी बबूल का पेड काटे ही उगाता है।[1] (अनु० मोहन राकेश पृष्ठ १४८)

यही चेतावनी कर्ण के इन शब्दों में वेणीसंहार' के कर्ता ने दी

मैं सारथी, सुत सारथी का और कोई हूं तथा।
पुरुषार्थ करना काम है, कुल भाग्य के म सबया।।[2]

—अनु० बलदेव शास्त्री पृष्ठ ६७

इस प्रकार वर्ण के जडीभूत रूप की अवहेलना भी संस्कृत नाटककारों ने प्रदर्शित की है।

आश्रम व्यवस्था को अन्य सामाजिक जीवन का दूसरा आधार माना गया है। यह आश्रम-व्यवस्था इस रूप में सदा सर्वत्र मौजूद रहती है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन विद्याध्ययन में बीच का अर्थोपार्जन में और बाद का पठन-पाठन या धार्मिक चिंतन में बीतता है। आजकल अर्थोपार्जन का काल बहुत लम्बा चलता है—जीवन की आवश्यकताओं के कारण।

आश्रमों के रूप प्राचीन विभाजन का आधार भी व्रत या कर्तव्य ही था अधिकार नहीं। अपने अधिकार का दावा करने के स्थान पर हर व्यक्ति को अपने आश्रम के कर्तव्यों का निष्ठा से पालन करना होता था। इस प्रकार हर मनुष्य दो तरह की कर्तव्यनिष्ठाओं से बंधा होता था—एक अपने जीवन व्रत की और दूसरी अपने आश्रम-व्रत की।

भवभूति ने उत्तररामचरित में कुश और लव का ब्रह्मचर्य आश्रम का रूप चित्रित किया है। मृच्छकटिक का चारुदत्त कामकला निष्णात गुणी और दानी गृहस्थ का आदर्श है। शाकुन्तल के ऋषि काश्यप वानप्रस्थ का जीवन बिता रहे हैं।

जीवन के इस आगे बढते हुए रूप का महत्त्व कालिदास ने शाकुन्तल में कण्व के मुह से इस प्रकार कहलाया है

१ विट—
किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः॥
—मृच्छ० ८ २९

२ सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥
—वेणी० ३ ३७

बहुत समय तक, सकल मही के पति के महिषी पद का मान—
पा अपने अनुपम दौष्यन्ती सुत को करके राज्य प्रदान,
उसको दे परिवार भार सब, पति के संग, होकर उपराम—
आएगी इस शान्त तपोवन में फिर तू करने विश्राम।।[1]

इसीकी प्रतिध्वनि 'कुन्दमाला' के इस पद्य में है

केवल एक धनुष के बल यह भूमण्डल अपना कर।
सौ यज्ञों से मार्ग स्वर्ग का सुन्दर सरल बनाकर।
रघुवंशी दे भुवन भार पुत्रों को चौथेपन में।
मोक्षसिद्धि के लिए सदा से आते हैं इस वन में।।[2]

और 'उत्तररामचरित' में यह विचार इस प्रकार आया है

राजपाट दे निज सुतनि त्यागि जगत जंजाल।
वृद्ध समय वन को गये सूरज बंस भुवाल।
वही अमल आरण्यव्रत पावन पुण्य समाज।
बाल काल ही में धरयौ तुमने श्री महाराज।।[3]

प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का यह आदर्श हिन्दी पाठकों के सामने संस्कृत नाटकों के अनुवादों से बहुत अच्छी तरह आता है और हमें अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने और व्रतमूलक बनाने की प्रेरणा देता है।

(ख) परमसत्ता और व्यक्ति

व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य सर्वव्यापिनी परम सत्ता का साक्षात्कार है, उसका सारा कार्यकलाप इस सत्ता के भान से अनुप्राणित रहना चाहिए तभी वह सुख और आनन्द पा सकता है—यह भावना रखने के कारण संस्कृत नाटककारों ने अपने नाटकों के आरम्भ में नान्दी श्लोकों द्वारा या नाटकीय अन्त में परमात्मा का स्मरण दर्शकों को कराया है। यह प्रवृत्ति मानव जीवन के यथार्थरूप को देखने-समझने की क्षमता प्रकट करती है।

आज का नाटक यथार्थवादी होने का दावा करता है पर फिर भी वह इस संसार व्यापी यथार्थ की उपेक्षा करता है कि आज भी परम सत्ता में आस्था सबसे अधिक व्यापक आस्था है। ईसाई जगत में सबसे अधिक बिकने वाली पुस्तक बाइबिल है, भारत में धार्मिक पत्र 'कल्याण' सबसे अधिक छपता है। इन तथ्यों से संसार के दो सबसे अधिक विस्तृत धर्मों के प्रति मानवजाति की प्रवृत्ति प्रकट होती है। यह बात बिलकुल अलग है कि विभिन्न आस्थाओं के अनुसार परम सत्ता का रूप क्या है।

संस्कृत नाटककारों ने लोक-जीवन और परमसत्ता को एक दूसरे में गूँथ दिया है। शाकुन्तल के नान्दीश्लोक में संसार के भौतिक रूपों को कल्याणमय परमेश्वर का शरीर

१ अनु० वागीश्वर विद्यालंकार, पृष्ठ ६४
२ अनु० वागीश्वर विद्यालंकार, पृष्ठ ५०
३ अनु० सत्यनारायण पृष्ठ १२

कहा गया है। जल को 'स्रष्टा की आदि सृष्टि' कहकर याद किया गया है, अग्नि और होता, सूर्य और चन्द्र, आकाश, वायु और पृथ्वी—इन आठ वस्तुओं को मंगलमय शिव का प्रत्यक्ष रूप बताया गया है। कालिदास के एक अन्य नाटक मालविकाग्निमित्र में परमात्मा का मंगलकारी रूप इस प्रकार निरूपित हुआ है :

पूरी करें भक्त की कामना सब,
लेकिन स्वयं हैं गजचर्मधारी।
हैं अर्धनारीश्वर किन्तु फिर भी
सबसे बड़े वह यति ब्रह्मचारी।
जग को सम्भालें निज अष्ट मूर्ति से,
न इसका उन्हें किन्तु अभिमान भारी।
सन्मार्ग दीखे इस हेतु वह शिव
मेटें तमोवृत्तियां सब तुम्हारी।।[1]

पहले वाक्य में अपरिग्रह, दूसरे में इन्द्रिय-संयम और तीसरे में विनयशीलता के जिन तीन गुणों का उल्लेख हुआ है, वे प्रत्येक समाज सेवक के जीवन की सफलता के आधार हैं। महात्मा गांधी में इन तीन गुणों का चरम रूप दिखाई देता है—तभी वे देश की तमोवृत्ति और जड़ता को दूर करके उसमें चेतना का संचार कर सके।

मुद्राराक्षस के लेखक ने इसी भावना को इस प्रकार प्रकट किया है :

पादप्रहार सों जाई पताल न,
भूमि सबै तनुबोझ के मारे।
हाथ नचाइबे सों नभ में
इत के उत टूटि परें नहिं तारे।
देखन सों जरि जाहिं न लोक
न खोलत नैन कृपा उर धारे।
यों थल के बिनु कष्ट सों नाचत,
शर्व हरौ दुख सर्व तुम्हारे।।[1]

सामाजिक मंगल की आकांक्षा से कार्य करने वाले में इतना धीरज और आत्म निग्रह होना चाहिए।

यही मंगल भावना सत्यनिष्ठा वाली विष्णुभक्ति के रूप में प्रबोधचन्द्रोदय का प्रतिपाद्य है। महाकवि भास ने भगवान को मानव रूप में देखते हुए उनका सौन्दर्य और शक्ति का रूप प्रस्तुत किया है। वेणीसंहार के कर्ता ने राधा और कृष्ण के अनुराग से संसार के कल्याण की कामना की है। परन्तु आपने भगवान की सत्ता के इस अमूर्त रूप की ओर भी दर्शक का ध्यान खींचा है :

विनष्ट भेद समाधि के स्नेही आत्मविहारि।
सत्व निष्ठ सत ज्ञान से तिपट अविद्याहारि।

और राम की अपनी दशा उनके इस आत्मगत कथन से प्रकट होती है

किसलय कोमल पाणि प्रिया का पकड़ प्रेम मे अतिशय।
करता सन्ध्या समय रसीली प्रणयकथाएं सुखमय॥[1]

और

रो रो प्रिया वियोग म दुखी हुए य नन।
उठे हाम के धूम स और हुए वचन॥[2]

'स्वप्नवासवदत्ता' में भी पति पत्नी के परस्पर अनुराग का यही चित्र मिलता है। परन्तु 'मृच्छकटिक' म जहा एक ओर पतिपरायणा धूता का आदश चरित्र है, वहा दूसरी ओर स्वच्छन्द प्रेम की अनुगामिनी वसन्तसेना और चारुदत्त के चरित्रो को आधार बना कर प्रेम के इस महत्त्वपूण तत्त्व का निरूपण किया गया है कि प्रेम हृदय का व्यापार है, धन का नहीं। इसम इधर तो वसन्तसेना है जिसका परम्परागत पेशा ही धन लेकर प्रेम का प्रदशन करना था और उधर है चारुदत्त जो कभी बहुत धनी होने पर भी आज सवथा निधन हो चुका है। पर चारुदत्त की सत्यनिष्ठा वसन्तसेना का हृदय खीच लेती है और वह बडे-बडे धनियो की कामना का धन वह रमणी इस अकिंचन चारुदत्त के चरणो म आत्म-समपण कर देती है और इसकी पत्नी बन जाती है। चरित्र के आगे भौतिक सम्पत्ति की तुच्छता का यह आदश मानव समाज के लिए सदा महान बना रहेगा।

इस प्रकार पति पत्नी की घनिष्ठता और अनन्यता के व्यजक उदात्त प्रेम का आदश संस्कृत नाटको के अनुवादो से हमारे सामने आता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटको ने हमारे सामने प्राचीन भारतीय जीवन के कुछ महान आदश प्रस्तुत किए हैं। इनसे वर्णाश्रम धम का महत्त्व, परमात्मा की सत्ता म आस्था प्रजा के प्रति राजा का कतव्य और पति-पत्नी प्रेम का उन्नत रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक आदश जसे स्त्री शिक्षा का महत्त्व बडे भाइ का मान पारिवारिक सगठन की महिमा अन्तत पुण्य का अभ्युदय और पाप का नाश, इन नाटको के द्वारा हमारे जीवनो और विचारो को प्ररणा देते हैं।

२ काव्य-चेतना

हिन्दी साहित्य की वतमान प्रवत्तियो म जिस काव्यचेतना के दशन होते हैं वह संस्कृत की काव्यचेतना स बहुत भिन्न प्रकार की है। आज का लेखक बहुधा आचारशास्त्र या समाजशास्त्र के अन्तगत विचारणीय बातो को और ऐन्द्रिय सवेदना को अधिक महत्त्वपूण मानता है भाव और रस को नहीं। वह बौद्धिक वाद विवाद को काव्य का उपादान समझता है और अपने विचार प्रस्तुत करके ही अपने को सफल कवि मानता है। मानव जीवन के स्थायी भावो को जो जीवन के गम्भीर और चिरतन पक्षो की आधारशिला हैं वह निन्दनीय रूढिमात्र मानने लगा है।

संस्कृत नाट्यशास्त्रकारो ने रूपक के प्रधान भेद नाटक का अगी रस शृङ्गार

१ अनु० वागीश्वर विद्यालकार पृष्ठ ३६
२ अनु० वही, पृष्ठ ५०

और वीर को माना था। इस मान्यता का आधार ये संस्कृत नाटक, और इन नाटकों में इन्हें अंगी रस बनाने का कारण यह था कि ये जीवन की दो सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं के प्रतिनिधि हैं। शृङ्गार रस मानव जाति की व्यवस्थित सृष्टि का आधार है और वीर रस मानव समुदायों की रक्षा का मूल है। जीवन के दो आधारभूत स्थायी भाव हैं रति या प्रेम और उत्साह या शत्रु से रक्षा के लिए प्राण के मोह का त्याग। इन दोनों को अपने हृदय में आनन्द के साथ अनुभव करने वाला कवि ही शृङ्गार और वीर रसों की व्यंजक रचना की सृष्टि कर सकता है। जिस लेखक का जीवन के इन दो मूलभूत पक्षों का गहरा अनुभव नहीं है वह अपनी रचनाओं से पाठक को कहाँ तक अनुप्राणित कर पाएगा, यह विचारणीय है।

संस्कृत नाटकों के लेखकों में शृंगार और वीर रसों के आलम्बनों और आश्रयों की गम्भीर चेतना दिखाई देती है। शृङ्गार के आलम्बन आश्रयों में से हम दो उदाहरण लेते हैं शकुन्तला दुष्यन्त, और सीता राम। वीर रस के आश्रयों में अर्जुन भीम और राम के उदाहरण लिए जा सकते हैं।

शाकुन्तल में शकुन्तला रूप लावण्यवती तरुणी है। उसका यौवन स्वास्थ्य और प्राण से भरपूर है। दुष्यन्त तेजस्वी और प्रभावशाली युवक है। वसन्त ऋतु का अन्त हुआ है। सुन्दर कुसुमों और लताओं से सुशोभित उपवन में दोनों की भेंट होती है और नैसर्गिक सृष्टि-कामना उन दोनों को सदा के लिए एक बना देती है पर यह ऐक्य समाज और धर्म से अनुमोदित रूप में ही होता है। परस्पर स्वीकृति से होने वाले गांधर्व विवाह की धर्ममुद्रा उनके सम्बन्ध पर अंकित हो जाने के बाद ही मानसिक रतिभाव समागम के क्रियात्मक रूप में परिणत हो पाता है।

उधर इतना प्रतापी राजा दुष्यन्त किसी प्रकार का सांसारिक प्रलोभन प्रस्तुत नहीं करता। वह अपने आपको एक साधारण राजकर्मचारी ही बताता है। यह ठीक है कि उसका सच्चा रूप बाद में शकुन्तला से छिपा नहीं रहता, पर शकुन्तला का हृदय सच्ची जानकारी से पहले ही दुष्यन्त के लिए अर्पित हो चुका था। कारण था नैसर्गिक सृष्टि कामना की परिणति के लिए प्रस्तुत उपयुक्त उपादान। दुष्यन्त ने अपने हृदय के भाव को भी उसी प्रकार निश्छल शब्दों में स्वीकार किया जिस प्रकार शकुन्तला ने अपनी प्रणयपत्रिका में स्वीकार किया था।

शृङ्गार रस के इन आलम्बन आश्रयों से शुद्ध शृङ्गार का जो रूप हमारे सामने आता है, वह महान और पवित्र है, सृष्टि की दुर्बोध पहेली की एक कड़ी है और मानव जाति को उन्नति की ओर बढ़ाने का साधन है।

सीता और राम को आलम्बन आश्रय बनाकर शृङ्गार की व्यंजना उत्तररामचरित और कुन्दमाला में की गई है। इन दोनों में शृङ्गार का विप्रलम्भ रूप है जिसकी तह में कोई न कोई सामाजिक पक्ष रहा करता है। उत्तररामचरित में राम और सीता का प्रेम केवल रूप पर नहीं है—यहाँ घनिष्ठ साहचर्य रूप के प्रभाव से आगे बढ़कर प्रेम को गहरा बना चुका है। ऐन्द्रिय उत्तेजना की प्राथमिक श्रेणी को अतिक्रान्त करके वह अलौकिक भाव का सवरूप बन चुका है। भावों की इस अतीन्द्रिय घनिष्ठता के कारण

ही उनके वियोग में करुणा की व्यंजना गहरी बन गई है।

राम का सीता के प्रति जो भाव है, वह सीता के निर्वासन की अनिवार्यता मन में आने पर उनके इन शब्दों में प्रकट होता है

"हा! आज पृथ्वी लौट गई, राम के जीवन का प्रयोजन नष्ट हो गया, अब जगत सूना उजाड जंगल-सा लगने लगा, यह संसार असार है, शरीर भी अपने लिए बोझ हो गया है कोई आश्रय भी तो नहीं रहा, किंकर्तव्यविमूढ हूं, क्या करूं, कहां जाऊं।"[1]

फिर वियोग के बाद,

> हा हा प्यारी फटत हृदय यह जगत सून्य दरसावे।
> *तन बन्धन सब सिथिल भय से अंतर-ज्वाल जरावें।*
> तो बिन जनु डूबत जिय तम मे, छिनछिन धीरज छीजे।
> मोहावृत सब ओर राम यह, मन्दभाग्य का कीजे॥[2]

उधर सीता का राम के प्रति प्रेम राम के मूर्छित होने पर सीता के उद्वेग के रूप मे प्रकट होता है। इतना तिरस्कार राम के हाथो पाने के बाद भी उसका गम्भीर हृदय राम में ही अनन्य भाव से लगा रहता है। उसके हृदय में अब भी राम का ही एकच्छत्र साम्राज्य है। उत्तररामचरित मे जब राम दंडकवन मे सीता के वियोग में मूर्छित हो जाते हैं, तब अदृश्य सीता उनकी परिचर्या करती हुई कहती है

'अविचल अनुराग भरे, प्राणनाथ के सुखद, शीतल, दीर्घ, दारुण, सन्ताप हरण स्पर्श से पसीजकर कांपता हुआ यह मेरा हाथ जहां का तहां जडीभूत होकर ऐसा विवश हो गया है मानो किसी वज्रलेप से जुड गया हो।'[3]

कुन्दमाला में, सीता का राम के हृदय पर कितना अधिक दृढ विश्वास है, इसकी व्यंजना सीता और सखी के इस वार्तालाप से होती है—

सीता—(सहर्ष) यही कि आज इतने दिन हो चुकने पर भी, सौतिन के निःश्वास पवन से अदूषित उनके हृदय में मैं ही पूजा पा रही हूं।

वेदवती—सखि! क्या उतावली हो रही हो। राम अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित होने ही का हैं।

सीता—तो क्या?

वेदवती—यही कि तब यज्ञ में किसी सहधर्म चारिणी का पाणिग्रहण करना ही पडेगा।

सीता—आर्यपुत्र के हृदय पर ही मेरा प्रभुत्व है हाथ पर नहीं।[4]

इस प्रकार शृङ्गार रस के ये दो आलम्बन आश्रय जिस उत्फुल्ल, मधुर और गम्भीर जीवन की व्यंजना करते हैं, वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से महान और महत्त्वपूर्ण है और ऐसे चरित्रों की सृष्टि करने वाले कवियों की काव्य चेतना ही

१ अनु० सत्यनारायण, पृष्ठ २८
२ अनु० सत्यनारायण पृष्ठ ६६
३ अनु० सत्यनारायण, पृष्ठ ७०
४ वागीश्वर विद्यालंकार, पृष्ठ २६

मानव-जीवन के वर्तमान और भविष्य को स्पृहणीय बना सकती है।

उत्साह के आश्रय

राम—'महावीरचरित' में नायक राम वीर रस का आश्रय है। वह दुष्ट अत्याचारी राक्षसों का दमन करता है, दुराग्रही परशुराम को पराभूत करता है, बाली का मुकाबला करके उसे पराजित करता है और रावण के मद का मर्दन करता है। भवभूति ने राम के विरोध में खड़े होने वाले सब आलम्बनों के सामाजिक नैतिक दोष प्रस्तुत करके उन्हें जन-समर्थन और धर्म समर्थन से शून्य बना दिया है। इन आलम्बनों से उद्बुद्ध राम का उत्साह वैयक्तिक बल प्रदर्शन नहीं, जन-समर्थित सार्वजनिक पक्ष की रक्षा और न्याय की स्थापना के लिए किया गया उद्योग है। यह न्याय-स्थापना और जन समर्थन ही वीर-रस के स्थायी भाव को इतना असली महत्त्व और गरिमा प्रदान करते हैं।

भवभूति ने रामायण की कथा को अधिक मानवीय रूप देने का कौशल भी दिखाया है। उनका राम लोकरक्षा के लिए प्राणों का मोह छोड़कर आगे बढ़ने वाला राम है। उसके तथा अन्य पात्रों के क्रियाकलाप मानवोचित आकांक्षाओं से ही प्रेरित हैं। रावण का राम के विरुद्ध षडयन्त्र, और संगठन का प्रयत्न वाल्मीकीय रामायण की कहानी में नहीं दिखाया गया। भवभूति ने यहाँ रावण और उसके मन्त्रियों द्वारा किए गए व्यापक षडयन्त्र की उद्भावना की है जो कथा को अधिक लोकव्यवहार संगत और नाटकोचित बना देती है। अपनी उद्भावना से उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि राम और रावण के विरोध का मूल इस तथ्य में था कि रावण ने सीता का पाणिग्रहण करने के लिए जनक के पास सन्देश भेजा था परन्तु जनक ने उसे ठुकरा दिया। यह योजना न की जाती तो राम का वीरत्व वैसा न उभर पाता। राम को सर्वशक्तिमान का अवतार मानने पर दर्शक यह सोच सकता है कि सर्वशक्तिमान के रावण को मार डालने में कौन सी वीरता है?

चाणक्य राम के उत्साह का मुख्य प्रेरक भाव अन्याय से रक्षा या न्याय्य आचरण की स्थापना है। धनञ्जयविजय में अर्जुन का गो रक्षा का उत्साह भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। परन्तु 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य का देश में न्याय संगत राज्य की स्थापना के लिए प्रवृत्त उत्साह जन पक्ष की गरिमा से मंडित होते हुए भी थोड़ा भिन्न प्रकार का है। यह उत्साह युद्ध करने का उत्साह नहीं है—यह तो देश की व्यवस्था को स्थिरता देने का उत्साह है ताकि स्थिर राज्य व्यवस्था में न्याय, सत्य और मंगल की वृद्धि हो। राम को युद्धवीर या धर्मवीर कहा जाए तो चाणक्य को देशवीर कहना संगत होगा।

इस प्रकार का अनोखा प्रयत्न करने वाले पात्र की कल्पना महाकवि विशाखदत्त की सूझ-बूझ और राजनीति कुशलता की द्योतक है। यहाँ चाणक्य का किसी भी आदमी से व्यक्तिगत द्वेष नहीं है। अपने असली प्रतिद्वन्द्वी अमात्य राक्षस के लिए उसके मन में बड़ा आदर है। राक्षस के लिए उसके मन की भावना इन शब्दों से प्रकट होती है:

चाणक्य—(देखकर) अरे! यही अमात्य राक्षस हैं? जिस महात्मा ने—

बहु दुख सों मोचत सदा जागत रैन विहाय।
मेरी मति अरु चन्द्र की सैनहि देइ थकाय॥

(परदे से बाहर निकलकर) अजी अजी अमात्य राक्षस! मैं विष्णुगुप्त आपको दण्डवत करता हू। (पर छूता है)[1]

इस प्रकार, सस्कृत नाटको के हिन्दी अनुवादो का पठन पाठन न केवल सास्कृतिक आदर्शों की दृष्टि स हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है, कार्यचेतना की दृष्टि से भी यह आज के पाठक को एक उपयोगी दिशा दिखाने वाला है। इन नाटको मे यह दिखाया गया है कि मानव जीवन के आधारभूत दो रसो—शृगार और वीर—के आश्रय और आलम्बन मानव जीवन के जिन व्यक्तिगत और सामाजिक पक्षो के प्रतिनिधि हैं उनपर व्यक्ति के आनन्द और समाज के मगल का आधार है।

यह भी कहा जा सकता है कि सस्कृत नाटक हिन्दी के नाटक-लेखको के लिए प्रेरणा के स्रोत बने। आनन्द रघुनन्दन नहुष आदि नाटको म सस्कृत-नाटक शैली की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। परन्तु यह प्रभाव सीधे सस्कृत नाटको से पडा, सस्कृत नाटको के हिन्दी अनुवादो स नही।

३ हिन्दी गद्य की विकास-परम्परा

हिन्दी गद्य म विकास की दृष्टि से सस्कृत नाटको के हिन्दी अनुवादो का महत्त्व विशेषत १८५० के बाद के काल म है यद्यपि महाराज जसवन्तसिंह का प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद म ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस समय खडी बोली गद्य का चलन आरम्भ हुआ था। परन्तु हिन्दी म लिखने वाले लेखको के पास हिन्दी की कोई प्रणाली नही थी। ऐसे समय राजा लक्ष्मणसिंह ने शाकुन्तल का हिन्दी गद्य म जो अनुवाद किया उसने हिन्दी गद्य शैली की नीव डाली।

राजा साहब के गद्य मे सरल शब्दो का प्रयोग था। परपरा से प्रचलित सस्कृत तत्सम शब्दो के साथ साथ तदभव शब्दो का प्रयोग भी बहुत था। आपके अनुवाद के प्रथम सस्करण से एक अनुच्छेद नीचे दिया जाता है

अनसूया—(हौले प्रियवदा स) सखी मैं भी इसी सोच विचार म हू। मेरे मन म आती है कि इनसे कुछ पूछू। (प्रकट) तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझे भासती है कि तुम कोई राजकुमार हो, सो कहो कौन से राजवश के भूषण हो और कहा की प्रजा को विरह म व्याकुल छाड यहा पधारे हो क्या कारण है कि जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन म पीडित किया है।

इस अनुच्छेद में व्यक्तिनामो सर्वनामो कारक-वाचको, सयोजको और सहायक क्रियाओ को छोडकर ये २९ शब्द प्रयुक्त हुए हैं हौले, सखी, भी, सोच विचार मन, आती कुछ, पूछू प्रकट, मधुर वचन सुन भासती, राजकुमार, सो कहो राजवश, भूषण, प्रजा, विरह, व्याकुल छाड, पधारे कारण कोमल, गात, कठिन तपोवन, पीडित।

इनमे से ये १५ तत्सम शब्द हैं सखी, मन, मधुर, वचन राजकुमार राजवश, भूषण प्रजा, विरह व्याकुल, कारण, कोमल, कठिन, तपोवन, पीडित।

१ अनु० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु नाटकावली, भाग १ पृष्ठ ५१४ ५१५ (छपाई की गलती से पृष्ठ ३५५ पृष्ठ ३५७ बन गया है।)

शेष १४ शब्द तदभव हैं। विदेशी शब्द या उर्दू शब्द इनमे एक भी नहीं है।

वाक्यरचना की दृष्टि से देखें तो ये वाक्य बनेंगे

१ सखी, मैं भी इसी सोच विचार म हू।

२ मेरे मन म आती है कि इससे कुछ पूछू।

३ तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझे भासती है कि तुम कोई राजकुमार हो।

४ सो कहो।

५ कौन से राजवश के भूषण हो और कहा की प्रजा को विरह म व्याकुल छोड यहा पधारे हो।

६ क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन म पीडित किया है।

इनमे से पहला वाक्य सरल वाक्य है। दूसरा और तीसरा सयुक्त वाक्य हैं। चौथे को स्वतन्त्र वाक्य न मानकर पाचवें और छठे का प्रधान वाक्य मानना चाहिए और इस प्रकार यह एक ऐसा सयुक्त वाक्य होगा जिसम दो सरल तथा एक सश्लिष्ट अग वाक्य एक अगी या प्रधान क्रिया के अधीन हैं। प्रधान क्रिया है "कहो। दो सरल वाक्य ये हैं

(i) कौन से राजवश के भूषण हो ?

(ii) कहा की प्रजा को विरह मे व्याकुल छोड यहा पधारे हो ?

सश्लिष्ट अग वाक्य है

क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन मे पीडित किया है ?

इस प्रकार, उस समय की रचना म शब्दसमूह की दृष्टि से तत्सम और तद्भव प्रयोगो की लगभग बराबरी और विदेशी शब्दो का अभाव दिखाई देता है। वाक्य रचना की दृष्टि से सरल वाक्यो की बहुतायत है। मुहावरे की दृष्टि से, इसमे आगरे का पुट बहुत दिखाई देता है, जसे, मेरे मन म आती है, 'मुझे भासती है, 'सो कहो।

यह अनुवाद १८६१ ईस्वी मे किया गया था और १८६३ ईस्वी म प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशन के बाद के २६ वर्षों मे भाषा मे कितनी प्रौढता आ गई थी यह इसी अनुवाद के १८८९ ई० म प्रकाशित गद्य पद्यमय सस्करण के इसी अनुच्छेद से तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा। १८८९ ई० के सस्करण म यह अनुच्छेद इस रूप म है

"अनसूया—(हौले प्रियवदा से) सखी ! मैं भी इसी सोच विचार म हू। अब इससे पूछूगी। (प्रगट) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनो के विश्वास म आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह मे व्याकुल छोड यहा पधारे हो। क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन म आकर पीडित किया है।'

इस अनुच्छेद को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आगरे का पुट बहुत कम हो गया है, तथा वाक्य अधिक गठे हुए हो गए हैं पर शब्दसमूह की दृष्टि से कोई अन्तर नही हुआ। भाषा की इस पुष्टता और परिमाजन का बडा श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मौलिक तथा अनूदित रचनाओ को है जो सब १८८५ से पहले लिखी जा चुकी थी।

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे ऋषि दयानन्द और प० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने हिन्दी भाषा को संस्कृत तत्सम शब्द समूह के निकट रखने मे बडा योग दिया। परन्तु साहित्य के क्षेत्र मे, १८५० से १९०० तक संस्कृत नाटकों के जो अनुवाद हुए उनका मुख्यत हिन्दी गद्य की साहित्यिक क्षमता बढाने मे बडा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

भारतेन्दु की भाषा कितनी प्रौढ थी, इसका अनुमान रत्नावली के प्रथम नान्दी श्लोक के इस अनुवाद से हो जाएगा

'पार्वती शिवजी के पूजन के समय उनके मस्तक पर पुष्पांजलि चढाने के लिए कई बार चरणो के अगूठा के बल (से) ऊंची हुई और स्तनों के भार से फिर नीची हो गई। परन्तु जब शिवजी इनकी ओर तीनों नेत्रो से बडी अभिलाषा से देखने लगे तो इनको बडी लज्जा हुई और रोम खडे हो गए और अग मे पसीना और कंप होने लगा और हाथ न सम्भल सका तो इन्होंने उस पुष्पांजलि को बीच म ही छोड दिया। ऐसी पुष्पांजलि तुम्हारी रक्षा करे।'[1]

इस अनुच्छेद म शब्द-समूह बोलचाल का ह। वाक्यविन्यास म दूसरा वाक्य लम्बा और कुछ बेढगा हो गया ह। इसम पहले 'जब' का प्रयोग करके बाद म दो बार 'तो' रखा गया ह। मुहावरे की दृष्टि स पहले वाक्य म अगूठा के बल होना चाहिए। 'से' जिसे हमने कोष्ठ म कर दिया ह, अनावश्यक है। फिर भी १८६८ म की गई उनकी यह वाक्य रचना लक्ष्मणसिंह के १८६१ वाले अनुवाद से अधिक पुष्ट ह।

१९०० के आसपास के हिन्दी गद्य का स्वरूप लाला सीताराम के अनुवादो म मिलता ह। 'मालतीमाधव भाषा' (प्रकाशन वर्ष १८९८) से एक उद्धरण देखिए

'अरे आ भाई मठ के रहने वालो। भागो भागो, वह देखो जवानी के चढाव म खीच-खीचकर साकरें तोड सिंह लोह के पिंजरे से निकल गया ह, और भण्डे की नाई पूछ उठा के फुफकारता हुआ मठ से चला आता है। कितने जीव मार डाले और कटारी ऐसे दातो से हड्डिया तोड एक ही थप्पड स मानुष बैल, घोडे मार के गिरा रहा है। कट कटाकर चबाता हुआ मुह बाए, इधर उधर दौड रहा है। उनके मास गले म भर के गरज रहा है, उसकी डपट स सब लोग डर डर भाग रहे हैं। उसके वज्र ऐसे नहो के लगने से इतना लोहू बहा है कि सडक पर कीचड हो गया है। हाय, हाय दौडो, दौडो प्यारी मदयन्तिका बाई को बचाओ, बचाओ।'[2]

इनकी भाषा म वाक्यो का विन्यास व्यवस्थित है, पर शब्दसमूह म तत्सम शब्दो का प्रयोग बहुत ही कम है। तद्भव शब्दो का प्रयोग बहुत अधिक होने का एक कारण यह हो सकता है कि यह कथन डर से घबराए हुए व्यक्ति का है। वस्तुत इनकी भाषाशैली का झुकाव तद्भव शब्दसमूह की ओर है। पर स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि स यह कथन पूर्ण पुष्ट है।

१९०० के बाद द्विवेदीकाल म हिन्दी भाषा शैली म संस्कृत तत्सम शब्दो का अनुपात बढ गया और उसम भाषा बडी बलवती लगने लगी। उपर्युक्त अनुच्छेद को

१ भारतेन्दु नाटकावली भाग २ पृष्ठ ४७
२ पृष्ठ ३१ ३२

सत्यनारायण कविरत्न ने १९१८ में प्रकाशित अपने अनुवाद में इस रूप में रखा

"(अरे भाई शिवालय के रहने वालो, भागो, भागो, वह देखो जवानी के जोर के मारे क्रुद्ध हो, खींच खांच के छड़ों को तोड़ यह भयानक सिंह लोहे के कटहरे से यकायक निकल गया है, और ध्वजा की भांति पूंछ उठाकर ऐंठता हुआ मठ में चला आता है। कितनों ही को तो मार डाला। कटारी के समान दांतों से हड्डियां कटकटाकर चबाता हुआ, कन्दरा सा मुंह बाए इधर उधर दौड़ रहा है। एक ही थाप से मनुष्य बैल और घोड़ों को मारकर उनका रुधिर मांस गले में भर के गम्भीर घोर घर्घर गर्जन ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित कर रहा है। बहुत से मारे गए, बहुतों का चूरा हो गया, बहुतों का पता ही नहीं, न जाने क्या हुआ, बहुत से डर डरकर भाग रहे हैं। उनके तीक्ष्ण नखों के शरीरों पर लगने से इतना रक्त बहा है कि सब सड़क कीचड़ से भर गई। देखो यह दुष्ट शार्दूल कराल काल की लीला को कैसा चरितार्थ कर रहा है—अरे सब भागो भागो! और अपने प्राण बचाओ।) [1]

दोनों अनुच्छेदों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि सत्यनारायण की रचना में शिवालय, क्रुद्ध, भयानक, सिंह, ध्वजा, कन्दरा, रुधिर, मांस, गम्भीर, घोर, घर्घर, गर्जन, ध्वनि, आकाश, प्रतिध्वनित, तीक्ष्ण, नख, शरीर, रक्त, दुष्ट, शार्दूल, कराल, काल, लीला, चरितार्थ, प्राण—ये २६ तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से केवल एक 'सिंह' शब्द सीताराम के अनुवाद में आया था। इन तत्सम शब्दों के प्रयोग से यह कथन निःसंदेह पहले वाले कथन से अधिक पुष्ट हो गया है और वस्तुस्थिति की भयंकरता का उसमें बड़ा अच्छा बोध कराता है।

पिछले चालीस पचास वर्षों में संस्कृत नाटकों के जो अनुवाद हुए उनमें तत्सम प्रयोगों की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। हमारे विचार में इस प्रवृत्ति की अतिशयता नाटकीय गद्य की सर्वोपयोगिता की दृष्टि से हितकर नहीं है। फिर भी तत्सम शब्दों के प्रयोग से हिन्दी गद्य बलवान हुआ है और बलदेव शास्त्री, वागीश्वर विद्यालंकार, विराज, रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय, इन्दुशेखर और मोहन राकेश की गद्य रचनाएं हिन्दी के सशक्त प्रयोग का आदर्श कही जा सकती हैं। कालव्यवधान के कारण जो अर्थभावना आज की रचना में नहीं आ सकती उसे छोड़ दिया जाए तो अन्य ऐसी कोई वस्तु या भाव नहीं है जिसके अभिधान या अभिव्यंजन में इन्हें कोई कठिनाई अनुभव हुई हो।

संक्षेप में वर्तमान हिन्दी गद्य शैली के विकास की नींव राजा लक्ष्मणसिंह ने डाली, भारतेन्दु ने उसे दृढ़ और व्यवस्थित रूप दिया, सीताराम ने शब्दसमूह बोलचाल का रखते हुए उस मजबूत नींव पर स्तम्भ बनाए और उन स्तम्भों पर हिन्दी गद्यशैली का वर्तमान भवन जमकर टिका हुआ है। जहां तक साहित्यगत विचारों, अर्थों और भावों का प्रश्न है हिन्दी उन्हें व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ बन गई है। पिछले सौ वर्षों में जो ललित साहित्य की हिन्दी शैली में आई है उसमें उसे लाने में संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहा है।

४ हिन्दी की नाट्य परम्परा

हिंदी की नाटय परम्परा का आरम्भ लोक प्रचलित 'रास' उपरूपकों में माना गया है। इनके बाद मध्यकाल में जो रचनाएं हिंदी में नाटक नाम से प्रसिद्ध हुई उनमें से कई संस्कृत नाटकों से किसी न किसी रूप में सम्बंधित थीं। प्रबोधचन्द्रोदय, 'हनुमन्नाटक' तथा नेवाज के 'शकुंतला नाटक' का तो संस्कृत नाटकों से सम्बन्ध स्पष्ट ही है। महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्दरघुनन्दन' में संस्कृत नाटक शैली का अनुकरण है। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र जी द्वारा लिखे गए 'नहुष' नाटक में भी यही शैली मिलती है।

आधुनिक काल (१८५० ई०) के आरम्भ होने पर मौलिक नाटकों के साथ साथ संस्कृत से अनूदित नाटकों की एक लम्बी अविच्छिन्न परम्परा दिखाई देती है। राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेन्दु ने जो अनुवाद किए थे वे हिंदी नाटय परम्परा के अंग माने गए। राजा साहब के अनुवाद के बारे में स्वयं भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में लिखा

"हिंदी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है।"[1]

भारतेन्दु ने मौलिक नाटकों की रचना भी की। इनमें उन्होंने संस्कृत नाटक शैली का आंशिक अनुकरण किया। भरत के नाटयशास्त्र में भारतेन्दु की आस्था थी पर वे यह भी अनुभव करते थे कि आज भरत नाटयशास्त्र के सब नियमों का पालन उपयोगी नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में तत्कालीन पारसी रंगमंच के चलन और अपनी सूझ-बूझ का प्रयोग भी किया। इनके 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक में भरत नाटय शास्त्र के नियमों के साथ-साथ पारसी रंगमंच का प्रभाव और इनकी अपनी सूझ बूझ भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

भारतेन्दु के बाद भी संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवाद लगातार होते रहे पर १९१२ में बदरीनाथ भट्ट ने 'कुरुवनदहन' की रचना पारसी रंगमंच के अनुसार मुख्यतः 'वेणीसंहार' की सामग्री से की। यह नाटक हिंदी नाटयकला की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कदम था और भारतेन्दु के सत्यहरिश्चन्द्र के मार्ग पर था।

आगे चलकर हिंदी के मौलिक नाटकों की रचना संस्कृत शैली से हटकर पाश्चात्य शैली की ओर मुड़ गई। संस्कृत नाटयकला की अनेक उपयोगी बातें और विधान कौशल अब उपेक्षा की वस्तु बन गए। रस का स्थान कथानक वैचित्र्य को मिल गया। नान्दी और प्रस्तावना भी छूट गई।

हमारे विचार में नान्दी, प्रस्तावना रस और इतिवृत्तविधान के कौशल की प्राचीन परम्परा की उपेक्षा हिन्दी नाटयकला के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई है। आज का नाटक लेखक रस और इतिवृत्तविधान के परम्परागत कौशल को समझ

१ भारतेन्दु नाटकावली, भाग २, पृष्ठ ४१६

बूझकर छोड़ता और इसके स्थान पर किसी अधिक प्रभावकारी कौशल का आविष्कार कर लेता तो यह परिवर्तन अभिनन्दनीय होता। वस्तुत हुआ यह है कि रस का सर्वथा परित्याग हो जाने से आधुनिक नाटक बौद्धिक रोमन्थन मात्र रह गया है। इतिवृत्त-विधान की कोई बँधी व्यवस्था न होने से वह अपनी सहजबुद्धि पर चलने का यत्न करता है जो एकांगी होती है। परिणाम यह है कि हिन्दी में अच्छा रंगमंच नहीं पनप पाता। जो नाटक खेला भी जाता है वह अधिक सफल नहीं हो पाता।

हिन्दी नाट्यकला के विकास के लिए हमारे लेखकों को संस्कृत नाट्यकला के सब महत्त्वपूर्ण तत्त्व ग्रहण करने में संकोच न करना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि नान्दी और प्रस्तावना आज अनावश्यक है उन्हें भी नाटक प्रस्तुत करते हुए कुछ भूमिका बाँधने में सुविधा हो जाती है। फिल्मों में प्रस्तुत नाटकों को प्रस्तुत करते हुए भी बहुधा पहले कोई गीत या वादन प्रस्तुत किया जाता है, और उसके बाद अभिनेता, कथालेखक संगीतकार आदि के नाम बताए जाते हैं। पहले नान्दी और प्रस्तावना द्वारा ऐसे ही प्रयोजन की सिद्धि की जाती थी। फिल्मों के अन्त में राष्ट्रीय गान गाने की प्रथा कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी प्राचीन नाटकों के भरतवाक्य में तत्कालीन राजा की प्रशंसा करने की प्रथा थी। वस्तुत संस्कृत नाटक की अनेक रूढ़ियाँ नाटक खेलने और देखने वालों की कुछ उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए ही पड़ी थीं।

जहाँ तक रस का सम्बन्ध है जब तक लेखक रस की उपेक्षा करते रहेंगे तब तक उनकी रचनाएँ दर्शकों के मन में अपना स्थान न बना सकेंगी चाहे कोई कविता हो, चाहे नाटक। रचना में रस तब आएगा, जब लेखक के जीवन में रस होगा। जीवन में रस तब आता है जब मन में भावुकता हो, प्रेम करने की ओर सामाजिक हित के लिए स्वार्थ-त्याग की क्षमता और पराक्रम हो। सच्चा कवि वही बन सकेगा जिसके जीवन में प्रेम अहंकार को छा लेगा।

संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की परम्परा इस दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आज का कवि और लेखक उनसे प्रेरणा भले ही न ले, पर भविष्य का लेखक उनसे उसी प्रकार प्रेरणा लेगा जैसे भारतेन्दु ने ली थी। रसात्मक नाट्य साहित्य का यह भंडार नाटक लेखकों के लिए सदा अनुकरणीय और प्रेरक बना रहेगा।

मूल्यांकन

१५४४ में मल्हकवि ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया था। उसके बाद १८५० तक 'प्रबोधचन्द्रोदय' नौ अन्य कवियों द्वारा हिन्दी जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ। इस नाटक का धार्मिक महत्त्व ही इसके इतने अनुवादों का कारण बना। जिस विष्णु भक्ति का कीर्तन तुलसीदास और सूरदास ने किया था वही इस नाटक के अनुवादकर्ताओं का प्रतिपाद्य थी और इसके प्रतिपादन के लिए उन्होंने अनुवाद का माध्यम अपनाया। इस प्रकार आधुनिक काल आरम्भ होने से पहले अनुवादों का वास्तविक महत्त्व धार्मिक और सांस्कृतिक रहा। विशेषत रीतिकाल में ये रचनाएँ मानव की धार्मिक वृत्ति के परितोष का

आधुनिक काल आरम्भ हो जाने पर संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवाद साहित्य धारा के लिए बड़ा आकर्षण बने। इनके द्वारा राजा लक्ष्मणसिंह और लाला सीताराम जैसे प्रतिभाशाली लेखकों को, जो विशेष मौलिक रचनाएं न कर सके, अपनी कलम का कौशल दिखाने का अवसर मिला। उच्च कोटि के अनुवादों द्वारा भारतेन्दु ने हिंदी रंग मंच की कमी पूरी करने का यत्न किया। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के निरूपण द्वारा अंग्रेजी आधिपत्य के उस युग में भारतीय जनता को अनुवादों ने आत्म गौरव अनुभव करने का अवसर दिया। भारतीय इतिहास और परम्परा के महान पुरुषों का चरित्र इन अनुवादों द्वारा इस विस्तृत हिन्दी प्रदेश के निवासियों के सामने आया। रामायण और महाभारत के आधार पर लिखी गई मौलिक रचनाओं से जिस प्रकार राम चरित और पांडवकथा के गौरवपूर्ण तथा लोकनीति के पक्ष हमारे सामने आए उसी प्रकार इन अनुवादों में भी आए।

प्राचीन कवियों की काव्यचेतना में प्रेम और उत्साह का जो आदर्श और उदात्त रूप मौजूद है उससे हिंदी कवियों के आगे भी एक आदर्श उपस्थित हुआ। यह आदर्श मानव के स्वस्थ विकास और समाज रक्षा की आवश्यकता के लिए बड़ा मूल्यवान है। हिंदी नाट्यचेतना को भी इन अनुवादों से बड़ा बल मिला। हिंदी नाटककारों के सामने पहले नाटक का जो स्वरूप आया वह संस्कृत नाटकों का ही था। भारतेन्दु ने संस्कृत नाटकों के अनुसार ही प्रस्तावना आदि की योजना करके मौलिक नाटक भी लिखे। यद्यपि बाद के नाटककारों ने यह योजना छोड़ दी पर इनके अनेक शिल्पविधान हिंदी नाटकों के लिए अब भी उपयोगी हो सकते हैं।

हिंदी गद्य के विकास में तो इन अनुवादों का योगदान ऐतिहासिक महत्त्व का रहा है। केवल इस दृष्टि से ही देखें तो भी ये अनुवाद हमारे हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटकों के हिंदी अनुवादों की परम्परा समय बीतने के साथ साथ हमारे और हमारी अगली पीढ़ियों के लिए अधिकाधिक महत्त्व की होती जाएगी। इनसे हिंदी पाठक समाज को अपने प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों की प्रेरणा मिलेगी, सच्ची काव्यचेतना का दर्शन होगा, नाटकीय कौशल के अनेक विधान प्रयोग के लिए प्रस्तुत होंगे, और हिन्दी गद्य के विकास का इतिहास स्पष्ट होगा। इस कारण इनका पठन पाठन और प्रचार प्रसार जितना अधिक बढ़े, उतना हितकर है।

हमारा योगदान

१ अनुवाद के अर्थ और स्वरूप का निरूपण करने का हिंदी में यह पहला प्रयास है।

२ इस शोध प्रबंध में अर्थ की एक नई संगत और परम्परानुकूल व्याख्या प्रस्तुत की गई है—बाह्य घटनाओं या उनके वाचक वाक्यों से मानव की भाव, इच्छा और संकल्प (या प्रयत्न) रूप वृत्तियों पर जो अनुक्रिया होती है, उस समस्त वस्तु भाव और रस रूप अर्थ कहते हैं।

३ कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस प्रश्न के नये उत्तर सुझाए गए हैं। कार्यावस्थाएं नायक की मानसिक अवस्थाएं नहीं होतीं, वे कथाव्यापार की प्रगति से नायक की फलप्राप्ति की दिशा में आने वाली अवस्थाएं हैं जिन्हें दर्शक या पाठक अनुभव करता है। अर्थप्रकृति प्रासंगिक वस्तु का विन्यास है, कि इतिवृत्त का 'औपादानिक' विभाजन।

४ किसी रचना को किसी अन्य रचना का रूपान्तर कौन-सी विशेषताएं होने पर कहा जा सकता है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रबन्ध में दिया गया है। 'सत्यहरिश्चन्द्र' जैसी रचनाओं के लिए एक नया नाम 'पराश्रयी' सुझाया गया है, क्योंकि ये वस्तुतः रूपान्तर नहीं कही जा सकतीं।

५ अनुवाद-समीक्षा की पद्धति और अनुवाद के दोषों का निरूपण तथा नामकरण पहली बार इस प्रबन्ध में ही हुआ है।

६ संस्कृत नाटकों के आज तक अनूदित १०० से अधिक अनुवादों का संग्रह एक जगह करके उनकी सामान्य प्रवृत्तियां और उनका क्रमिक विकास पहली बार इस प्रबन्ध में ही दिखाया गया है।

७ इस प्रबन्ध में सिद्ध किया गया है कि 'हृदयराम का हनुमन्नाटक' नाम से प्रसिद्ध रचना का वास्तविक नाम 'रामगीत' है।

८ मुख्य अनुवादों का मूल से मिलान करके उनकी ठोस आधार पर विस्तृत परीक्षा पहली बार इस प्रबन्ध में ही की गई है।

९ संस्कृत 'मुद्राराक्षस' के एक अशुद्ध और असंगत पाठ की ओर ध्यान खींचकर उसका शुद्ध और संगत रूप पहली बार इस प्रबन्ध में ही सुझाया गया है। 'शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः' प्रचलित पाठ है जो सारे नाटक के वस्तु से असंगत है। शुद्ध पाठ होना चाहिए 'शिखां मोक्तुं मुक्तामपि पुनरयं धावति करः'।[1]

१० अनुवादों का सांस्कृतिक और काव्यात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने की दिशा सबसे पहले इस शोध प्रबन्ध में ही दिखाई गई है। हमारे लिए सांस्कृतिक दृष्टि और काव्य-चेतना की दृष्टि से भी ये अनुवाद बड़ा महत्त्व रखते हैं।

○ ○ ○

१ मुद्राराक्षस, अंक ३, श्लोक ६

परिशिष्ट

प्रबन्ध मे उद्धृत रचनाए और ग्रन्थ

हिन्दी

शकुतला—(कालिदास), अनु० वागीश्वर विद्यालकार राजपाल एण्ड सज दिल्ली, १९६१।

उत्तररामचरित—(भवभूति), अनु० इन्द्र एम० ए०, राजपाल एण्ड सज दिल्ली, १९५७।

मृच्छकटिक भाषा—(शूद्रक) अनु० लाला सीताराम बी० ए० नेशनल प्रेस प्रयाग, १९२७। (पाचवा सस्करण)

चाणक्यप्रतिज्ञा—कलाशनाथ भटनागर भारतीय गौरव ग्रथमाला, लखनऊ सवत् २००८।

शकुन्तला नाटक—(कालिदास), अनु० राजा लक्ष्मणसिंह, साहित्यरत्न भडार आगरा, सवत् २०११। (सप्तम सस्करण)

मालतीमाधव भाषा—(भवभूति) अनु० लाला सीताराम, नेशनल प्रेस, प्रयाग, १९२९। (तीसरा सस्करण)

वेणीसहार—(भट्टनारायण), अनु० हरदयालुसिंह इडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, १९३९।

प्रतिमानाटक—(भास), अनु० बलदेव शास्त्री न्यायतीर्थ मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास (लाहौर) सवत् १९९१।

मुद्राराक्षस—(विशाखदत्त), अनु० बलदेव शास्त्री, न्यायतीर्थ एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली लाहौर, १९६६।

त्रिवेणी—(भास—मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य ऊरुभग) अनु० बलदेव शास्त्री, भारतीय साहित्य मदिर, चान्दनी चौक, दिल्ली।

भास के तीन नाटक—(भास—कर्णभार दूतवाक्य मध्यमव्यायोग), अनु० हरदयालुसिंह; हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सवत २००३ वि०।

स्वप्नवासवदत्ता—(भास), अनु० हरदयालुसिंह हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००३ वि०।

स्वप्नवासवदत्ता—(भास), अनु० सत्यजीवन वर्मा, एम० ए०, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३०।

प्रबोधचन्द्रोदय—(कृष्ण मिश्र) अनु० महेशचन्द्र प्रसाद, प्रकाशक—महेशचन्द्र-प्रसाद, पटना १९३५।

मृच्छकटिक अथवा मिट्टी की गाड़ी—(शूद्रक) अनु० रांगेय राघव, राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, १९५७।

स्वप्नवासवदत्ता—(भास), अनु० भगवतशरण उपाध्याय, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली १९५८। (द्वितीय संस्करण)

कविश्री भास—(भास—मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच), अनु० सियारामशरण गुप्त मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी, २०१२ वि०।

मालविकाग्निमित्र नाटक—(कालिदास), अनु० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, दी इंटरनेशनल पब्लिशिंग कम्पनी बनारस १९८४।

नागानन्द—(हर्ष) अनु० गंगाधर इन्दूरकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००३ वि०।

प्रियदर्शिका—(हर्ष) अनु० गंगाधर इन्दूरकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००३ वि०।

रत्नावली—(हर्ष) अनु० गंगाधर इन्दूरकर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००३ वि०।

अभिज्ञानशाकुन्तल—(कालिदास), अनु० इन्दुशेखर आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५८।

मालविकाग्निमित्र भाषा—(कालिदास), अनु० लाला सीताराम, रामनारायण लाल एण्ड सन्ज़ इलाहाबाद १८९८।

कुन्दमाला—(दिङ्नाग), सत्येन्द्र शरत् नीलाभ प्रकाशन गृह इलाहाबाद, १९५०।

हिन्दी शकुन्तला नाटक—(कालिदास) अनु० बलदेव शास्त्री मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली २००६ वि०। (तृतीयावृत्ति)

कुन्दमाला—(दिङ्नाग) अनु० वागीश्वर विद्यालंकार, विश्वसाहित्य ग्रन्थमाला लाहौर १९३७। (द्वितीय संस्करण)

अभिज्ञानशाकुन्तल—(कालिदास), अनु० विराज राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, १९६२। (चतुर्थ संस्करण)

मालतीमाधव नाटक—(भवभूति) अनु० सत्यनारायण कविरत्न, रत्नाश्रम, आगरा १९८७ वि०। (चतुर्थ बार)

वेणीसंहार—(भट्टनारायण) अनु० बलदेव शास्त्री रेनबो बुक कम्पनी, दिल्ली सभवन १९३२।

उत्तररामचरित नाटक—(भवभूति), अनु० सत्यनारायण कविरत्न, रत्नाश्रम, आगरा, १९८९ वि० (चतुर्थ बार)

मुद्राराक्षस—(विशाखदत्त), अनु० रांगेय राघव, राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली, १९६०। (द्वितीय संस्करण)
महाकवि भास के तीन नाटक—(भास), अनु० सीताराम सहगल, मङ्गल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९४६।
भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग)—धनंजय विजय (कांचनमिश्र) मुद्राराक्षस (विशाखदत्त), सत्यहरिश्चन्द्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), पाखण्ड विडम्बन—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सम्पादक—ब्रजरत्नदास रामनारायण लाल, इलाहाबाद, २००८ वि०। (द्वितीय संस्करण)
भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग)—रत्नावली (हर्ष) पाखण्डविडम्बन (कृष्णमिश्र), कर्पूरमंजरी (राजशेखर) अनु० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सम्पादक ब्रजरत्नदास, रामनारायणलाल इलाहाबाद २०१३ (द्वितीय संस्करण)
सत्यहरिश्चन्द्र—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सम्पादक—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र काशिकेय', नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी २०१८ वि०।
हिन्दी साहित्य का इतिहास—(संक्षिप्त नाम—इतिहास) लेखक रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी पाँचवा संस्करण २००९ वि०।
हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा द्वितीय संस्करण, राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली।
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद चतुर्थ संस्करण भारती भंडार, प्रयाग २०१० वि०।
हिन्दी नाट्य साहित्य—ब्रजरत्नदास हिन्दी साहित्य कुटीर वाराणसी संवत् २०१७।
प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा—डा० (श्रीमती) सरोज अग्रवाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६२ ई०।
प्रबोधचन्द्रोदय नाटक—(प्रथम व द्वितीय भाग), मुकुन्द दुबे, नवल किशोर प्रेस, १८९४।
समयसार-नाटक, बनारसीदास, प्रकाशक—ब्रह्मचारी नन्दलाल दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला भिंड ग्वालियर, विक्रम संवत् २००७।

संस्कृत

अभिज्ञानशाकुन्तलम—कालिदास मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्ज बनारस।
उत्तररामचरितम—भवभूति निर्णयसागर, १९४९।
कर्पूरमंजरी—राजशेखर निर्णयसागर १९४९।
कुन्दमाला—दिङ्नाग भारतीय संस्कृत भवन जालंधर, १९६९।
धनञ्जयविजय—कांचन निर्णयसागर, १९३६।
नागानन्दम—हर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, १९४८।
प्रबोधचन्द्रोदयम्—कृष्ण मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९५४।

भर्तृहरिनिर्वेदम—हरिहरोपाध्याय, निर्णयसागर, १९३६।
भासनाटकचक्रम—भास, सम्पादक—सी० आ० देवधर, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना, १९६२।
मालतीमाधवम—भवभूति निर्णयसागर, १९३६।
मुद्राराक्षसनाटकम—विशाखदत्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५६।
रत्नावलीनाटिका—हर्ष निर्णयसागर, १९३८।
वेणीसंहारम—भट्टनारायण निर्णयसागर, १९४०।
महावीरचरितम—भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५।
मृच्छकटिकम—शूद्रक, निर्णयसागर १९५०।
नाट्यशास्त्रम—भरत गायकवाड ओरिएंटल सीरीज बडौदा, जिल्द १, १९५६।
नाट्यदर्पणम— रामचन्द्र और गुणचन्द्र गायकवाड ओरिएंटल सीरीज, बडौदा, १९५९।
दशरूपकम—धनंजय चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५।
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२।
(हिन्दी)
काव्यप्रकाश —मम्मट चौखम्बा विद्याभवन, बनारस—१, १९५५।
(संस्कृत)
हनुमन्नाटक—प्रकाशक—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई, १९५८।
साहित्यदर्पण —विश्वनाथ कविराज मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९५६।

अंग्रेजी

The Sanskrit Drama A B Keith Oxford University Press, 1959
The Indian Stage Vo II III Hemendra Nath Das Gupta
Published by I K Das Gupta B A
S P Mukherjee Road Calcutta-26
Psychology Robert S Woodworth and Donalp G Marduis
Methew & Co London, 1958
On Translkaion ed Reuber A Brower
Harvard University Press, 1959
Aspects of Translation Published by Secker and Warburg,
London 1958
Bhoja s Srangar Prakash V Raghuvan Published by Punarvasu
7, Shri Krishnapuram Street, Madras 1963

○ ○ ○

अनुक्रमणिका

० ० ०